ॐ तत्सत् श्रीरामकृष्णार्पणमस्तु ।

स्थापकाय च धर्मस्य सर्वधर्मस्वरूपिणे ।

अवतारवरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः ॥

—श्री विवेकानन्द ।

भगवान् श्रीरामकृष्ण परमहंस देव की यह अपार दया और अहैतुकी कृपा है कि उन्होंने अपना अपूर्व और अलौकिक जीवन चरित्र हिन्दी भाषी पाठकों के समक्ष रखने में मुझे निमित्त बनाया ।

स्वयं सिद्ध सब काज, नाथ मोहिं आदर दियेउ ।

अस विचारि महराज, तनुपुलकित हर्षित हिये ॥

मैं किस मुँह से अपने इस सौभाग्य का वर्णन करूं ? इस कलहपूर्ण कलियुगी संसार में सर्वधर्मसमन्वय और विश्वबंधुत्व स्थापित करने वाले, मुक्तहस्त से परमात्मदर्शन का दान देने वाले, साक्षात् श्री भगवान् के उन महामहिम युगावतार की स्तुति मैं कैसे करूं और उनके प्रति किस प्रकार कृतज्ञता प्रकाशित करूं ?

हे भगवन् ! यह तेरा " लीलामृत " चरित्र ही तेरे चरणों में मैं नतमस्तक होकर समर्पण करता हूं ।

दुर्ग: श्रावण शुक्ल १३ संवत् १९९४ विनीत—

द्वारकानाथ

। हरिः ॐ तत्सत् ।

प्राक्कथन

श्रीरामकृष्ण परमहंस का जीवन चरित्र धर्म के व्यवहारिक आचरण का विवरण है। उनका जीवन चरित्र हमें ईश्वर को अपने सामने प्रत्यक्ष देखने की शक्ति देता है। उनके चरित्र को पढ़ने वाला मनुष्य इस निश्चय को प्राप्त किये बिना नहीं रह सकता कि केवल ईश्वर ही सत्य है और शेष सब मिथ्या—भ्रम—है। श्रीरामकृष्ण ईश्वरत्व की सजीव मूर्ति थे। उनके वाक्य किसी निरे विद्वान् (कोरे विद्यावान्) के ही कथन नहीं हैं वरन् वे उनके जीवन-ग्रन्थ के पृष्ठ हैं। उन वाक्यों के द्वारा उन्होंने स्वयं अपने ही अनुभवों को प्रकट किया है। इसी कारण उनका जो प्रभाव पाठक के हृदय पर पड़ता है उसे वह रोक नहीं सकता। इस संदेहवादी युग में श्रीरामकृष्ण सजीव और प्रज्वलित धार्मिक विश्वास के प्रत्यक्ष उदाहरण-स्वरूप हैं। इसी उदाहरण के कारण ऐसे सहस्रों स्त्री पुरुषों की आत्मा को शान्ति प्राप्त हुई है कि जिन्हें अन्यथा आध्यात्मिक प्रकाश से वंचित रहना पड़ता। श्रीरामकृष्ण का चरित्र अहिंसा का पदार्थ पाठ है। उनका अपार प्रेम किसी भौगोलिक या अन्य सीमा के भीतर परिमित या आबद्ध नहीं था। मेरी यही प्रार्थना है कि उनका दिव्य प्रेम इस जीवन चरित्र के सभी पाठकों को अन्तःस्फूर्ति देवे।

साबरमती,
मार्गशीर्ष कृष्ण १
विक्रम संवत् १९८१

मो. क. गान्धी

श्रीमन् स्वामी शिवानंद

प्रकाशक का वक्तव्य

ईश्वर की कृपा से हिन्दी में श्रीरामकृष्ण का यह विस्तृत और प्रमाणिक जीवन चरित्र प्रकाशित हुआ है। यथार्थ में इससे एक चिरकालीन अभाव की पूर्ति होगी।

श्रीरामकृष्ण धर्म की सजीव मूर्ति थे। श्रीरामकृष्ण परमहंस का जीवन चरित्र—महात्मा गांधी के मतानुसार, जैसा उन्होंने अपने 'प्राक्कथन' में स्पष्ट कहा है—" धर्म के व्यवहारिक आचरण का विवरण है।" महात्मा जी और भी कहते हैं—" उनका जीवन चरित्र हमें ईश्वर को अपने सामने प्रत्यक्ष देखने की शक्ति देता है; उनके चरित्र को पढ़नेवाला मनुष्य इस निश्चय को प्राप्त किये बिना नहीं रह सकता कि केवल ईश्वर ही सत्य है और शेष सब मिथ्या—भ्रम—है।" श्रीरामकृष्ण के जीवन में यह अपूर्वता और अद्वितीय गुण तो था ही। साथ ही साथ वे " मेल और बन्धुत्व " (सर्वधर्मसमन्वय और विश्व-बन्धुत्व) के प्रवर्तक ऋषि या आचार्य थे। उनके जीवन में परस्पर विरुद्ध दिखने वाले भावों का अपूर्व या आदर्श संमिश्रण था। रोमाँ रोलाँ (Romain Rolland) ने क्या ही ठीक कहा है—" उस महान् पौर्वात्य उद्धारक रामकृष्ण में मानवजाति के सहस्रों उद्गारों और सहस्रों धर्मपन्थों का अपूर्व मेल या संयोग पाया जाता था।" हमें पूर्ण विश्वास है कि आधुनिक संसार के परस्पर विरोधी स्वार्थ वालों और परस्पर विद्वेषी विभिन्न मतावलम्बियों में एकता और बन्धुत्व का सद्भाव उत्पन्न करने में उस महान् सद्गुरु श्रीरामकृष्ण का जीवन चरित्र एक बड़ी प्रबल और अद्भुत शक्ति का काम देगा।

श्रीरामकृष्ण के जीवन चरित्र के, हिन्दुस्थान की भिन्न २ प्रचलित भाषाओं में कई लेखकों द्वारा, और कुछ विदेशी भाषाओं में भी, भाषान्तर प्रकाशित

हो चुके हैं, पर अब तक हिन्दी में कोई ऐसा जीवन चरित्र नहीं था। अतः हम नम्रतापूर्वक निवेदन कर सकते हैं कि इस ग्रन्थ का प्रकाशन हमारे देश के लिये बड़ा हितकर होगा क्योंकि हिन्दी हमारे देश की राष्ट्रभाषा है। मूल पुस्तक मराठी भाषा में स्वर्गीय श्री. न. रा. परांजपे द्वारा लिखी गई है। उस पुस्तक की सामग्री मुख्यतः श्रीरामकृष्ण के अत्यन्त प्रामाणिक जीवनचरित्र—उन महापुरुष के एक मुख्य शिष्य स्वामी शारदानन्द कृत बंगाली पुस्तक "श्रीरामकृष्ण लीलाप्रसंग" से ली गई है। इसके सिवाय इसमें कई विश्वसनीय अंग्रेज़ी और बंगाली ग्रन्थों और लेखों से भी सहायता ली गई है; उन सब की सूची उस पुस्तक में सम्मिलित है। वे मराठी लेखक बंगाली साहित्य के अच्छे जानकार थे और इसके सिवाय उन्हें अपनी पुस्तक लिखने के लिये कुछ सामग्री परमहंस के लीला-सहचर श्री स्वामी शिवानन्द और श्री स्वामी शारदानन्द—क्रमशः रामकृष्ण मठ और मिशन के भूतपूर्व प्रधान और मन्त्री—से भी मिल गई थी। "श्रीरामकृष्ण कथामृत" नामक महान् बंगाली ग्रन्थ के लेखक श्रीरामकृष्ण के विख्यात गृहस्थ शिष्य "एम" (M—मास्टर महाशय) से मराठी लेखक का घनिष्ट सम्बन्ध रहने के कारण उनके द्वारा भी कुछ सामग्री उन्हें मिल गई थी।

इस ग्रन्थ को हिन्दी भाषा में उल्था करने में श्री. पं. द्वारकानाथ तिवारी ने बहुत दिलचस्पी के साथ परिश्रम किया है और वे अपने कार्य में सफल-प्रयत्न हुए हैं। उन्होंने इस बात की बड़ी सावधानी रखी है कि मूल पुस्तक के भाव और विचार ज्यों के त्यों बने रहें और भाषान्तर यथा सम्भव ठीक २ हो। दुर्ग-निवासी सज्जन श्री. पं. रघुनाथराव डगाँवकर, श्री. लक्ष्मणसिंह देशमुख और श्री. गयंदलाल बनछोर ने बड़ी योग्यतापूर्वक इन्हें सहायता दी है। इन सज्जनों ने बड़ी बारीकी और सावधानी से समग्र पुस्तक का केवल पुनरवलोकन ही नहीं किया है वरन् कई उपयोगी और प्रशंसनीय सूचनाएँ भी दी हैं। इसी शहर के निवासी श्री. निशिकान्त गांगुलि महाशय ने भी इस महत्कार्य के सम्पादन

में सहायता पहुँचाई है। हम पाठकों को आश्वासन देते हैं कि भाषान्तर बहुत सच्चा और विश्वसनीय हुआ है। उसमें मूल ग्रन्थ का यथार्थ भाव बना हुआ है।

हम अपने परम मित्र श्री. पं. द्वारकानाथ जी के कृतज्ञ हैं और उन्हें हृदय से धन्यवाद देते हैं। उन्होंने इस कार्य के द्वारा न केवल हमारी संस्था को बहुत सहायता पहुँचाई है वरन् इस महत्कार्य द्वारा हमारे देश की सर्व साधारण जनता का भी हित किया है। हम अपने अन्य मित्रों–श्री. डगाँवकर, देशमुख, गांगुलि और वनछोर को भी उनके सच्चे सहयोग के लिये धन्यवाद देते हैं। हम महात्मा गांधी के भी कृतज्ञ हैं जिन्होंने अद्वैत–आश्रम मायावती द्वारा प्रकाशित श्रीराम-कृष्ण के जीवन चरित्र में दिये हुए अपने अंग्रेज़ी प्राक्कथन का हिन्दी अनुवाद छापने की अनुमति दे दी।

प्रो. विद्याभास्कर शुक्ल, साइन्स कॉलेज, नागपूर, के भी हम परम कृतज्ञ हैं जिन्होंने इस अनुवाद का प्रुफ संशोधन बड़े परिश्रम से किया है।

पाठकों को यह जानकर खुशी होगी कि इस पुस्तक की बिक्री की कुल आमदनी श्रीरामकृष्ण आश्रम नागपूर के धार्मिक और सेवाकार्यों में ही खर्च की जायगी। सर्व साधारण के सुभीते के लिये पुस्तक का मूल्य यथा सम्भव कम रखा गया है।

आशा है यह पुस्तक पाठकों को प्रिय लगकर अपना उद्देश पूर्ण करने में सफल होगी।

नागपूर,
२१ फरवरी १९३९

—प्रकाशक

श्रीरामकृष्ण परमहंस देव के

जीवनचरित्र का विवरण

प्रथम भाग

१७७५ क्षुदिराम का जन्म।

१७९१ चन्द्रादेवी का जन्म।

१७९९-१८०० क्षुदिराम का चन्द्रादेवी से विवाह।

१८०५-०६ रामकुमार का जन्म।

१८१४ देरेगांव से कामारपुकूर में आगमन।

१८२० रामकुमार का विवाह।

१८२४ क्षुदिराम की रामेश्वर की यात्रा।

१८२६-२७ रामेश्वर का जन्म।

१८३५ क्षुदिराम की गया की यात्रा।

१८३६ फरवरी १७ गदाधर (श्रीरामकृष्ण) का जन्म।

१८४३ क्षुदिराम की मृत्यु।

१८४५ गदाधर का व्रतबंध।

१८४८ रामेश्वर का विवाह।

१८५३ गदाधर का कलकत्ते में आगमन।

१८५५ मई ३१, दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में देवी की प्राणप्रतिष्ठा।

१८५६ श्रीरामकृष्ण का विष्णु मन्दिर में पूजकपदग्रहण।

१८५६ कालीमंत्र दीक्षा-ग्रहण।

१८५७ रामकुमार की मृत्यु।

" हृदय का दक्षिणेश्वर में आगमन।

" श्रीरामकृष्ण का देवीमन्दिर में पूजकपदग्रहण।

" दिव्योन्माद।

" प्रथमदर्शन।

१८५८ हलधारी का दक्षिणेश्वर में आगमन।

१८६० श्रीरामकृष्ण का विवाह। (कामारपुकूर में)

१८६१ राणी रासमणि की मृत्यु।

" भैरवी ब्राह्मणी का दक्षिणेश्वर में आगमन।

१८६१-६३ श्रीरामकृष्ण का तन्त्रसाधन।

१८६४ चन्द्रादेवी का दक्षिणेश्वर में आगमन।

१८६४-६५ जटाधारी का दक्षिणेश्वर में आगमन।

" वात्सल्य और मधुरभाव साधन।

चरित्र के आधारभूत ग्रंथ।

	ग्रंथ	लेखक
१.	श्रीरामकृष्ण लीलाप्रसंग—बाल्यजीवन	स्वामी शारदानन्द जी।
	,, —साधकभाव	
	,, —गुरुभाव (पूर्वार्ध)	
	,, — ,, (उत्तरार्ध)	
	,, —दिव्यभाव और नरेन्द्रनाथ	
२.	श्रीरामकृष्ण देवेर उपदेश ...	... सुरेशचन्द्र दत्त।
३.	श्रीरामकृष्ण परमहंस देवेर जीवनवृत्तान्त	... श्रीरामचन्द्र दत्त।
४.	परमहंस देव	... देवेन्द्रनाथ वसू।
५.	श्रीरामकृष्ण कथामृत (चार भागों में)	... एम्।
६.	स्वामी शिष्य संवाद (दो भागों में) ...	... शरच्चन्द्र चक्रवर्ती।
७.	श्री नागमहाशय	... ,, ,,
८.	Men I have seen ...	... शिवनाथ शास्त्री।

उद्बोधन और प्रबुद्ध भारत मासिक से कुछ लेख।

प्रस्तावना

अवतारवरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः ।

—श्री विवेकानन्द ।

१. श्री भगवान् रामकृष्ण परमहंस देव जैसे पहुँचे हुए अत्यन्त श्रेष्ठ महापुरुष के चरित्र को ठीक २ समझना असम्भव है। जब स्वयं उनके शिष्य श्री विवेकानन्द स्वामी जी कहते हैं कि "उनके चरित्र को मैं भी अच्छी तरह नहीं समझ सका" तव मुझ जैसे मनुष्य के लिये उस चरित्र को लोगों को समझाने का प्रयत्न करना और उसकी प्रस्तावना लिखना कितने दुःसाहस का कार्य है? तथापि श्रीरामकृष्ण की कृपा पर भरोसा रखकर और श्री गोस्वामी तुलसीदास के निम्न लिखित उक्तियों ॥ की ओर दृष्टि करते हुए मैं यह दुःसाहस कर रहा हूं।

---

* मूल मराठी ग्रन्थ की जो प्रस्तावना उस ग्रन्थ के लेखक स्वर्गीय श्री. नरहर रामचन्द्र परांजपे की लिखी हुई थी उस सार गर्भित और उपदेश पूर्ण प्रस्तावना का (कुछ परिवर्तन के साथ) अनुवाद हिन्दी पाठकों के लाभार्थ यहां दिया गया है।

॥ निज निज मति मुनि हरिगुण गावहिं। निगम शेष शिव पार न पावहिं।
तुमहि आदि खग मसक प्रजन्ता। नभ उड़ाहि नहिं पावहिं अन्ता ॥
तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहु कोउ पाव कि थाहा ॥

—उत्तर काण्ड, तुलसीदास कृत रामायण।

२. प्रस्तावना का अर्थ है--ग्रन्थ और उसके विषय के सम्बन्ध में "थोड़े में ही सब बातें" बता देना। ग्रन्थ का संक्षिप्त विवेचन तो यथाक्रम किया ही जायगा। ग्रन्थ का विषय हैं भगवान् श्रीरामकृष्ण। इनके सम्बन्ध में "थोड़े में ही सब कुछ" कहना है तो इतना ही कह सकते हैं कि जिन्होंने पूर्वापर तोयानिधि के अवगाहन करने वाले नगराज के समान, वैदिक और अवैदिक संस्कृति का स्वयं आक्रमण करके शिकागो की सर्व-धर्म-परिषद में वैदिक धर्म का झण्डा फहरा दिया; जिन्होंने कालनिद्रा में मग्न होकर सोते हुए भारत को "उत्तिष्ठत" "जाग्रत" की रण-दुंदुभि-निनाद से खड़बड़ाते हुए जगाकर और पौरुष के महामन्त्र की दीक्षा देकर उसके ध्येय का परिचय उसे करा दिया; जिन्होंने भोगैकनिष्ठ अवैदिक संसार में "त्याग" की मंजुल गीता गाकर उसके विचार में क्रान्ति कर दी, उन्हीं पुण्यश्लोक श्रीमद्विवेकानन्द स्वामी जी के ये सद्गुरु हैं। ताजमहल की सुन्दर और विचित्र शिल्पसमा को देखकर मनुष्य का मन आश्चर्य चकित हो जाता है और मन में तुरन्त यह विचार उठने लगता है कि जिसने ऐसी विशाल कारीगरी की कल्पना की वह मनुष्य कैसा रहा होगा और उसे जानने की उत्सुकता भी उत्पन्न हो जाती है। वही अवस्था यहां भी है। जगत्प्रसिद्ध अखण्डकीर्तिमान यतिश्रेष्ठ स्वामी विवेकानन्द जी जब ऐसे हैं तब उनके ज्ञानदाता गुरु कैसे रहे होंगे ? यह प्रश्न प्रत्येक के मन में सहज ही उठता है।

३. "अवतार वरिष्ठाय रामकृष्णाय" को पढ़कर सम्भव है यह मालूम हो कि अपने सद्गुरू के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्द जी ने भक्ति के आवेश में यह उद्गार निकाला है। प्रत्येक सच्छिष्य अपने गुरू के सम्बन्ध में यही कहेगा भी, पर कुछ विचार करने से पता लगेगा कि यह केवल आवेशोद्गार नहीं है; उसमें तो गूढ़ अर्थ है। यदि हम एक ही प्रकार के और बराबर २ मूल्य वाले कुछ हीरों को सामने रखकर उनमें तुलना करने बैठें, तो यह पता लगेगा कि सभी एक से एक बढ़ कर हैं। जाति और मूल्य एक होने पर भी प्रत्येक में

कुछ न कुछ " अपूर्वता " है। कोई वज़न में हलका है तो तेज में उज्ज्वल है, कोई तेज में सौम्य है तो आकृति में सुन्दर है, तो कोई सब प्रकार अलौकिक है—इस प्रकार के भेद दिखाई देंगे। स्वयं अपने विशिष्ट गुणों के कारण सभी अपूर्व होते हैं; परन्तु एक की " अपूर्वता " दूसरे में नहीं रहने के कारण वह उन गुणों में तो दूसरों से ऊँचा ही सिद्ध होता है। वैसे ही यहां भी जानिये। ईश्वर के अनेक अवतार हुए हैं और स्वयं अपनी " अपूर्वता " में प्रत्येक वरिष्ठ है। भगवान् श्रीरामकृष्ण की अपूर्वता किसमें है यह पता लगने पर हमें भी " अवतारवरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः " ही कहना पड़ेगा।

४. यह शिष्ट संमत बात है कि ईश्वर धर्म संस्थापनार्थ पुनः २ अवतार लेता है और उन अवतारों के द्वारा नये धर्मयुग का प्रवर्तन होता है। प्रत्येक अवतार भूतकाल का फलस्वरूप है और भविष्यकाल उसमें बीज रूप से अन्तर्हित रहता है। योग्य मानव क्षेत्र में उस बीज को डालकर भविष्य काल को जन्म देना ही अवतार का कार्य हुआ करता है। अर्थात् यह बीज तत्कालीन जगत के लिये अत्यन्त आवश्यक होता है। आधुनिक काल में मानव जाति किस दिशा की ओर जा रही है इस बात की ओर यदि हम दृष्टि डालें तो यह समझ में आ जायगा कि भविष्य में कैसे धर्मयुग की आवश्यकता है। यदि वही धर्मयुग भगवान् श्रीरामकृष्ण के चरित्र में उतरा हुआ दिखाई देता है, तो उन्हें धर्म संस्थापनार्थ अवतार मानने में कोई हानि नहीं है।

५. मनुष्य की कल्पना जहां तक पहुँच सकती है वहां तक अनन्त विश्वमाला का निरीक्षण करने से दिखाई देता है कि इस परम सुन्दर रचना में सभी छोटे बड़े विश्व परमाणु अपने २ स्थान में स्वतन्त्र होते हुए—इस व्यक्ति स्वातन्त्र्य की रक्षा करने वाले नियमों के कारण स्वतन्त्र रहते हुए भी—आपस में इस तरह बंधे हुए हैं कि वे एक दूसरे के साथ एक जीव होकर, सब मिलकर, एक ही वस्तु बन गये हैं। इसी में इस विश्वरचना का सौन्दर्य है। अल्पज्ञ मनुष्य प्राणी इस

विश्व रहस्य को जान ले और तदनुरूप ही अपने कुटुम्ब की रचना करे इसी में मनुष्य का मनुष्यत्व है। यही उसके ऐहिक कर्तव्य की उत्क्रान्ति सीमा है। यह बात हृद्गत अन्तःस्फूर्ति से आर्य जाति की समझ में आ गई थी और उसी के अनुरूप उसने अपनी संस्कृति को उन्नत बनाया। परन्तु जब नवीन मानव वंश का निर्माण हुआ, उसे नई २ संस्कृतियाँ प्राप्त हुई और उन्हीं संस्कृतियों द्वारा उत्क्रान्त होकर आर्येतर जगत वर्तमान स्थिति में पहुँचा तब कहीं उसे आर्य संस्कृति पर विचार करने की पात्रता प्राप्त हुई और उन्हें इस विश्वव्यापी सत्य का आभास होने लगा। Liberty, Equality, Fraternity, Democracy, Republicanism, Self determination ये सब इसी आभास के ही खेल हैं। क्रमशः इस विश्वरचना का बहुत सा अनुकरण केवल शासन विभाग में तो किया ही गया। यह अमेरिका के संयुक्त राज्य की घटना से दिखाई देता है। धीरे २ अन्य मानव जातियाँ भी उसका अनुसरण करेंगी। जैसे बाह्य व्यवहार में यह कार्य हुआ उसी तरह धर्म क्षेत्र में भी हो और भिन्न २ धर्म अपने तई अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्र बनें और फिर भी वे एक साथ मिलकर संसार भर में एक ही जगद्व्यापी धर्म बन जाँय—यह बात अब मानव जाति के हित की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक हो गई है। संसार के सभी विचार शील पुरुषों को इस बात का निश्चय हो चुका है। सभी धर्म एक ही सद्वस्तु को प्राप्त कराने वाले भिन्न २ मार्ग हैं, इसलिये एक को दूसरे से द्वेष नहीं करना चाहिये, वरन् अपनी २ धर्मकक्षा में रहकर अपनी २ उन्नति करनी चाहिये और अन्य धर्मों के प्रति उदासीन रहना चाहिये—यही बात सर्वत्र बुद्धिमानों के लेख आदि से ध्वनित होने लगी है। और वैसे ही आचरण करने की ओर धीरे २ सभी की प्रवृत्ति होती जा रही है। तथापि उसमें एक कमी यह थी कि सभी ग्रंथों का मंथन करने से भिन्न २ मतों के सम्बन्ध में उपेक्षा उत्पन्न होती थी और आत्मीयता के अभाव के कारण परस्पर प्रेम उत्पन्न होने का मार्ग ही नहीं था। भिन्न २ धर्मवालों को वे अपने २ धर्म में रहते हुए भी, एक दूसरे के सहधर्मी हैं और प्रत्यक्ष एक ही

खान से निकले हुए हैं ऐसी आत्मीयता का अनुभव करने के लिये मार्ग नहीं था।

इस कमी को दूर करने के लिये भगवान् श्रीरामकृष्ण का अवतार हुआ। श्री कालिका देवी के प्रत्यक्ष सहवास में निरंतर रहते हुए उसकी कृपा से पूर्णता का अनुभव करते हुए भी, भिन्न २ धर्मों की नियमानुसार दीक्षा लेकर, उन धर्मों के प्रत्यक्ष आचरण करने की उनकी अत्यद्भुत लीला को देखकर मन उलझन में पड़ जाता है। " इसका क्या मतलब है ? श्री जगदम्बा में ही सब कुछ रहने का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त होने पर भी पुनः यह खटपट किस लिये ? " यह प्रश्न स्वभावतः ही उत्पन्न होता है। इस प्रश्न का संतोष जनक उत्तर किसी तरह नहीं मिलता है; परन्तु इसी में तो उनके अवतार की अपूर्वता है। श्रीरामकृष्ण का चरित्र—अतः उनका सम्प्रदाय—संसार के भावी धर्म का सूत्रमय अवतार ही है। भविष्य में केवल उसका विस्तार तथा स्पष्टीकरण होना ही शेष रहेगा। इस सम्प्रदाय में जो कोई आयेंगे वे किसी भी धर्म के हों, पर उन्हें अपनी स्वजाति का ही गुरु सम्प्रदाय प्राप्त हो सकता है, और स्वधर्मीय गुरू के शिष्य होने के नाते से वे आपस में यथार्थ बन्धु होते हैं। भिन्नता में अभिन्नता किस प्रकार होती है इसका उन्हें अनुभव होता है। भगवान् श्रीरामकृष्ण स्वयं वैदिक धर्मी थे। इसलिये वैदिक लोगों का गुरुपन उनके लिये उचित ही था। तत्पश्चात् उन्होंने इस्लामी धर्म की दीक्षा ली; परन्तु उससे उनका वैदिक धर्म नष्ट नहीं हुआ क्योंकि वर्णाश्रम धर्म का यथार्थ पालन करके पांचवी " परमहंस " दीक्षा लेकर उनकी " को विधिः " " को निषेधः " वाली स्थिति उस समय थी। इसलिये उनके मुसलमान होने से उनकी वैदिकता को तो कोई बाधा नहीं पहुँची वरन् मुसलमान शिष्यों को मुसलमान गुरु मिल गया। यही बात ईसाई, बौद्ध आदि धर्मों को भी लागू होती है। थियासॉफी जो बात सिखाना चाहती है पर वैसा करते समय अपना मत दूसरों पर लादकर एक थियासॉफिस्ट मत निर्माण करना चाहती है, वही बात उपरोक्त दोष से बचाते हुए भगवान् श्रीरामकृष्ण ने स्वयं अपने आचरण

द्वारा कर दिखाई और स्वयं अपने विशिष्ट धर्म को नष्ट न कर उन्होंने परस्पर एक दूसरे में भ्रातृभाव का अनुभव कर सकना भी प्रत्यक्ष दिखा दिया। इसी में उनके अवतार की श्रेष्ठता है। उन्होंने सभी धर्मों की—न केवल एकवाक्यता ही वरन् एकता भी सिद्ध कर दी। इस बात को सिद्ध करने के लिये उन्हें हर एक धर्म की लौकिक दीक्षा ही लेना आवश्यक था क्योंकि उसके बिना लोग उन्हें प्रत्यक्ष अपने धर्म का नहीं समझ सकते थे। ईश्वर दर्शन के उपरान्त भिन्न २ धर्मों की प्रत्यक्ष दीक्षा लेकर प्रत्येक धर्म में बताये हुए साधन करने का उन्होंने जो प्रचण्ड प्रयत्न किया उसका इसी दृष्टि से विचार करने पर कुछ अर्थ निकलता है।

६. इस प्रकार भावी मानवधर्म का सूत्रपाठ संसार को सिखाने के लिये श्री नारायण का जो यह अलौकिक चरित्र हुआ उसका यदि हम परिशीलन करें तो उससे हमें क्या उपदेश प्राप्त होता है यह बात हमें स्वयं अपने कल्याण के लिये देखनी चाहिये; और यदि हम उतने का ही यथा शक्ति आचरण कर सकें तो श्रीरामकृष्ण की कृपा से हमारे कृतार्थ होने में क्या देर है?

७. श्रीरामकृष्ण का नियम था कि "प्रत्येक बात में शास्त्र मर्यादा का पालन करना चाहिये।" यह नियम उनके आध्यात्मिक चरित्र में भी पूर्ण रूप से दिखाई देता है। मुमुक्षु, साधक और सिद्ध इसी क्रम से ही उन्होंने सभी लीलाएँ कीं। यह प्रायः सभी मानते हैं कि इस विश्व का संचालक, और नियन्ता कोई ईश्वर होना चाहिये। उन्हें इतने से ही समाधान हो जाता है। पर श्रीराम-कृष्ण को केवल इतने से ही समाधान नहीं हुआ। "यदि ईश्वर है ही तो वह अन्य सब वस्तुओं के समान व्यवहार्य भी होना चाहिये। सगुण सृष्टि के लिये वह अगोचर तो है ही, पर यदि सगुण सृष्टि को वही चलाता है तब तो अन्य सब वस्तुओं के समान परमार्थ वस्तु भी प्रत्यक्ष व्यवहार्य होनी ही चाहिये" ऐसा उन्हें दृढ़ विश्वास होता था। तो फिर उसका इसी प्रकार अनुभव क्यों नहीं होना

चाहिये ? इस प्रकार की अशान्ति या व्याकुलता उनके चित्त में उत्पन्न हुई और वही उनकी मुमुक्षु दशा है। इसी एक व्याकुलता के ही कारण वे साधन चतुष्टय-सम्पन्न हुए, और गीता में बताये हुए उन्हें बुद्धियोग का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त हुआ और उनके साधक-भाव का आरम्भ हुआ। उनकी सिद्धावस्था का अनुकरण नहीं किया जा सकता। हम सामान्य जीवों को उसके सम्बन्ध में विचार करने की आवश्यकता भी नहीं है। पर उनके मुमुक्षु और साधकभाव हमारे लिये शिक्षाप्रद हैं: अतः उनके इन भावों से हमें क्या सीखना चाहिये यही देखें। केवल "ईश्वर है" ऐसा बौद्धिक समाधान न मानकर वह व्यवहार्य कैसे बन सकता है, इसका विचार प्रत्येक को करना चाहिये—यही उनकी मुमुक्षु दशा की शिक्षा है।

८. उसके लिये उन्होंने स्वयं जो अनेक साधन किये, रोमांच उत्पन्न करने वाली जो उग्र तपस्याएँ कीं और जो अनुभव प्राप्त किये, वे सब हमारे लिये यद्यपि असम्भव हैं तथापि उनके कारण उन्होंने जो निश्चयात्मक तत्व बताये हैं वे अत्यन्त उपयोगी हैं:—

१. ईश्वर है।

२. जो कुछ है और होता है वह सब उसी के करने से होता है। अतः

३. जो २ होता है वही योग्य और हितकर है।

४. इतना जानकर इस भावना को बढ़ाना मनुष्य का कर्तव्य कर्म है।

इन चार तत्वों का निश्चय उन्होंने साधक-अवस्था में किया। और साथ ही साथ उन्होंने यह भी दिखाया कि इस निश्चयबुद्धि से चलने वाले का आचरण धीरे २ विहित मार्ग से विधिपूर्वक ही कैसे होता है। पंगुपन और आलस्य को दूर करने के लिये प्रयत्न को ही प्रारब्ध बना देना, जो गीतोक्त कर्मयोग की कुंजी है—उसे भी उन्होंने स्पष्ट कर दिखाया। कलकत्ते जैसे भोग-

परायण शहर में, जहां पाश्चात्यों का ही अन्धानुकरण मिलता है, रहते हुए भी उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि कामिनी कंचन का त्याग केवल मन द्वारा ही नहीं वरन् प्रत्यक्ष शरीर द्वारा किया जा सकता है; ऊपर बताये हुए बुद्धि का एक बार पक्का निश्चय हो जाने पर मनुष्य को किसी भी परिस्थिति में विघ्न बाधा नहीं हो सकती बल्कि परिस्थिति ही उसके अनुकूल बन जाती है; और दस पांच हजार वर्षों का अनुभव केवल चालीस पचास वर्ष के जीवनकाल में प्राप्त किया जा सकता है। बुद्धि में ज्ञान, अन्तःकरण में भक्ति और शरीर में कालोचित प्रचण्ड कर्मस्फूर्ति—वर्तमान परिवर्तित परिस्थिति में अत्यन्त आवश्यक ऐसे त्रिकाण्ड समुच्चय की शिक्षा उन्होंने दी। दुर्बलता का त्याग करके वीर्यवान् बनने का उपदेश उन्होंने दिया।

९. परन्तु केवल मुँह के कहने से उपरोक्त बुद्धि-निश्चय नहीं हो सकता। बहुधा मनुष्य की धैर्य-शक्ति कम हो जाती है और मोह, विषाद, आपत्ति आदि के चपेटों के कारण दीन बने हुए जीव को यदि कोई सहायता प्राप्त न हुई तो उसका आगे बढ़ना असम्भव हो जाता है। ऐसे समय में ईश्वर को सर्व भार सौंपकर यदि वह अत्यन्त व्याकुलता से उसकी प्रार्थना करे तो उसे ईश्वर की सहायता अवश्य प्राप्त होती है ऐसा उनके साधनकाल के इतिहास से स्पष्ट दिखाई देता है।

१०. इस तरह इस अपूर्व अवतार श्रेष्ठ के चरित्र में भी एक प्रकार की अपूर्वता है। आज तक के साधु सन्तों के चरित्र में यह कमी रहती थी कि उन महापुरुषों के साधनकाल के इतिहास में उन्होंने केवल कौन २ से साधन किये यही नहीं वरन् उस काल में उनकी अन्तःशक्ति का कैसे २ विकास हुआ, उन्हें कौन २ से अनुभव प्राप्त हुए, किन २ अड़चनों का उन्हें सामना करना पड़ा और उन २ प्रसंगों में उन्होंने क्या २ किया इत्यादि का साद्यंत वर्णन नहीं पाया जाता था, क्योंकि सत्पुरुष लोग स्वयं अत्यन्त निरभिमानी होते हैं और उनकी

गम्भीरता भी बहुत रहती है; इसलिये यह वर्णन उनके मुख से होना असम्भव है। परन्तु श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में ऐसा नहीं हुआ। एक ही समय में अनेक भाव उनमें रहते थे और वे भाव अत्यन्त उत्कट हुआ करते थे। यही श्रीरामकृष्ण की विशेषता है जिससे संसार को अपूर्व लाभ हुआ है। उनके चरित्र का बहुत सा अंश ज्यों का त्यों स्वयं उनके ही मुँह से सुनने को मिल सका है। इसीलिये "भैरवी मुझे चैतन्य देव का अवतार समझती थी", "जो राम और कृष्ण हो गया है वही अब रामकृष्ण होकर आया है", "इस तसवीर की पूजा घर २ होगी", "हम सरकारी लोग हैं", "मुझ पर सारा भार सौंप दो" आदि उद्गार उनके मुँह से सहज ही निकल पड़ते थे। पर इससे उन्हें गर्विष्ठ नहीं मानना चाहिये। उनमें जो बालकभाव सदा प्रबल रहता था उसके कारण उनकी गम्भीरता दूर हो जाती थी और प्रसंगवश उनसे बिना बोले नहीं रहा जाता था; और अत्यन्त निरभिमानिता के कारण उनके मुख से ये बातें निकल पड़ती थीं। इस तरह उनका सारा चरित्र—बहुधा सब उनके ही मुख से सहज ही प्रकट हुआ है। "अभिमानी जीव जिस तरह व्यवहार करते हैं ठीक उसी तरह स्वाभाविक रीति से व्यवहार करना" ही निरभिमानिता की सीमा है। इसीलिये अन्य व्यक्तियों के विषय में जैसा बोला जाता है उसी प्रकार अपने विषय में भी उनके मुँह से तिन्हाइत की तरह (पराये के समान) शब्द बाहर निकला करते थे।

११. इस प्रकार उन्होंने जगत के कल्याण के लिये जो चरित्र कर दिखाया और उसे परमकारुणिकता से स्वयं ही स्पष्ट रीति से बताया, वह कितना मनोहर और बोधप्रद होगा यह बताना अनावश्यक है। वर्तमान चरित्र मुख्यतः जिस आधार पर से लिखा गया है वह मूल चरित्र बंगभाषा में है और वह श्रीरामकृष्ण की प्रत्यक्ष सहवास प्राप्ति से धन्य हुए, उनके प्रमुख शिष्यों में से ही एक स्वामी शारदानंद जी के द्वारा अत्यन्त परिश्रमपूर्वक लिखा हुआ है। यह मूलचरित्र ५ भागों में है और उसमें श्रीरामकृष्ण की अन्तिम बीमारी तक का वृत्तान्त है।

उसके बाद के आठ महीनों का वृत्तान्त, उनकी बीमारी का हाल लिखना अभी तक शेष है। मराठी चरित्र में (जिसका यह पुस्तक अनुवाद है) यह वृत्तान्त संक्षिप्तरूप से श्रीरामचन्द्र दत्त कृत श्रीरामकृष्ण चरित्र और "म." के कथामृत से लिया गया है। इसी तरह श्री शारदानंद जी कृत जीवन चरित्र में जो बातें नहीं आई हैं वे अन्य पुस्तकों से ली गई हैं। (आधारभूत पुस्तकों की सूची देखिये) तथापि ऐसी बातें बहुत कम हैं और इस (मराठी) जीवन चरित्र का पूर्ण आधार श्री शारदानंद जी कृत चरित्र ही है। इस चरित्र में स्थान २ पर जो शास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन मिलता है उससे पाठकों को श्री शारदानन्द जी के अधिकार की महत्ता विदित हो जायगी। स्वामी शारदानन्द जी के चरित्र की भाषा अत्यन्त मनोहर है। उनकी भाषा का प्रवाह, किसी अगाध नदी के शान्त, धीर, गम्भीर प्रवाह के समान पाठक के मन को तल्लीन कर देता है। प्रथम तो श्रीरामकृष्ण का चरित्र ही अत्यन्त अद्भुत और रमणीय है; उसमें फिर स्वामी जी की निन्तात सुन्दर भाषा का और विषय प्रतिपादन की कुशलता का संयोग हो गया है। फिर क्या पूछना है? इस त्रिवेणी संगम में मज्जन करके पाठक अपनी देह की भी सुधि भूल जाते हैं। यह जीवन चरित्र पाठकों को कैसा रुचेगा सो कहा नहीं जा सकता तथापि इसे पढ़कर यदि पाठकों का ध्यान श्रीरामकृष्ण के उदार चरित्र की ओर आकृष्ट हो सका तो मैं अपने परिश्रम को सार्थक मानूंगा।

इस चरित्र में स्थान २ पर "हम बोले", "हमें उन्होंने बताया" आदि वाक्यों में "हम" शब्द मूल बंगला ग्रन्थकार का है। "हम" शब्द का उपयोग उन्होंने श्रीरामकृष्ण के शिष्यों के लिये किया है।

१२. "तन्त्रशास्त्र की कुछ जानकारी" नाम के शीर्षक वाले २४ वे प्रकरण के मूल मराठी लेखक उस शास्त्र के जानने वाले विद्वान् और विद्या व्यासंगी सब जज श्री. दादासाहब पराण्डे हैं, उन्होंने मराठी पुस्तक के लिये यह प्रकरण मराठी ग्रन्थकर्ता के अनुरोध करने पर लिखा था। उस प्रकरण में उन्होंने

तन्त्र शास्त्र जैसे कठिन विषय का जो सरल परिचय कराया है उसके लिये हम सब कृतज्ञ हैं।

१२. इस प्रकार—(१) सब धर्म एक ही ध्येय की ओर पहुँचने के भिन्न २ मार्ग हैं। (२) ईश्वर, मंगल ग्रह के समुद्र के समान, केवल अनुमान करने की वस्तु नहीं है; वह तो अन्य वस्तुओं के समान इन्द्रियों-द्वारा और इन्द्रियातीतों के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव करने की वस्तु है। (३) आर्यसंस्कृति का क्या अर्थ है; मनुष्य के मन के सभी विरोधी भावों का सुन्दर समन्वय ही केवल, आर्यसंस्कृति कर सकती है और (४) किसी भी कल्पना को केवल कल्पना ही में न रखकर मन, वाणी और शरीर से भी उसका अनुष्ठान करना चाहिये—इसी में साधक के यश का बीज है--इसी चतुर्वर्ग चिन्तामणि को संसार को देने के लिये प्रकट की हुई श्री भगवान् की लीला पाठकों के सामने रखी जाती है। यह तो भगवान् के अत्यन्त समर्थ अवतार का चरित्र है! वह बड़ा ही अमोघ है। जिसके २ कान में वह पहुँचेगा उसका २ वह कुछ न कुछ कल्याण करेगा ही। इसमें मुझे तो कोई शंका ही नहीं होती। इतना कल्याणप्रद विषय प्राप्त होने के कारण मैं स्वयं अपने को बड़ा भाग्यवान समझता हूं, और सब प्रकार से दीन हीन इस वैदिक राष्ट्र के लिये और उसके अंगस्वरूप स्वयं मेरे लिये भी निम्न लिखित प्रार्थना करते हुए इस पुण्य स्मरण के कार्य से विश्राम लेता हूं।

सर्वेऽपि सुखिनः संतु सर्वे संतु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात् ॥

अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग।

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

१. प्रेमयोग (सचित्र) कीमत ८ आना।

२. प्राच्य और पाश्चात्य (सचित्र) कीमत ८ आना।

३. परिव्राजक (भ्रमण वृत्तान्त)- कीमत ६ आना।

४. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (सचित्र) कीमत ८ आना।

मराठी विभाग।

१. भगवान् श्रीरामकृष्ण देव का विशद चरित्र-न. रा. परांजपे कृत तथा महात्मा गांधी की लिखी हुई भूमिका सहित, सचित्र, प्रथम भाग ३४७ पृष्ठ, द्वितीय भाग ३६२ पृष्ठ, कीमत १।।।) प्रत्येक भाग।

२. श्रीरामकृष्ण वाक्सुधा-स्वामी ब्रह्मानन्द कृत, सचित्र, की. ५ आना।

३. भगवान् श्रीरामकृष्ण देव का संक्षिप्त चरित्र-स. भ. ठोम्बरे, एम्. ए. कृत. सचित्र, कीमत १ आना ६ पा.

४. शिकागो वक्तृता-स्वामी विवेकानन्द कृत, सचित्र, कीमत ४ आना।

५. मेरे गुरुदेव-स्वामी विवेकानन्द कृत, सचित्र, कीमत ४ आना।

६. साधु नागमहाशय चरित्र (श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख शिष्य)-श्री. वा. सोमण कृत, सचित्र, कीमत ६ आना।

यहां पर निम्न लिखित भी प्राप्य हैं:- श्रीरामकृष्ण मिशन के अन्य अंग्रेज़ी प्रकाशन, श्रीरामकृष्ण, पवित्र पावन मातेश्वरी (श्रीरामकृष्ण की धर्मपत्नी), स्वामी विवेकानन्द और अन्यों की सुन्दर रंगीत तसवीरें।

श्रीरामकृष्ण आश्रम,
धन्तोली, नागपूर, (सी. पी.)

अनुक्रमणिका

श्रीरामकृष्ण परमहंस देव

श्री गणेशाय नमः

श्रीरामकृष्ण लीलामृत ।

—१—भूमिका ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ गीता. ४ । ७ ॥
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ गीता. ४ । ८ ॥

" जो राम, जो कृष्ण (था), वही अब रामकृष्ण (हुआ है) ।

—श्रीरामकृष्ण ।

हर कोई देख सकता है कि विद्या, सम्पत्ति और उद्योग द्वारा मानव-जीवन, आजकल कितना उन्नत हो गया है । किसी एक विशिष्ट परिस्थिति में ही आबद्ध रहना अब मनुष्य प्रकृति के लिये मानों असह्य हो गया है । पृथ्वी और पानी पर अव्याहत गति प्राप्त करके ही उसे संतोष नहीं है । अब तो वह आकाश को भी अधिकृत करने का प्रयत्न कर रही है । अपनी जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिये उसने अंधकारमय समुद्रतल में और भीषण ज्वालामुखी पर्वतों में भी प्रवेश करने का साहस किया है । सदा हिमाच्छादित पर्वत पर और भूपृष्ठ पर विचरण करके वहां के चमत्कारों का अवलोकन किया है । पृथ्वी पर के छोटे मोटे सभी पदार्थों के गुणधर्म जानने के लिये दीर्घ प्रयत्न करके लता औषधि वृक्ष इत्यादिकों

में भी अपने ही समान प्राणस्पंदन होने का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है। इन सब विषयों का यथार्थ बोध प्राप्त करने के लिये नाना प्रकार के अद्भुत यंत्रों का भी आविष्कार किया है। उसने पृथ्वी, आप, तेज इत्यादि पंचभूतों पर आधिपत्य प्राप्त किया। पृथ्वी संबंधी अनेक विषयों का ज्ञान संपादन किया पर इनसे तृप्त न होकर सुदूर आकाशस्थित ग्रह नक्षत्रों की ओर अपनी तीक्ष्ण दृष्टि दौड़ाई और उनके भी समाचार प्राप्त करने में बहुतेरी सफलता प्राप्त की। ये हुई स्थूल सृष्टि की बातें। सूक्ष्म सृष्टि का ज्ञान सम्पादन करने में भी मनुष्य-जाति ने वैसा ही अपार परिश्रम किया है। जीवन के रहस्यों का अनुशीलन करके उसने उत्क्रांति तत्व का शोध किया है। शरीर और मन के सूक्ष्म गुणधर्मों को समझा है। स्थूल जगत के ही समान सूक्ष्म जगत के व्यापार भी किसी अचिन्त्य नियम सूत्र से बंधे हुए हैं यह भी उसने देख लिया है और मनुष्य की आकलन-शक्ति से परे भी कई घटनाएँ हो सकती हैं इस बात पर उसे विश्वास होने लगा है।

यद्यपि पूर्वोक्त उन्नति और इस शक्ति का, उदय पाश्चात्य देशों में ही हुआ है, तथापि उनका प्रसार भारतवर्ष इत्यादि पूर्वी देशों में भी कुछ कम नहीं हुआ है। प्राच्य और पाश्चात्य देशों का संबंध जैसे २ अधिक हो रहा है वैसे २ प्राचीन प्राच्य जीवन-विधी भी परिवर्तित हो रही है और वह पाश्चात्यों के सांचे में ढल रही है। चीन, जापान, भारतवर्ष इत्यादि देशों की वर्तमान स्थिति देखने से इस सिद्धान्त की सत्यता प्रतीत होती है। इसका परिणाम भविष्य में भले ही कुछ भी हो पर पौर्वात्य देशों पर पश्चिमी विचारों का प्रभाव दिनोंदिन अधिक पड़ता जा रहा है और समय पाकर यह प्रभाव पृथ्वी के सभी देशों पर पड़ेगा इस में कोई संदेह दिखाई नहीं देता।

भारतवर्ष और अन्य सब देशों के भाव, विचार, कल्पना इत्यादि के तुलनात्मक विवेचन करने से यह दिखता है कि ईश्वर, आत्मा, परलोक इत्यादि इन्द्रियातीत वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना ही अत्यन्त प्राचीन काल से भारतवर्ष ने अपना ध्येय निश्चित कर रखा है। और इस प्रकार का साक्षात्कार और ज्ञानप्राप्ति ही किसी भी व्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य समझा जाता है। भारतवर्ष के सभी आचार विचारों के मूल में यही उच्च आध्यात्मिक ध्येय दिखाई देता है। पर दूसरे देशों का लक्ष्य ऐहिक सुखोपभोग की ओर पाया जाता है।

यद्यपि पाश्चात्यों ने पंचेन्द्रियों के अनुभव के प्रमाण द्वारा जड़ विज्ञान की बहुतेरी उन्नति की है, तथापि उपरोक्त प्रमाणपद्धति उन्हें आत्मविज्ञान के संबंध में कोई भी मार्ग नहीं दिखला पाई—कारण कि संयम, स्वार्थहीनता और अंतर्मुख वृत्ति ही आत्मविज्ञान का मार्ग है और मन का संयम या निरोध ही आत्मोपलब्धि का साधन है। बहिर्मुख पाश्चात्य लोग आत्मविज्ञान का मार्ग बिल्कुल भूल कर उत्तरोत्तर देहात्मवादी और नास्तिक बन गये हैं इसमें आश्चर्य ही नहीं। ऐहिक सुखोपभोग ही उनका जीवनसर्वस्व बन गया और इसीलिये उनके सभी प्रयत्न उसी की प्राप्ति के लिये हुआ करते हैं। जड़ विज्ञान के द्वारा उन्होंने पदार्थों का जो ज्ञान प्राप्त किया उसका उपयोग मुख्यतः भोग सुख की प्राप्ति के लिये ही करने के कारण वे दिनोंदिन अधिक दांभिक और स्वार्थ-परायण हो चले हैं। पाश्चात्य समाज में धनी और गरीब होने के तत्त्व पर बना हुआ जाति विभाग, उनके आविष्कृत तोप बंदूक इत्यादि भयानक यंत्र, एक ओर अटूट सम्पत्ति और साथ ही साथ दूसरी ओर अपार दारिद्र्य और असंतोष का अस्तित्व, भयंकर धनतृष्णा तथा तज्जन्य परदेश हरण और पर जाति पीड़न ये सब उसी भोग सुख लालसा के परिणाम हैं। यह भी दिखाई देता है कि उनके अपार भोग सुख प्राप्त कर लेने पर भी पाश्चात्यों के मन में किंचित् शान्ति नहीं आती और मृत्यु के बाद के जीवन पर जैसे तैसे विश्वास करते हुए उन्हें सुख नाम को भी नहीं मिलता। अधिकाधिक शोध करते २ पाश्चात्यों की समझ में अब कहीं यह बात आने लगी है कि पंचेन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा देशकालातीत तत्त्व का पता कभी भी नहीं लग सकता। विज्ञान अधिक से अधिक उस तत्त्व का आभास मात्र करा देगा; उसका यथार्थ ज्ञानलाभ कराना विज्ञान की शक्ति के बाहर की बात है। अतः जिस देवता की कृपा से आजतक पाश्चात्य अपने को शक्तिमान् समझते थे और जिसके प्रसाद से उन्हें इतनी धन सम्पदा मिली थी उसीके आसन को डगमगाते देख उनकी मानसिक अशान्ति अब और अधिक बढ़ रही है।

उक्त विवेचन द्वारा यह सिद्ध होता है कि पाश्चात्यों के जीवन के मूल में विषयलोलुपता, स्वार्थपरता और धर्मविश्वासहीनता ही है। इसी कारण जो पाश्चात्यों के समान उन्नति करना चाहते हैं उन्हें स्वभावतः या जानबूझ कर

उन्हीं के समान बनना पड़ेगा। और इसी कारण ऐसा दिखता भी है कि जापान इत्यादि जिन प्राच्य देशों ने पाश्चात्यों के अनुकरण का क्रम चलाया उनमें स्वजाति और स्वदेश प्रीति के साथ २ पाश्चात्यों के उपरोक्त दोष भी आ चले हैं। पाश्चात्यों के अनुकरण करने में यही भारी दोष है। उन्हीं के संसर्ग से हमारे भारतवर्ष में भी जो भावनाएँ प्रविष्ट हो रही हैं उन पर विचार करने से उपरोक्त सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है।

भारतवासियों का जीवन धार्मिक मूल पर प्रतिष्ठित होने के कारण उनकी संस्कृति एक अपूर्व और निराली सामग्री से निर्मित हुई है। संक्षेप में कहा जाय तो संयम ही उस संस्कृति का प्राण है। व्यक्ति और समाज, दोनों ही, अपना जीवन संयम की सहायता से नियमित बनावें यही भारतवर्ष के शास्त्रों की आज्ञा थी। " त्याग के लिये ही भोगों का ग्रहण और परलोक के लिये ही इहलोक का जीवन " इन बातों का सभी को सभी अवस्थाओं में स्मरण कराते हुए व्यक्ति और समाज का ध्यान शास्त्रों ने इस उच्च ध्येय की ओर आकर्षित कर रखा था। पाश्चात्यों के संसर्ग से इस भावना में कितना अन्तर हो गया यह कोई भी देख सकता है। भारतवर्ष के पूर्व परम्परागत संस्कारों और आचार विचारों में भी अद्भुत क्रांति हो गई है। भारतवर्ष ने अपने पुराने त्याग और संयम प्रधान जीवन को छोड़कर भोग प्रधान जीवन को स्वीकार कर लिया है। इससे उसकी पुरानी संस्कृति और शिक्षा का लोप हो गया और उसमें नास्तिकता, परानुकरण प्रियता और आत्मविश्वासहीनता का उदय हो गया और वह कोल्हू में पेरे हुए सांटे की छोही के सदृश निःसत्त्व बन गया। भारतवर्ष को ऐसा प्रतीत होने लगा कि इतने दिनों तक उसने अपना आयुष्य जिस प्रकार व्यतीत किया वह केवल भ्रमात्मक था और विज्ञान के सहारे उन्नति करने वाले पाश्चात्यों का हमारे पूर्व परम्परागत संस्कारों और आचार विचारों को जंगली कहना गलत नहीं है। भोग-लालसा से मुग्ध होकर भारत अपना पूर्व इतिहास और पूर्व गौरव भूल गया। इस स्मृतिभ्रंश से भारत का बुद्धिनाश हो गया। और इस बुद्धिनाश ने भारत के अस्तित्व के लोप होने की नौबत ला दी। इसके सिवाय ऐहिक भोगों की प्राप्ति के लिये उसे अब परमुखापेक्षी होना पड़ता है। अतः उसे भोग प्राप्ति भी उत्तरोत्तर

कठिन होने लगी। इस तरह दूसरों की नकल करने के कारण योग और भोग दोनों मार्गों से भ्रष्ट होकर कर्णधार के विना वायु के वेग में पड़ी हुई नौका के समान भोगाभिलाषी भारतवर्ष इतस्ततः भटकने लगा।

इस तरह पाश्चात्यों के साथ २ उनकी धर्मग्लानि का प्रवेश भी इस भारत देश में हुआ। जब २ काल के प्रभाव से सनातन धर्म की ग्लानि हुआ करती है, और जब माया के अनिर्वचनीय प्रभाव से मुग्ध होकर मनुष्य ऐहिक सुख लाभ को ही सर्वस्व समझने लगता है, और अपने जीवन का उसी में अपव्यय करने लगता है, और आत्मा, ईश्वर, मुक्ति इत्यादि सभी अतीन्द्रिय पदार्थ मिथ्या हैं और किसी भ्रमान्ध युग के स्वप्न-राज्य की कल्पनाएँ हैं ऐसा सोचने लगता है; ऐहिक संपत्ति और इन्द्रियसुखों का नाना प्रकार से उपभोग करने पर भी जब उसे शान्ति नहीं मिलती, और जब वह अशान्ति की वेदनाओं से हाहाकार करने लगता है तब श्रीभगवान् अपनी महिमा से सनातन धर्म का उद्धार करने के के लिये अवतार लेते हैं और दुर्वल मनुष्यों पर कृपा करके उनका हाथ पकड़ कर उन्हें धर्म के मार्ग में प्रतिष्ठित करते हैं।

यथार्थ में यह धर्मग्लानि सारे संसार में कितनी प्रबल हो गई है यह देख-कर मन स्तब्ध हो जाता है। यदि धर्म नाम की कोई यथार्थ वस्तु है और विधि के नियमों के अनुसार मनुष्य प्राणी उसे प्राप्त कर सकता है, तो कहना होगा कि आधुनिक भोगपरायण मानव जीवन उस वस्तु (धर्म) से अत्यन्त ही दूर है।

विज्ञान की सहायता से अनेक प्रकार के ऐहिक सुखों की प्राप्ति करने में सफल होने पर भी मनुष्य के मन को शान्ति नहीं मिली है उसका कारण वही धर्मग्लानि है। इस धर्मग्लानि का प्रतिकार कौन करेगा?

गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने आश्वासन दिया है कि संसार में जब २ धर्म की ग्लानि होती है तब २ अपनी माया की शक्ति का अवलंबन करके मैं शरीर धारण करता हूं और उस ग्लानि को दूर कर मनुष्य को पुनः शांति सुख का अधिकारी बनाता हूं। ऐसे अवतारों के चरण अपने वक्षःस्थल पर धारण कर

यह भारतभूमि आज तक अनेक बार धन्य हुई है। युग प्रयोजन की उपस्थिति होने पर ऐसे अमित गुणसंपन्न अवतारी पुरुषों का शुभागमन भारतवर्ष में अभी तक होते हुए दिख पड़ता है। सिर्फ़ ४०० वर्ष पूर्व श्रीकृष्ण चैतन्य भारती द्वारा प्रचारित श्रीहरि के अपूर्व नाम संकीर्तन से भारतवर्ष के उन्मत्त प्राय होने की वार्ता जगत में प्रसिद्ध ही है। अभी भी क्या वैसा समय आ गया था? सारे संसार द्वारा तुच्छ माने हुए नष्ट गौरव और दरिद्र पुरातन भारतवर्ष में अब क्या पुनः युग प्रयोजन उपस्थित हो गया था और परम करुणामय श्री भगवान् को सनातन–धर्म रक्षणार्थ पुनः अवतार लेना आवश्यक हो गया था? पाठकगण! जिस अशेष कल्याणसम्पन्न महापुरुष की कथा हम आप को सुना रहे हैं उसे आद्योपांत सुन लेने पर आप को निश्चय हो जावेगा कि यथार्थ में ऐसा ही हुआ था। श्रीराम, श्रीकृष्ण इत्यादि रूप से पूर्व युगों में अवतीर्ण होकर सनातनधर्म की संस्थापना जिन्हों ने की थी उन्हीं के चरणरज युग प्रयोजन सिद्ध करने के लिये भारतवर्ष पर पुनः एक बार लगने से यह पुरातन भारतवर्ष सचमुच धन्य हो गया है।

"जितने मत उतने पथ," "अंतःकरण पूर्वक किसी भी पंथ का अनुष्ठान करो, तुम्हें श्रीभगवान् की प्राप्ति अवश्य होगी।" उनके इन पवित्र आशीर्वचनों को श्रद्धालु अन्तःकरण से श्रवण कीजिए।

पाठक वृन्द! चलिये, परा विद्या को इस संसार में पुनः लाने के लिये उन्हों ने जो अलौकिक स्वार्थत्याग और तपस्या की उसको मनन करें और उनके कामगंधहीन पुण्य चरित्र की यथाशक्ति आलोचना और ध्यान करके आप और हम दोनों पवित्र बनें।।

२—कामारपुकूर और माता-पिता।

"जब मेरे पिता रास्ते से जाते थे तब आसपास के लोक जल्दी २ उठकर खड़े हो जाते थे और आदरपूर्वक कहा करते थे 'देखो वे आ रहे हैं!"

"जब वे तालाब में स्नान करते थे तो उनका स्नान समाप्त होते तक कोई भी दूसरा मनुष्य तालाब में नहीं उतरता था!"

"ईश्वर का नामस्मरण करते समय उनका वक्षःस्थल आरक्त हो जाता था!"

"गांव के लोग ऋषि के समान उनका आदर करते थे!"

—श्रीरामकृष्ण।

ईश्वर का अवतार मानकर जिन महापुरुषों की पूजा संसार आजतक करता आ रहा है उनमें से श्री भगवान् रामचन्द्र और भगवान् बुद्ध को छोड़ बाकी सभी के ऐहिक जीवन का आरंभ दुःख-दारिद्र्य, सांसारिक अभाव और संकट विपत्ति में ही हुआ है। उदाहरणार्थ क्षत्रिय कुल दीपक भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म कारागार में हुआ और उन्हें अपना बाल्यकाल स्वजनों से विलग होकर गाय चराने वाले गोपों के बीच बिताना पड़ा। श्रीभगवान् ईसा मसीह का जन्म दरिद्री माता पिता की कुक्षि में एक धर्मशाला के कोठे में हुआ। श्री भगवान् शंकराचार्य का जन्म एक दरिद्री विधवा के उदर से हुआ। भगवान् श्रीकृष्ण चैतन्य का जन्म भी अतिसामान्य दरिद्री के घर में ही हुआ था। इस्लाम धर्मप्रवर्तक हजरत महम्मद के जन्म की भी यही अवस्था है। तथापि

जिस दुःख दारिद्र्य में संतोषजन्य शांति नहीं है, जिस सांसारिक अभाव में निःस्वार्थ प्रेम नहीं है, जिन दरिद्र मातापिता के हृदय में त्याग, पवित्रता, कोमलता और दया नहीं हैं ऐसे स्थानों में महापुरुषों का जन्म होते कभी नहीं दिखाई दिया।

विचार करने से अवतारी पुरुषों के दरिद्र गृह में जन्म लेने और उनके भावी जीवन से एक प्रकार का गूढ़ संबंध दिखाई देता है। कारण कि युवा और प्रौढ़ अवस्था में उन्हें विशेषतः दरिद्र और दुःखी लोगों के साथ ही मिल जुलकर, उनके हृदय की अशांति को दूर करने का कार्य करना पड़ता है। अतः यदि वे ऐसे लोगों की अवस्था से आरम्भ से ही परिचित और सहानुभूतिशील न हों तो वह कार्य उनके हाथों कैसे सिद्ध हो। इतना ही नहीं हम पहिले ही देख चुके हैं कि समाज से धर्मग्लानि को दूर करने के ही लिये अवतारी पुरुषों का जन्म होता है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये उन्हें पुराने धर्म सम्प्रदायों की तत्कालीन अवस्था का ज्ञान अवश्य रहना ही चाहिये। क्योंकि इन सब प्राचीन सम्प्रदायों की तत्कालीन ग्लानि के कारणों की मीमांसा करके उन्हें पूर्ण बना देने वाला नया सम्प्रदाय स्थापन करना पड़ता है। इन बातों का परिचय प्राप्त करने का सुयोग श्रीमानों की बड़ी २ हवेलियों में नहीं प्राप्त हो सकता। यह अनुभव तो दरिद्रों की झोंपड़ी में ही मिलता है। क्योंकि सांसारिक सुखभोगों से वंचित मनुष्यों का ही ध्यान ईश्वर, धर्म इत्यादि विषयों की ओर आकृष्ट होता है। अर्थात् बाकी सब जगह धर्म की ग्लानि रहने पर भी दरिद्र की कुटिया में पुरानी धर्मविधियां थोड़ी बहुत जीवित दिख पड़ती हैं। संभवतः इसी कारण जगद्गुरु महापुरुष दरिद्र परिवारों में ही जन्म लेना पसंद करते हैं। हमारे चरित्र नायक के जन्म लेने में भी उक्त नियम का उल्लंघन नहीं हुआ ऐसा दिखाई देता है।

हुगली जिले के वायव्य भाग में जहां पर बांकुड़ा और मेदिनीपुर जिले जुड़े हुए हैं वहीं पर एक त्रिकोण में परस्पर लगे हुए श्रीपूर, कामारपुकूर और मुकुंदपुर नामक तीन ग्राम बसे हुए हैं। ये तीनों ग्राम अलग होते हुए भी बाहर के मनुष्य को एक ही ग्राम के तीन मोहल्ले सरीखे दिख पड़ते हैं। आस-पास के ग्रामों में इन तीनों ग्रामों का एक ही नाम कामारपुकूर प्रसिद्ध है। शायद गांव के जमींदार कामारपुकूर में ही बहुत दिनों तक रहे हों, इसीलिये

तीनों का नाम कामारपुकूर पड़ गया हो। जिस समय की वार्ता हम कह रहे हैं उस समय वर्द्वान के महाराजा के गुरुवंश के श्रीयुत गोपीलाल सुखलाल इत्यादि गोस्वामी कामारपुकूर के जमींदार थे।

कामारपुकूर के उत्तर में १६ कोस की दूरी पर वर्द्वान शहर है और वहां से कामारपुकूर आने के लिये पक्की सड़क है। यह सड़क इस गांव की आधी परिक्रमा करती हुई नैर्ऋत्य की ओर श्री जगन्नाथपुरी को गई है। पैदल जाने वाले बहुतेरे यात्री और वैराग्यसम्पन्न साधु, वैरागी इसी रास्ते से जगन्नाथजी जाते आते हैं।

सन १८६७ के साल में बंगाल में मलेरिया का पहिले पहल आक्रमण हुआ। उसके पूर्व कृपिप्रधान बंगाल के गांव खेड़े शान्ति और आनंद से मानों पूर्ण थे। विशेपतः हुगली प्रांत के विस्तीर्ण धान्य क्षेत्रों के बीच बसे हुए ये छोटे २ खेड़े किसी विशाल हरित समुद्र में तैरने वाले छोटे २ टापुओं के सदृश दिखते थे। उपजाऊ जमीन, खाने पीने की सामग्री, यथेच्छ स्वच्छ और निर्मल वायु में नित्य परिश्रम इनके कारण इन ग्राम निवासियों के शरीर धष्टपुष्ट रहते थे और इनके मन में सदा प्रेम और संतोप निवास करता था। इन ग्रामों में सदा मनुष्यों की चहल पहल बनी रहती थी और खेती के सिवाय छोटे मोठे घरेलू उद्योग भी हुआ करते थे। कामारपुकूर में ब्राह्मण, कायस्थ, जुलाहा, कुम्हार, ढीमर, बसोड़ इत्यादि कई प्रकार की जातियां निवास करती थीं। गांव में तीन चार बड़े तालाब हैं, उनमें सब से बड़ा हलदारपुकूर है। इनमें से कुछ में शतदल इत्यादि कमल होने के कारण उनकी अपूर्व शोभा है। गांव के बहुतेरे घर ईंटों के हैं। स्थान २ पर खंडहर और देवालय दिखाई देते हैं जिससे ग्राम की पूर्व स्थिति की कल्पना कर सकते हैं। गांव के वायव्य और ईशान में दो स्मशान हैं। पहिले स्मशान के उस पार चरागाह, माणिकराज की सार्वजनिक उपयोग के लिये दी हुई अमराई और दामोदर नद हैं।

कामारपुकूर के उत्तर में एक मील पर भुरसूबो नामक ग्राम है। वहीं माणिक-चंद्र बन्धोपाध्याय नाम के एक धनाढ्य सज्जन रहते थे। आसपास के गांवों में वे

"माणिकराज" नाम से सुप्रसिद्ध थे। पूर्वोक्त अमराई के सिवाय सार्वजनिक उपयोग के लिये उन्होंने कई तालाब बनवाये हैं। ऐसा कहा जाता है कि उनके यहां अनेक बार लक्ष ब्राम्हण भोजन दिये गये।

कामारपुकूर के पश्चिम में एक कोस पर सातबेड़े, नारायणपुर और देरे नामक तीन गांव पास २ हैं। पहिले ये ग्राम बड़े सम्पन्न थे। हम जिस समय की चर्चा कर रहे हैं उस समय तीनों गांवों के जमींदार रामानंदराय थे। वे विशेष धनाढ्य तो नहीं थे पर अपनी रियाया को बड़ा कष्ट देते थे। किसी भी कारण यदि किसी से उनकी अनबन हो जाती तो उसका सर्वनाश करने में वे आगा पीछा नहीं देखते थे। ऐसा कहा जाता है कि उनकी सर्व सन्तति अल्पायु रहीं। लोगों को ठगने के कारण ही वे निर्वंश हुए और उनकी सम्पत्ति का विनाश हुआ।

लगभग १५० वर्ष पूर्व मध्यस्थिति वाला, धर्मनिष्ठ, सदाचारी कुलीन और श्रीरामचन्द्रोपासक चटर्जी नामक एक कुटुम्ब इस ग्राम में निवास करता था। उस कुल में श्रीयुत माणिकराम चटर्जी को तीन पुत्र और एक पुत्री थी। सब से बड़ा पुत्र क्षुदिराम लगभग सन् १७७५ में उत्पन्न हुआ। उसके पश्चात् रामलीला नाम की कन्या और निधीराम और कानाईराम दो पुत्र हुए।

श्रीयुत क्षुदिराम ने अपने तरुण काल में चारितार्थ साधन के लिये किसी उद्योगधंधे की शिक्षा प्राप्त की थी या नहीं यह तो विदित नहीं है पर सत्य-निष्ठा, संतोष और त्याग इत्यादि ब्राम्हणों के स्वभावसिद्ध शास्त्र सम्मत गुण उनमें पूर्ण रूप से थे। वे कद में ऊँचे और दुबले पतले थे पर शक्तिवान थे। वे गौर वर्ण और हंसमुख थे। वंशपरंपरागत श्रीरामचंद्र जी की भक्ति उनमें विशेष थी और नित्यप्रति संध्यावंदन इत्यादि के पश्चात् श्रीरामचंद्र जी की पूजा किये बिना वे अन्नग्रहण नहीं करते थे। शूद्रों से वे कभी दान नहीं लेते थे। इतना ही नहीं वे शूद्रों के घर यजमान कार्य करने वाले ब्राम्हण के यहां कभी भोजन भी नहीं करते थे। कन्या विक्रय करने वाले ब्राम्हण के हाथ का पानी भी वे नहीं पीते थे। ऐसे निष्ठावान और सदाचार सम्पन्न होने के कारण गांव वालों की उन पर बड़ी श्रद्धा थी और वे लोग उनका बड़ा आदर करते थे।

पिता की मृत्यु के बाद संसार का सब भार क्षुदिराम पर ही आ पड़ा। धर्म मार्ग में ही रहकर उन्होंने अपनी संसार यात्रा शुरू की। पिता की मृत्यु के पूर्व ही इनका विवाह हो गया था पर पत्नी छोटी आयु में ही मर गई इस कारण उन्होंने २४ वें वर्ष (१७९९) में पुनः विवाह किया। इनकी द्वितीय पत्नी का नाम "चन्द्रामणि" था। घर के लोग इन्हें "चंद्रा" ही कहा करते थे। उसका मायका "सराठी मायापूर" ग्राम में था। वह सुस्वरूपा, सरल हृदया और देवता तथा ब्राह्मणों पर बहुत निष्ठा रखने वाली थी। उसका अन्तःकरण श्रद्धालु और प्रेम सम्पन्न होने के कारण वह सब को प्रिय थी। विवाह काल में उसकी आयु ८ वर्ष की थी (जन्म १७९१ में हुआ था)। विवाह के ६।७ वर्ष बाद (१८०५-०६) उसके प्रथम पुत्र रामकुमार का जन्म हुआ। तत्पश्चात् ५।६ वर्ष में (१८१०-११) में पुत्री कात्यायनी और उसके १६ वर्ष बाद (१८२६-२७) द्वितीय पुत्र रामेश्वर का जन्म हुआ।

धार्मिकता के साथ संसार यात्रा करना कितना कठिन है इसका अनुभव क्षुदिराम को शीघ्र ही हुआ। प्रायः कात्यायनी के जन्म के थोड़े ही दिनों के उपरान्त (१८१४) उसकी परीक्षा का विकट प्रसंग आया। देरे गांव का जमींदार रामानंदराय दुष्ट स्वभाव का था यह ऊपर कह ही आये हैं। देरे गांव के एक गृहस्थ पर वह जमींदार रुष्ट हो पड़ा और एक झूठा मुकदमा उस पर दायर किया और अपनी ओर से क्षुदिराम को झूठी साक्षी देने के लिये कहा। धर्म परायण क्षुदिराम सदा कानून कायदा और वकील अदालत से डरा करता था और सच्ची बात के लिये भी अदालत की सीढ़ी पर कदम रखना पसन्द नहीं करता था। अतः वह जमींदार के इस कार्य से बड़े संकट में पड़ गया। जमींदार की ओर से झूठी गवाही देने के लिये इन्कार करने पर जमींदार का उससे रुष्ट हो जाना जानते हुए भी उसने ऐसी गवाही देनेसे नहीं कर दी। परिणाम जो होना था वही हुआ। जमींदार ने क्षुदिराम पर भी गढ़कर झूठी नालिश की और उसमें जय प्राप्त करके क्षुदिराम की सारी सम्पत्ति नीलाम करा दी। बेचारे क्षुदिराम को गांव में रहने के लिये जगह भी बाकी नहीं रही। इस संकट ने सभी ग्रामवासियों के दिल को पिघला दिया पर जमींदार के विरोधी क्षुदिराम को सहायता देने का साहस किसे हो सकता था?

इस प्रकार ४० वें वर्ष में क्षुदिराम का सर्वस्व विनाश हो गया। पूर्वजों की और अपनी कमाई हुई संपत्ति—अंदाजन १५० बीघे जमीन वायु के प्रबल वेग से बादल के टुकड़े के समान क्षणभर में नष्ट हो गई। परंतु इस दारुण विपत्ति में भी वह अपनी धर्मनिष्ठा से तिल भर भी विचलित नहीं हुआ। उसने अपना सर्व भार श्रीरामचंद्र जी के पादपद्मों में सौंप कर दुर्जन से दूर रहना ही अच्छा इस नीतिवाक्य का विचार करके अपने रहने के घर और ग्राम से शान्तचित्त होकर सदा के लिये उसने विदा ले ली।

ऊपर कह आये हैं कि कामारपुकूर में सुखलाल गोस्वामी रहते थे। समान-शील होने के कारण क्षुदिराम से इनका घनिष्ठ परिचय था। क्षुदिराम के संकट का हाल जानते ही उन्होंने अपने घर का एक हिस्सा खाली कर के क्षुदिराम को अपने यहां बुलवाया। क्षुदिराम को संकट समुद्र में यह बड़ा आधार हो गया। और श्रीभगवान् की अचिन्त्य लीला ने ही गोस्वामी जी को ऐसी बुद्धि दी यह विश्वास उसके मन में हो गया और कृतज्ञता पूर्वक उसने यह निमंत्रण स्वीकार किया। तब से क्षुदिराम कामारपुकूर में रहने लगे। उदार हृदय सुखलाल को इससे बड़ा आनंद हुआ और धर्म परायण क्षुदिराम की संसार यात्रा ठीक चलाने की गरज से उन्होंने १॥ बीघा जमीन उनके नाम से लगा दी।

३—कामारपुकूर में कल्याणमय संसार।

"मेरी माता अत्यन्त सरल स्वभाव की थी। दूसरों को भोजन कराना उसे बहुत प्रिय था। वह छोटे बच्चों पर बहुत प्रेम करती थी।"

—श्रीरामकृष्ण।

जिस दिन चुदिराम अपनी पत्नी, पुत्र और छोटी पुत्री को लेकर कामारपुकूर की पर्णकुटी में पहिले पहल रहने के लिये गये उस दिन उनके मन के विचार क्या रहे होंगे इसे कहने की अपेक्षा कल्पना करना ही अधिक उपयुक्त होगा। ईर्ष्याद्वेष पूर्ण संसार उस दिन उन दोनों को अमावस्या की भयानक कालरात्रि में स्मशान के समान मालूम पड़ने लगा। सुखलाल गोस्वामी का स्नेह, उदारता, दया इत्यादि गुणों ने उनके अन्तःकरण में कुछ समय सुखाशा का प्रकाश डाला, पर दूसरे ही क्षण वह प्रकाश मिट गया, और पुनः उनके अन्तश्चक्षुओं को सर्वत्र अंधेरा ही दिखाई देने लगा। अपनी पूर्वस्थिति और वर्तमान स्थिति के अन्तर का विचार उनके मन में वार वार आने लगा। ध्यान रहे कि संकट आने पर ही मनुष्य को संसार की असारता और अनित्यता का निश्चय होता है; अतएव चुदिराम के हृदय में इस समय वैराग्य का उदय होना स्वाभाविक ही था। ऊपर कहे अनुसार चमत्कारिक और अयाचित रीति से आश्रय मिलने की बात का स्मरण आने से उनका हृदय ईश्वर की भक्ति और निर्भयता से पूर्ण हो गया और श्रीरामचन्द्र जी के चरणों में पूर्णतया आत्मसमर्पण करके संसार से उदासीन रहते हुए उन्होंने अपना समय अब श्रीभगवान् के पूजा ध्यान में व्यतीत करना प्रारम्भ किया। संसार में रहते हुए भी संसार से उदासीन रहने के कारण वे अपने दिन वानप्रस्थी के समान बिताने लगे।

इसी अवधि में एक ऐसी घटना हुई जिससे उनकी धार्मिक श्रद्धा और वढ़ गई। एक दिन उन्हें किसी कार्यवशात् समीप के एक गांव में जाना पड़ा। लौटते समय वे थककर एक झाड़ के नीचे विश्राम करने लगे और उनकी आँख लग गई। इतने में उन्हें एक विचित्र स्वप्न दिख पड़ा। श्रीरामचन्द्र जी बाल वेष में सामने खड़े हैं और एक स्थान की ओर अंगुली से इशारा कर रहे हैं और कहते हैं, "मैं इस जगह कितने दिनों से भूखा पड़ा हूं, मुझे अपने घर ले चल, तेरी सेवा ग्रहण करने की मुझे बड़ी इच्छा है।" भगवान् की ऐसी अकल्पित कृपा देख उनका हृदय गद्गद हो गया,। नेत्रों से आनन्दाश्रु निकलने लगे। इतने ही में उनकी नींद खुल गई। वे इस अद्भुत स्वप्न के अर्थ का मन में विचार कर ही रहे थे कि इतने में उनकी दृष्टि एक स्थान पर पड़ी और स्वप्न में श्रीरामचन्द्र जी द्वारा निर्दिष्ट स्थान यही है यह उन्होंने पहिचान लिया। उसी क्षण वे वहां से उठे और पास जाकर देखते हैं कि एक सुंदर शालिग्राम शिला पर एक भुजंग अपना फण फैलाये डोल रहा है। उनकी आहट पाते ही सर्प कहीं अदृश्य हो गया। क्षुदिराम ने आगे वढ़कर वह शिला हाथ में ले ली और उसके चिन्हों को देखने लगे तो वह यथार्थ में रघुवीर शिला थी। यह देख उनके आनन्द का पार नहीं रहा। पश्चात् घर आकर उन्होंने उस शिला की प्राणप्रतिष्ठा की और उस समय से वे सदा उसकी पूजा करने लगे।

श्रीरामचन्द्र जी के सिवाय वे श्रीशीतला देवी की भी पूजा करते थे। एक के बाद एक उनके दुर्दिन समाप्त होते चले और क्षुदिराम भी सब प्रकार के दुःख और कष्टों से उदासीन बनकर सारा भार परमेश्वर को सौंप शान्त चित्त से धर्म मार्ग में अपने दिन बिताने लगे। घर में किसी २ दिन मुठ्ठी भर अन्न भी नहीं रहता था। साध्वी चंद्रादेवी यह बात अति दुःखित हृदय से अपने पति से निवेदन किया करती थीं। इसे सुनकर क्षुदिराम लेशमात्र विचलित नहीं होते थे और अपनी पत्नी को यह आश्वासन देते थे कि कोई हर्ज नहीं। यदि श्रीरामचन्द्र जी को ही आज उपवास करना है, तो हम लोग भी उनके साथ उपवास करेंगे।" सरल हृदया चंद्रादेवी भी अपने पति के समान ईश्वर पर भार समर्पण करके अपने गृहकार्य में लग जाती थी और चमत्कार ऐसा होता था कि उस दिन का संकट किसी न किसी तरह दूर होता ही था।

परन्तु इस प्रकार के कठिन संकट क्षुदिराम को अधिक दिनों तक भोगने नहीं पड़े। श्रीयुत सुखलाल जी ने इन्हें जो डेढ़ बीघा जमीन दी थी उसीमें शीघ्र ही इनके छोटे परिवार के निर्वाह और अतिथि अभ्यागतों की सेवा के लिये पर्याप्त अन्न उपजने लगा। वे कृषकों को अपनी जमीन पत्तीदारी पर दे देते थे और बोनी के समय श्रीरामचन्द्र का नाम लेकर पहिले स्वयं कुछ मुट्ठी धान बो देते थे। तत्पश्चात् बाकी काम को और लोग किया करते थे। इस प्रकार २।३ वर्ष बीत गये और क्षुदिराम के परिवार का निर्वाह मोटे अन्न वस्त्र से किसी तरह चलने लगा। पर इन दो तीन वर्षों में उनके हृदय में शान्ति, संतोष और ईश्वर निर्भरता जैसी दृढ़ हुई वैसी विरलों के ही भाग्य में रहती है। मन निरन्तर अन्तर्मुख रहने के कारण उन्हें बीच बीच में दिव्य दर्शन होने लगा। रोज प्रातः सायं संध्या करते समय गायत्री का ध्यान करते २ वे ऐसे तन्मय हो जाते थे कि उनका वक्षःस्थल आरक्त हो जाता था और मूँदे हुए नयनों से एक समान प्रेमाश्रुधारा बहा करती थी। प्रभात समय हाथ में टोकनी लेकर पूजा के लिये फूल तोड़ते समय उन्हें ऐसा दिखता था कि उनकी आराध्य देवता श्री शीतला देवी अष्टवर्षीय कन्या का रूप लेकर रक्त वस्त्र परिधान किये हुए और नाना प्रकार के अलंकार पहिने हंसती २ उनके साथ आ रही ही हो और फूलों के झाड़ की डालियों को झुकाकर फूल तोड़ने में उन्हें सहायता दे रही हो। इसी प्रकार और अन्य दिव्य दर्शनों से उनका हृदय सदा उत्साहपूर्ण रहा करता था और अन्तः-करण के दृढ़ विश्वास और भक्ति के प्रकाश के मुख पर प्रगट होने से उनका चेहरा सदा तेजस्वी दिखाई देता था। उनकी धीर गंभीर प्रशान्त और तेजस्वी मुद्रा को देखकर ग्रामवासियों के मन में उनके प्रति धीरे २ बहुत भक्ति और श्रद्धा होने लगी और वे लोग ऋषि के समान उनका आदर करने लगे। वे जब रास्ते से जाते थे तो ग्रामवासी अपनी बातें बंद कर देते थे और बड़े आदर से उठकर उनका सम्मान करते थे। तालाब में जब वे स्नान करते रहते, तब उनका स्नान समाप्त होते तक कोई दूसरा मनुष्य तालाब में नहीं उतरता था। उनका आशीर्वाद कभी विफल नहीं हो सकता इस दृढ़ भावना से ग्रामवासी अपने सुख दुःख के प्रसंगों में उनसे आशीर्वाद लेते थे।

श्रीमती चन्द्रादेवी स्नेह और सरलता की मूर्ति थी। उसकी अलौकिक दया

और प्रेम से मुग्ध होकर ग्रामवासी माता के समान उसका आदर करते थे। संकट के समय उन्हें उससे सहानुभूति और यथाशक्ति सहायता अवश्य मिला करती थी। गरीबों को पूरा निश्चय था कि चंद्रादेवी के पास जाने से मुट्ठीभर भिक्षा तो मिलेगी ही पर उसके स्नेहपूर्ण और दयामय दर्शन से अन्तरात्मा को शान्ति भी मिलेगी। उसके घर का दरवाजा हमारे लिये सदा खुला है यह बात साधु, संन्यासी, फकीर लोगों को मालूम थी। पड़ोस के बालक जानते थे कि चंद्रा-देवी के पास हठ करने से उन की मांग अवश्य पूर्ण होगी। इस तरह गांव के बालवृद्ध स्त्री पुरुष सभी क्षुदिराम की पर्णकुटी में सदा जाया आया करते थे और वह दरिद्र पर्णकुटी एक प्रकार की अपूर्व शान्ति से सदा पूर्ण रहा करती थी।

पीछे कह चुके हैं कि क्षुदिराम की रामलीला नाम की बहिन और निधिराम और कनाईराम (रामकनाई) नाम के दो छोटे भाई थे। देरे-ग्राम का सर्वस्व नष्ट होने के समय रामलीला ३५ वर्ष की और भाई लोग ३० और २५ वर्ष के थे। पश्चिम में ६ कोस पर छिलीमपूर में भागवत बंद्योपाध्याय के साथ रामलीला का विवाह हुआ था और उसे रामचांद नाम का एक पुत्र और हेमांगिनी नाम की एक पुत्री उत्पन्न हुई थी। क्षुदिराम के संकट के समय इन बच्चों की उम्र क्रमशः २१ और १६ वर्ष की थी। श्रीयुत रामचांद मेदिनीपूर में वकालत करने लगे थे। हेमांगिनी का जन्म देरे ग्राम में मामा के ही घर में हुआ था। मामा के घर के सब लोग उस पर बड़ा प्रेम करते थे। क्षुदिराम तो इस पर अपनी पुत्री के समान प्यार करते थे और विवाह योग्य होने पर उन्होंने ही स्वयं उसका विवाह कामारपुकूर के वायव्य में २५ कोस पर शिरड़ ग्राम में श्री कृष्णचन्द्र मुकर्जी के साथ कर दिया। बाद में हेमांगिनी के चार पुत्र–राघव, रामरतन, हृदयराम और राजाराम–हुए।

क्षुदिराम के भाई निधिराम के संतान का पता नहीं लगता। सब से कनिष्ठ रामकनाई को रामतारक उर्फ हलधारी और कालिदास दो पुत्र हुए। रामकनाई भक्तिमान और भावुक हृदय के थे। एक बार किसी मंडली में रामचरित्र नाटक हो रहा था। उसे वह देख रहा था। राम के वनवास प्रसंग को देखते २ वह इतना तन्मय हो गया कि सभी घटना यथार्थ है इस भावना से राम को वनवास

भेजने के लिये फरमान करने वाली कैकेयी का वेष धारण करने वाले पात्र को मारने के लिये रंगभूमि पर चढ़ जा पड़ा।

रामशीला के पुत्र रामचांद—ऊपर लिख चुके हैं—मेदिनीपूर में वकालत करने लगे थे। उन्हें उसमें रोजगार में क्रमशः अच्छी कमाई होने लगी। अपने मामा के संकट को देखकर वे प्रतिमास १५) क्षुदिराम को और निधिराम और कानाईराम प्रत्येक को १०) मासिक भेजने लगे। समय २ पर अपने भांजे का समाचार नहीं मिलने से क्षुदिराम को चैन नहीं पड़ती थी और उसका कुशल समाचार जानने के लिये क्षुदिराम मेदिनीपूर चले जाते थे और २।४ दिन वहां रहकर कामारपुकूर वापिस आ जाते थे। इसी तरह एक बार मेदिनीपूर जाते समय एक घटना हुई जिससे क्षुदिराम का अन्तःकरण कितना भक्तिपूर्ण था इस बात का पता लगता है। मेदिनीपूर कामारपुकूर के नैऋत्य में ४० मील पर है। बहुत दिनों से रामचांद का समाचार नहीं पाने के कारण क्षुदिराम को बड़ी चिन्ता थी और वे मेदिनीपूर जाने के लिये घर से निकले। माघ फागुन का महिना होगा। इस समय बेल के झाड़ के सब पत्ते झड़ चुके रहते हैं और नये पत्ते निकलते नहीं, महादेव को चढ़ाने के लिये लोगों को बेलपत्र बड़ी कठिनाई से मिलता है। घर से निकलने के पूर्व कुछ दिनों तक यही कठिनाई क्षुदिराम को भी हुई थी।

क्षुदिराम बड़े तड़के ही रवाना हुए और १५।१६ मील चलकर एक गांव में पहुँचे। वहां बिल्ववृक्ष पर हाल ही में पत्ते निकले थे। उन्हें देखकर उनको बड़ा आनन्द हुआ। मेदिनीपूर जाने की बात भूलकर वे उस गांव में गये और टोकनी और वस्त्र खरीद लाये। टोकनी को धोकर उसमें नये कोमल २ बिल्व-पत्रों को रखकर उस पर गीला कपड़ा ढांक दिया और पुनः कामारपुकूर की राह पकड़ी। दोपहर को दो बजे वे अपने घर पहुँचे और स्नान करके उन्होंने उन बिल्वपत्रों से बड़े आनन्द और भक्ति के साथ श्री महादेव और श्री शीतला देवी की पूजा की। तत्पश्चात् भोजन करने बैठे। अवसर पाकर चंद्रादेवी ने क्षुदिराम से मेदिनीपूर न जाकर वापस लौट आने का कारण पूछा और नये २ बिल्वपत्रों से देवार्चन करने के लोभ में पड़कर वे गांव जाना भूल गये ऐसा जानकर उसे

बड़ा अचरज हुआ। दूसरे दिन तड़के उठकर क्षुदिराम पुनः मेदिनीपुर के लिये रवाना हुए। अस्तु।

कामारपुकूर आये क्षुदिराम को छः वर्ष हो चुके थे (१८२०)। रामकुमार और कात्यायनी की उम्र क्रमशः १५ और १० वर्ष की हो गई थी। उनकी आयु विवाह योग्य हुई देखकर क्षुदिराम ने कामारपुकूर के वायव्य में १ कोस पर आनूरगांव के केनाराम बंद्योपाध्याय से कात्यायनी का विवाह कर दिया और केनाराम की बहिन से रामकुमार का विवाह कर लिया। पास की ही एक पाठशाला में रामकुमार का साहित्यशास्त्र और व्याकरण का अभ्यास हुआ था और वह अब स्मृतिशास्त्र का अध्ययन कर रहा था।

तीन चार वर्ष और बीत गये। इस अवधि में श्री रामचन्द्र जी की कृपा से क्षुदिराम की संसारयात्रा ठीक चलती थी। रामकुमार का अध्ययन समाप्त हो गया और वह भी यथाशक्ति द्रव्य उपार्जन करके अपने पिता को संसार चलाने में सहायता देने लगा। क्षुदिराम भी निश्चिंत मन से ईश्वर की आराधना में अधिक समय बिताने लगे। इसी अवसर में क्षुदिराम के आश्रयदाता सुखलाल गोस्वामी का स्वर्गवास हो गया। उनकी मृत्यु से क्षुदिराम को बड़ा दुःख हुआ।

रामकुमार बड़ा हो गया और संसार का भार ग्रहण करने लायक बन गया। इससे क्षुदिराम को अन्य बातों की ओर ध्यान देने का अवसर मिला। उन्हें तीर्थयात्रा की इच्छा उत्पन्न हुई और इस समय उन्होंने दक्षिण के बहुतेरे तीर्थों की यात्रा की और सेतुबंध रामेश्वर से एक बाणलिङ्ग लाकर उन्होंने अपने पूजागृह में रखा। यह बाणलिङ्ग कामारपुकूर में क्षुदिराम के घर में अब भी वर्तमान है। तीर्थयात्रा से लौटने के लगभग दो वर्ष बाद बहुत वर्षों में चन्द्रादेवी को एक पुत्र हुआ (१८२६)। रामेश्वर की यात्रा से लौटने के बाद यह पुत्र हुआ इस कारण क्षुदिराम ने इसका नाम रामेश्वर रखा।

तत्पश्चात् आठ वर्ष और बीत गये। रामकुमार पुराण बाँच कर तथा शान्ति स्वस्त्ययन आदि कर्म द्वारा अपने पिता को संसार निर्वाह में सहायता

करने लगा था। अतः अब पूर्ववत् क्षुदिराम को सांसारिक कष्ट नहीं रहा। शान्ति स्वस्त्ययन आदि कर्मों में रामकुमार निपुण हो गया था और ऐसा कहा जाता है कि इन कामों में उसे दैवी शक्ति प्राप्त हो चुकी थी। शास्त्रों के अध्ययन से उसे शक्ति की उपासना में बड़ी श्रद्धा हो गई थी और उसने एक गुरु से देवीमंत्र की दीक्षा भी ली थी। अपने इष्टदेव की पूजा करते समय एक दिन उसे अद्भुत दर्शन हुआ। उसे ज्योतिषशास्त्र में सिद्धि प्राप्त कराने के लिये साक्षात् देवी ही उसके जिव्हाग्र पर एक मंत्र अपनी अंगुली से लिख रही है ऐसा दर्शन उसे हुआ! उस दिन से रोगी को देखते ही उसे आराम होगा या नहीं इसकी जानकारी रामकुमार को होने लगी और रोगियों के बारे में वह जो कुछ कहता, वह सच निकलता था। एक बार एक गृहस्थ अपनी पत्नी के साथ नदी में नहाने आये थे। रामकुमार भी नदी पर था। उस स्त्री के मुख की ओर दृष्टि जाते ही रामकुमार जान गया कि यह स्त्री कल मरने वाली है और यह बात उसने उसके पति से भी बता दी। स्त्री नीरोग थी अतः उसके पति को यह बात झूठ जँची परन्तु सचमुच ही वह स्त्री दूसरे दिन अचानक मर गई! रामकुमार को अपनी स्त्री का भी मरणकाल मालूम हो गया था। प्रसव होते ही वह मर जावेगी यह उसे विदित था और हुआ भी वैसा ही।

ईसवी सन् १८३५ में क्षुदिराम को पुनः तीर्थयात्रा करने की इच्छा हुई। उस समय उसकी आयु ६० वर्ष की हो गई थी, तब भी उसने गया पैदल जाने का विचार किया। तीर्थयात्रा के सम्बन्ध में हृदय ने हमें * बताया कि कात्यायनी बीमार थी और उसे देखने के लिये क्षुदिराम आनूर गांव आये। अपनी कन्या को लगातार बकते और हाथ पैर पटकते देखकर वे जान गये कि इसे भूतबाधा हो गई है। उन्होंने श्री भगवान् का स्मरण करके कहा, " तू भूत हो या कोई भी हो, मेरी लड़की को छोड़ कर चला जा।" उसे भूत ने कहा तुम यदि गया में पिण्डदान

---

* इस चरित्र में स्थान २ पर 'हम बोले', 'हमें उन्होंने बताया' आदि वाक्यों में 'हम' शब्द मूल बंगला ग्रंथकार का है। 'हम' शब्द का उपयोग उन्होंने 'श्री रामकृष्ण के शिष्यों' के लिये किया है।

करोगे तो मैं इस योनि से मुक्त हो जाऊंगा, इस लिये जब तुम गया जाने के लिये रवाना होंगे उसी समय मैं भी तुम्हारी लड़की को छोड़ दूंगा।" इस पर से क्षुदिराम ने गयायात्रा का निश्चय किया। कारण चाहे जो हो, इस साल क्षुदिराम ने गया की यात्रा की यह निश्चित है।

जब क्षुदिराम गया पहुँचे तब चैत का महिना था। चैत में ही गया में पिण्डदान देने की शास्त्राज्ञा होने के कारण वे चैत में गये होंगे। एक मास वहां रहकर शास्त्रोक्त विधि से सब कर्म करने के बाद अन्त में श्री गदाधर के चरणों में पिण्डदान दिया। यथाशास्त्र क्रिया करके पितृऋण से आज मुक्त हुए इस भावना से उन्हें बड़ा संतोष हुआ और ईश्वर ने अपने समान नगण्य मनुष्य से अपनी यथोचित सेवा करा ली यह विचार मन में आने से उनका अन्तःकरण कृतज्ञता, नम्रता और प्रेम से पूर्ण हो गया। दिन की तो बात छोड़िये। पर रात को सोते हुए भी यही विचार उनके मन में घूमने लगा। एक रात को उन्हें स्वप्न हुआ। उन्हें ऐसा दिखा कि मैं श्री गदाधर के चरणों में पिण्डदान कर रहा हूं और मेरे सब पितर दिव्य देह धारण करके उस पिण्ड को बड़े आनन्द से ग्रहण करते हुए वे मुझे अपना आशीर्वाद दे रहे हैं। उनके दर्शन से आनन्दित होकर मैं गद्गद हो पितरों को वारम्वार प्रणाम कर रहा हूं। इतने में ऐसा दिखा कि एक अपूर्व ज्योति से मन्दिर पूर्ण हो गया और मेरे सब पितर एक सिंहासन के बाजू से दो कतारों में गंभीरता पूर्वक खड़े होकर उस सिंहासन पर बैठे हुए एक अद्भुत पुरुष की स्तुति हाथ जोड़कर कर रहे हैं। इतने में वह दिव्य तेजस्वी श्यामसुन्दर पुरुष स्नेहपूर्ण दृष्टि से हंसते २ मेरी ओर देखता है और अपने समीप मुझको इशारे से बुला रहा है ऐसा दिखा। क्षुदिराम किसी यंत्र के समान खींचा जाकर उसके सामने खड़ा हुआ और भक्तियुक्त अन्तःकरण से उस पुरुष को साष्टाङ्ग प्रणाम करके गद्गद चित्त से उसकी नाना प्रकार से स्तुति करने लगा। वह दिव्य पुरुष उसकी स्तुति से सन्तुष्ट होकर मेघवत् गम्भीर तथा मधुर वाणी से उससे बोला, "क्षुदिराम! मैं तेरी भक्ति से अत्यन्त सन्तुष्ट हो गया। मैं तेरे घर पुत्ररूप से अवतार लेकर तेरी सेवा ग्रहण करूंगा!"

इतने में नींद उचट गई। मैं कहां हूं यही उसकी समझ में ठीक २ नहीं आया। धीरे २ उसे सब बातों की याद आई और परमेश्वर का नामस्मरण

करते २ वह उठकर बैठ गया। स्वप्न के विषय में उसके मन में नाना प्रकार के विचार उठने लगे। अन्त में उसके श्रद्धालु हृदय में यह निश्चय हुआ कि देवस्वप्न कभी मिथ्या नहीं होता। मेरे द्वारा किसी महापुरुष का जन्म होने वाला है और इतनी वृद्धावस्था में भी पुत्र मुखावलोकन का सुख मिलेगा यह उसे निश्चय हुआ। अन्त में उसने यह निश्चय किया कि इस अद्भुत स्वप्न का फल जब तक प्रत्यक्ष न दिखाई दे जाय तब तक इस स्वप्न का वृत्तांत किसी से नहीं कहूंगा। तदुपरांत गया में कुछ दिन और बिताकर क्षुदिराम वैशाख मास में कामारपुकूर लौट आये।

४—चन्द्रादेवी के विचित्र अनुभव।

" मेरी माता सरलता की मूर्ति थी। संसार की मामूली २ बातें वह नहीं समझती थी! उसे पैसे गिनना भी ठीक २ नहीं आता था! कौनसी बात दूसरों को बताना और कौनसी नहीं बताना यह भी वह नहीं जानती थी। इस कारण लोग उसे " भोली " कहा करते थे! "

—श्रीरामकृष्ण।

जगदुद्धारक महापुरुषों के जन्म होने के समय उनके मातापिता को अलौकिक आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त हुआ करते हैं और उन्हें दिव्य दर्शन भी हुआ करते हैं यह बात संसार के सभी धर्मग्रंथों में पाई जाती है। भगवान् श्री रामचन्द्र, श्री कृष्णचन्द्र, ईसा, बुद्ध, शंकराचार्य, श्रीकृष्ण चैतन्य इत्यादि जिन अवतारी पुरुषों की संसार अद्यापि पूजा कर रहा है उनके मातापिता के सम्बन्ध में उक्त बातें ग्रंथों में वर्णित हैं। उच्च प्रकृतिसम्पन्न मातापिता से ही उदार चरित्र वाले पुरुषों की उत्पत्ति होती है यह सिद्धांत आधुनिक ग्रंथों में बताया जाता है, तो श्रीकृष्ण, बुद्ध, ईसा सरीखे महापुरुषों के मातापिता विशेष सद्गुणसम्पन्न रहे ही होंगे यह मानना पड़ता है। इन महापुरुषों के जन्मकाल में इनके मातापिता के मन साधारण मनुष्यों की अपेक्षा कितनी उच्च भूमिका में अवस्थित रहने चाहिये और एतदर्थ उन्हें उस समय दिव्य दर्शन और अनुभव भी प्राप्त हुए होने चाहिये यह बात भी माननी पड़ती है।

यद्यपि पुराणोक्त बातें युक्तिसंगत हों तथापि संशयी मन का पूर्ण विश्वास उन पर नहीं जमता, कारण कि अपने स्वयं अनुभव किये हुए विषयों पर ही मन

विश्वास करता है और इसी कारण अपरोक्षानुभूति होने के पूर्व ईश्वर, आत्मा, मुक्ति, परलोक इत्यादि इन्द्रियातीत विषयों पर उसका पूर्ण विश्वास कभी भी नहीं रहता। इतना होते हुए भी किसी बात को अलौकिक या असाधारण होने के ही कारण निरपेक्ष विचारवान पुरुष त्याज्य नहीं मानते, वरन् उस सम्बन्ध के दोनों पक्षों का विचार करके सत्यासत्य का निर्णय करते हैं।

अस्तु। हमारे चरित्र-नायक के जन्म के समय पर उनके मातापिता को अनेक दिव्य दर्शन और अनुभव प्राप्त हुए। हमें यह बात ऐसे लोगों ने बताई है जिन पर अविश्वास करना असम्भव है, इस कारण हमने ये बातें जैसी सुनीं उनका वैसा ही वर्णन कर देना अपना कर्तव्य समझा। क्षुदिराम के सम्बन्ध में कुछ बातें गत प्रकरण में बताई गई हैं, अब चन्द्रादेवी की बातें यहां लिखते हैं।

क्षुदिराम को गया से लौटने के कुछ दिनों बाद अपनी पत्नी के स्वभाव में अद्भुत अन्तर दिखाई दिया और मानवी चन्द्रा यथार्थतः देवी के समान दिखने लगी। उसका हृदय भूतमात्र के प्रेम से पूर्ण हो गया और उसका मन इस वासनामय संसार के झंझटों से निकलकर सदा एक उच्च अवस्था में रहने लगा। उसे अपनी गृहस्थी की अपेक्षा आसपास के गरीब लोगों की गृहस्थी की ही चिन्ता अधिक रहती थी। अपने घर के कार्य करते २ बीच में ही अपनी पड़ोसियों के यहां जाकर उनकी आवश्यकताओं के विषय में पूछा करती थी और अपने घर से ले जाकर उन्हें चीजें दे आया करती थी। घर के सब लोगों के खा पी लेने बाद, तृतीय प्रहर में स्वयं खाने के लिये बैठने के पूर्व, पुनः एक बार सब के घरों में जाकर यह देख आती थी कि उन लोगों का भोजन हुआ या नहीं। और यदि किसी दिन कोई बिना खाये होता था तो उसे बड़े आनन्द से अपने घर ले जाकर भोजन कराती थी और स्वयं थोड़े से जलपान पर ही वह दिन बिता देती थी।

पड़ोस के बच्चे चन्द्रादेवी को अपने ही बच्चों के समान लगते थे। क्षुदिराम को ऐसा दिखने लगा कि अपनी पत्नी के हृदय का वात्सल्यभाव अब देवी देवताओं की ओर प्रवृत्त हो रहा है। उसे मालूम होता था कि श्री रामचन्द्र जी मेरे पुत्र हैं! इतने दिनों तक तो सब देवताओं की पूजा के समय उसका हृदय

श्रद्धायुक्त भय से पूर्ण रहा करता था। पर अब तो इस पुत्रप्रेम के सामने भय न मालूम कहां भाग गया ! उसके मन में अब देवताओं का भय नहीं रहा, संकोच नहीं रहा और उनसे छिपाने लायक कोई बात नहीं रही। उनसे माँगने लायक भी कोई विषय नहीं रहा। हाँ एक बात अवश्य थी। उसके मन में देवादि पर प्राणाधिक प्रेम, उन्हें सुखी करने के लिये प्राणों तक की आहुति देने की इच्छा और उनकी संगति सदा प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा मात्र से उसका मन पूर्ण था।

क्षुदिराम को शीघ्र ही विदित होने लगा कि इस प्रकार निःसंकोच देवभक्ति द्वारा और भगवान् पर ही अपना सर्व भार सौंप दिये रहने के कारण परम उल्हास होने से उनकी पत्नी का स्वभाव बहुत उदार हो गया है और सभी पर वह एक समान विश्वास करने लगी है और सभी को अपना आत्मीय समझ रही है।

सरल स्वभाव वाली चन्द्रादेवी कोई बात या विचार तक अपने पति से कभी गुप्त नहीं रखती थी। अपनी बराबरी की स्त्रियों से भी बातें करते समय अपने मन की बात वह प्रकट कर दिया करती थी, तो पति के विषय में कहना ही क्या !

क्षुदिराम के गया चले जाने बाद उनकी अनुपस्थिति में घर में क्या २ हुआ यह बात चन्द्रादेवी अपने पति से यथावकाश बताया करती थी। इसी तरह एक दिन उसने क्षुदिराम से कहा, "आप गया चले गये थे, तब एक रात्रि को मुझे अद्‌भुत स्वप्न दिखा; एक दिव्य पुरुष मेरी शय्या पर सोया हुआ दिखा ! मैंने ऐसा रूप किसी का नहीं देखा था; इतने में ही मेरी नींद खुल गई और देखती हूं तो वह पुरुष अभी भी शय्या पर ही है ! यह देखकर मुझे बड़ा डर लगा और कोई पुरुष मौका साधकर घर में प्रवेश कर गया होगा ऐसा सोचकर दीपक जलाकर देखती हूं तो कहीं कुछ नहीं। किंवाड़ ज्यों के त्यों ! कुंढी भी लगी हुई थी ! इसके बाद रात भर डर के मारे नींद नहीं आई। प्रातःकाल होते ही धनी लोहारिन और धर्मदास लाहा की बहिन को बुलवाई और उन्हें रात की बात बताकर पूछी, "क्यों तुम्हारे विचार में यह घटना कैसी मालूम पड़ती है ? क्या सचमुच मेरे घर में कोई घुसा होगा ? लेकिन मेरा किसी से लड़ाई झगड़ा नहीं है। हां मधुयुगी से

उस दिन कुछ बातचीत हो गई थी, पर उतने पर से क्या वह द्वेष रखकर मेरे घर में घुसा होगा ?" उन दोनों ने मेरी दिल्लगी की और वे कहने लगीं, "तुम बुढ़ापे में पागल हो चली हो ! स्वप्न देखकर इतने डरने की कौन सी बात है ? दूसरे सुनेंगे तो क्या कहेंगे ? गांव भर तुम्हारे विषय में भलती ही बात फैल जावेगी। अब ज़रा इतनी होशियारी करो कि यह बात पुनः किसी से न कहो। "उनकी बातें सुनकर मुझे विश्वास हुआ कि वह स्वप्न ही था और मैंने यह बात किसी से नहीं कहने का निश्चय किया।"

"और एक दिन धनी के साथ बातें करती हुई मैं अपने घर के सामने के शिवमन्दिर के आगे खड़ी थी। इतने में ऐसा दिखा कि महादेव के शरीर से एक दिव्य ज्योति बाहर निकलकर सारे मंदिर भर फैल गई है और वायु के समान तरंगाकार होकर मेरी ओर वेग से आ रही है ! आश्चर्यचकित होकर मैं धनी को दिखा रही थी कि वह ज्योति मेरे पास आई और मेरे शरीर में प्रविष्ट हो गई ! भय और विसमय से मैं एकदम मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़ी। धनी ने सिर पर पानी इत्यादि सींचकर मुझे सावधान किया तब मैंने सब बातें उसे बतलाई। उसे भी बड़ा अचम्भा हुआ और वह बोली, "तुझे वात हो गया है !" पर उस दिन से मुझे ऐसा लगता है कि वह ज्योति मेरे उदर में समा गई है और मेरे उदर में गर्भसंचार हो गया है ! यह बात भी मैंने धनी और प्रसन्न को बता दी और उन्होंने मुझे "पागल ! मूर्ख !" कह कर एक दो नहीं सैकड़ों अपशब्द कहे और तुझे भ्रम के सिवाय और कुछ नहीं है, तुझे वायुगुल्म हो गया है, इत्यादि अनेक बातें कह कर "यह बात किसी से कहना नहीं" ऐसा चेताया ! उनकी बातें छोड़ो ! आप क्या समझते हैं ? मुझे रोग हो गया है या देव की कृपा मुझ पर हुई है ? मुझे तो अभी तक यही मालूम होता है कि मेरे उदर में गर्भसंचार हो गया है !"

क्षुदिराम ने सारी हकीकत सुन ली और उसे भी अपने स्वप्न का स्मरण हुआ। फिर उसने अपनी पत्नी को कई तरह से समझाया, "यह रोग नहीं है ! तुझ पर देव की कृपा हुई है ! परन्तु इसके बाद यदि तुझे इस तरह का कुछ दिखे तो मेरे सिवाय किसी दूसरे से कुछ नहीं बताना। श्री रघुवीर कृपा करके

जो भी दिखावें उसमें अपना कल्याण होगा ऐसा ध्यान रख। गया में रहते समय मुझे भी देव ने दिखाया था कि हमें शीघ्र ही पुत्रमुख दिखेगा।

इस आश्वासन से चन्द्रादेवी निश्चिंत हो गई। इसके बाद ३।४ मास बीत गये और सभी को दिखने लगा कि क्षुदिराम की पत्नी ४५ वें वर्ष की अवस्था में सचमुच पुनः गर्भवती हुई। गर्भिणी स्त्रियों का रूप लावण्य बहुत बढ़ जाता है। चन्द्रादेवी का भी वैसे ही हुआ। धनी इत्यादि उसकी पड़ोसिनें कहा करती थीं कि इस समय चन्द्रादेवी के शरीर में असामान्य तेज चढ़ गया है और कोई २ स्त्रियां तो ऐसा कहने लगीं कि "बुढ़ापे में गर्भवती होकर इसके शरीर में इतना तेज यह अच्छा चिन्ह नहीं है। दिखता है कि प्रसूत होने पर यह बुढ़िया मर जायगी।"

गर्भावस्था में चन्द्रादेवी को दिव्य दर्शन तथा अनुभव और अधिक होने लगे। कहते हैं कि उसे प्रायः हररोज देवदेवताओं के दर्शन होते थे। कभी उसे ऐसा लगता था कि उसके शरीर की सुगंध घर भर फैल गई है। कभी मालूम होता था कि देवता उससे बोल रहे हैं। देवदेवियों पर उसका अपत्यवत् प्रेम इस समय बहुत बढ़ गया था। उसे जो कुछ दिखता या सुन पड़ता उसे वह अपने पति से बताया करती थी और पूछती थी, "मुझे ऐसा क्यों होता है?" क्षुदिराम उसे नाना प्रकार से समझाते थे और शंका की कोई बात नहीं है ऐसा उससे कहा करते थे। इस तरह रोज चलने लगा। एक दिन चन्द्रादेवी भयभीत होकर अपने पति से बोली, "शिव मन्दिर की ज्योति के दर्शन के समय से बीच २ में मुझे इतने देवदेवियों के दर्शन होते हैं कि मैं बता नहीं सकती, इनमें से कितने ही देवों को तो मैंने चित्र में भी कभी नहीं देखा है। आज ही दोपहर की बात है—ऐसा दिखा कि कोई एक हंस पर बैठकर आ रहा है। उसे देखकर मुझे डर लगा। पर धूप में उसका मुंह लाल हुआ देख मुझे दया आ गई और मैं उसे पुकार कर बोली, "अरेरे विचारे हंस पर बैठने वाले देव! धूप की गर्मी से तेरा मुंह कितना झुलस गया है! घर में कुछ दलिया है, क्या उसे मैं तुझे ला दूं? उसे पीकर थोड़ा शान्त हो जा!" इसे सुनकर वह हँसा और अकस्मात् वायु में मिलकर अदृश्य हो गया। ऐसे एक दो नहीं कितने देवताओं की बातें बताऊँ? ये देव मुझे पूजा या ध्यान करने में ही दिखाई देते हैं ऐसा

नहीं है, पर किसी भी समय वे दिख जाते हैं। कभी २ वे मनुष्य रूप लेकर आते हैं और समीप आकर अदृश्य हो जाते हैं। इस तरह के ये रूप भला मुझे क्यों दिखते हैं? मुझे कुछ रोग तो नहीं हो गया? भूत बाधा तो नहीं हुई है?"

क्षुदिराम ने पुनः नाना प्रकार की बातें बताकर उसकी सान्त्वना की और तेरे उदर में बसनेवाले महापुरुष के पवित्र स्पर्श से ही तुझे ये सब रूप दिखते हैं ऐसा उसे समझाया।

इस प्रकार दिन जाने लगे। और यह गरीब ब्राह्मण दम्पति ईश्वर पर सर्व भार सौंपकर पुत्र रूप से अपने यहां जन्म लेने वाले महापुरुष के आगमन की उत्सुक चित्त से मार्गप्रतिक्षा करती हुई अपने दिन बिताने लगा।

५—श्रीरामकृष्ण का जन्म ।

"मेरे पिता गया गये हुए थे । वहां श्री रामचन्द्र जी ने स्वप्न में प्रकट होकर उनसे कहा कि मैं तुम्हारा पुत्र होऊंगा।"

—श्रीरामकृष्ण ।

शरद, हेमंत और शिशिर बीत गये । ऋतुराज वसंत का आगमन हुआ। शीत और ग्रीष्म ऋतुओं का सुखप्रद संमिश्रण मधुमय फाल्गुन मास समस्त स्थावर जंगम संसार में नवीन प्राणों का संचार कर रहा था। उस मास के छः दिवस बीत चुके थे। सभी प्राणियों में विशेष आनन्द और उल्हास दिखाई दे रहा था। शास्त्रों का वाक्य है कि ब्रह्मानन्द के केवल एक कण से सारे पदार्थ रसवान हुए हैं। इस दिव्य उज्ज्वल आनन्दकण की मात्रा कुछ अधिक हो जाने के कारण ही शायद संसार में इतना उल्हास उत्पन्न हो गया हो !

श्री रामचन्द्र जी के नैवेद्य के लिये भोजन बनाते समय आसन्नप्रसवा चन्द्रादेवी का मन आज दिव्य उत्साह से पूर्ण हो रहा था, पर शरीर मे बहुत थकावट भी आ गई थी। अचानक उसके मन में विचार आया कि यदि मैं इसी क्षण प्रसूत हो गई तो श्री रामजी के नैवेद्य का क्या होगा? घर में दूसरा कोई नहीं है। क्षुदिराम से अपना यह भय प्रकट करने पर उन्होंने कहा, " डरो नहीं—जिस महापुरुष का आगमन तुम्हारे उदर में हुआ है वह कभी भी इस प्रकार श्री रामचन्द्र जी की पूजा सेवा में विघ्न करते हुए संसार में प्रवेश नहीं करेगा, यह मेरा दृढ़ विश्वास है। अतः आज की चिन्ता मत कर। कल से मैं इसका दूसरा प्रवन्ध करूंगा। और धनी को तो आज से यहीं सोने के लिये मैंने तभी से कह रखा हैं। " इस प्रकार पति के आश्वासन से चन्द्रादेवी की शंका का समाधान हुआ और वह अपने गृहकार्यों में निमग्न हो गई।

यह दिवस समाप्त हुआ। रात्रि आई। धनी लोहारिन चन्द्रादेवी के पास ही सोई थी। धीरे २ उषःकाल आया और चन्द्रादेवी को प्रसववेदना शुरू हुई। थोड़े ही समय में वह प्रसूत हुई और उसे पुत्र प्राप्त हुआ। धनी चन्द्रादेवी की तत्कालोचित सभी व्यवस्थाएँ करके शिशु की ओर देखती है तो वह जिस स्थान में था वहां दिखाई ही न दिया। भयभीत हो उसने दीपक की बत्ती बढ़ाकर इधर उधर देखना शुरू किया तो बालक नाल समेत सरकते २ रसोई के चूल्हे के पास जाकर पड़ा है और उसके शरीर में राख ही राख लिपट गई है। धनी दौड़ गई और जल्दी से उसने बालक को उठा लिया। उसके शरीर पर से राख को पोंछ कर देखती है तो वह शिशु रूप मे अत्यन्त सुन्दर है और डील डौल में ६ माह के बालक के समान बड़ा है। धनी को बड़ा अचरज हुआ और उसने पड़ोसी लाहाबाबू के घर की प्रसन्न इत्यादि स्त्रियों को बुलाकर उस शिशु को उन्हें दिखाया और सब वृत्तान्त बतला दिया।

इस प्रकार शान्त और पवित्र ब्रह्म मुहूर्त में क्षुदिराम की दरिद्र पर्णकुटी में इस अलौकिक महापुरुष का जन्म हुआ (सन् १८३६)।

पश्चात् क्षुदिराम ने ज्योतिषी से बालक की ग्रह कुंडली देखने के लिये कहा। शके १७५७ फाल्गुन शुक्ल द्वितीया बुधवार सन् १८३६ फरवरी ता. १७ आधी घड़ी रात रहते बालक का जन्म हुआ। उस समय पूर्वाभाद्रपदा नक्षत्र का प्रथम चरण था। जन्मलग्न में रवि, चन्द्र और बुध थे और शुक्र, मंगल और शनि ये ग्रह उच्च स्थान में थे। उच्च ग्रहों पर गुरु की दृष्टि थी। जन्म कुंभलग्न के प्रथम नवांश में हुआ, सूर्योदय से इष्टकाल घटिका ५६ पल २८ था।

जन्म कुण्डली
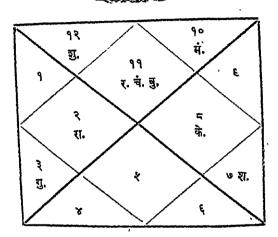
जन्मराशि—कुम्भ

जन्म नक्षत्र—पूर्वाभाद्रपदा प्रथम चरण

जन्म काल या } सूर्योदय से
इष्ट काल } ५९ घ. २८ प.

जन्मलग्न—कुम्भ—प्रथम नवांश

शुभमस्तु ॥

इस जन्मलग्न का फल भृगुसंहिता में इस प्रकार है—

धर्मस्थानाधिपे तुंगे धर्मस्थे तुंग खेचरे ।
गुरुणा दृष्टिसंयोगे लग्नेशे धर्मसंस्थिते ।

केन्द्रस्थानगते सौम्ये गुरौ चैव तु कोणभे।
स्थिरलग्ने यदा जन्म सम्प्रदायप्रभुः हि सः॥
धर्मविन्माननीयस्तु पुण्यकर्मरतः सदा।
देवमंदिरवासी च बहुशिष्यसमन्वितः।
महापुरुषसंज्ञोऽयं नारायणांशसम्भवः।
सर्वत्र जनपूज्यश्च भविष्यति न संशयः॥

" ऐसा व्यक्ति धर्मवित्, माननीय और पुण्य कर्मों में रत होगा। वह नया धर्म सम्प्रदाय शुरु करेगा और उसे अवतारी पुरुष मानकर सर्वत्र उसकी पूजा होगी।"

गया का स्वप्न इस तरह सत्य होते देख क्षुदिराम को बड़ा आनन्द और आश्चर्य हुआ और उनका हृदय भक्ति और कृतज्ञता से पूर्ण हो गया। गया में गदाधर ने स्वप्न में कृपा की उससे यह पुत्र हुआ, अतः क्षुदिराम ने इस बालक का नाम गदाधर रखा।

६—बालचरित्र और पितृवियोग।

"हमारे पिता शूद्र से दान कभी नहीं लेते थे।"

"दिनभर वे जप ध्यान पूजा में ही निमग्न रहा करते थे।"

"गांव वाले ऋषि के समान उनका आदर करते थे।"

—श्रीरामकृष्ण।

पुराणों में लिखा है कि श्रीराम, श्रीकृष्ण, इत्यादि अवतारी पुरुषों के मातापिता को उनके जन्म के पूर्व और पश्चात् अनेक दिव्य दर्शन प्राप्त होने के कारण अपने बालक के लिये हमें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है ऐसा पूर्ण रीति से विदित होने के बाद भी सन्ततिप्रेम के वश होकर उनके लालन पालन की चिन्ता होती थी। क्षुदिराम और चन्द्रादेवी की भी यही स्थिति हुई। पुत्र के मुख की ओर देखते ही उन्हें अपना स्वप्न और अन्य बातें विस्मृत हो जातीं थीं और उसके रक्षण और पालन की चिन्ता आ घेरती थी। चन्द्रादेवी के पुत्र होने का समाचार मेदिनीपूर मे रामचांद को विदित हुआ और अपने मामा की दरिद्र स्थिति जानकर उस बालक के दूध पीने के लिये एक दुहती गाय उन्होंने तुरन्त कामारपुकूर को भेज दी। इसी प्रकार बालक के लिये सभी आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध किसी न किसी प्रकार से हो गया और एक के बाद एक दिन बीतने लगे।

इधर इस अद्‌भुत बालक की आकर्षण शक्ति दिनों दिन बढ़ने लगी और मातापिता का ही नहीं, वरन् पड़ोस के सभी लोगों का, विशेष कर स्त्री समाज का, वह बालक जीवप्राण बन गया। स्त्रियों को जरा भी फुरसत मिलते ही वे चन्द्रादेवी के यहां चली आती थीं और आने का कारण पूछने से कहती थीं, "यह

तुम्हारा लाड़ला यहां है न! इसके कारण आना ही पड़ता है।" आसपास के गांवों से चन्द्रादेवी की रिश्तेदार स्त्रियां उसके घर बालक देखने के लिये बारम्बार आया करती थीं।

धीरे २ बालक पांच महिने का हो गया और उसके अन्नप्राशन का दिन आया। क्षुदिराम ने निश्चय कर लिया था कि अन्नप्राशन के समय केवल शास्त्रोक्त विधि का पालन किया जावेगा तथा श्री रामचन्द्र जी के नैवेद्य से ही अन्नप्राशन कराया जावेगा और केवल दो चार नज़दीकी लोगों को ही भोजन के लिये बुलौवा दिया जावेगा। पर हुई बात दूसरी ही। ग्राम की ब्राह्मण मंडली ने आग्रह किया कि अन्नप्राशन के दिन हम सब को भोजन कराओ। यह सुनकर क्षुदिराम को चिन्ता हुई। परन्तु गांव के ज़मींदार धर्मदास लाहा को यह बात मालूम होते ही उन्होंने इस कार्य के लिये क्षुदिराम को सहायता देने का वचन दिया और उनकी सहायता से क्षुदिराम ने गांव के ब्राह्मण तथा अन्य लोगों को भी भोजन देकर कार्य समाप्त किया।

गदाधर जैसे २ बड़ा होने लगा वैसे २ अपनी मधुर बाललीला से अपने मातापिता के हृदय को अधिकाधिक आनन्द देने लगा। पुत्रजन्म के पूर्व जो चन्द्रा भूलकर भी देवताओं से एक भी सांसारिक वस्तु नहीं मांगती थी वही चंद्रा अब रात दिन अपने बालक के कल्याण के लिये देवताओं से वरयाचना करने लगी। गदाधर ही अब उसके सब विचारों का विषय बन गया।

जब गदाधर ७।८ मास का था एक दिन प्रातःकाल उसकी माता ने उसे दूध पिला कर सुला दिया था और स्वयं गृहकाज में लग गई। थोड़ी देर के बाद लौट कर देखती है तो बिस्तर में गदाधर नहीं है और उसकी जगह एक अपरिचित दीर्घकाय मनुष्य सोया है। यह देख चंद्रा डर कर चिल्लाई और पति को बुलाने के लिये उस कमरे से दौड़ती निकली। क्षुदिराम जल्दी २ आया और दोनों उस कमरे में जाकर देखते हैं तो वहां कोई नहीं! गदाधर जैसा का तैसा सोया है! पर चन्द्रादेवी का भय इतने पर ही दूर नहीं हुआ। उसने पति से कहा—"तुम कुछ भी कहो, मैंने तो अपनी आँखों से उस पुरुष को देखा। तुम किसी ब्राह्मण या पंडित को

बुलाकर शान्ति कराओ।" क्षुदिराम ने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया, "डरो मत। इस बालक के सम्बन्ध में आज तक जो बहुतेरी विचित्र बातें हुई हैं उसी तरह की एक इसे भी समझो। विश्वास रखो कि यहां साक्षात् श्री रामचन्द्र जी पूजाघर में विराजमान हैं, बालक का अनिष्ट कदापि नहीं हो सकता।"

पति के इस आश्वासन से चन्द्रादेवी को धीरज हुआ पर उसका डर किसी तरह दूर नहीं हो सका। उस दिन उसने बालक के कल्याण के लिये न मालूम कितनी बार गद्गद हृदय से प्रार्थना की!

इस प्रकार ६।७ वर्ष बीत गये। इस अवसर में उल्लेखनीय बात केवल एक हुई और वह यह कि सन् १८३९ में चंद्रादेवी को सर्वमंगला नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई।

गदाधर की अलौकिक धारणाशक्ति और बुद्धिमत्ता का परिचय क्रमशः क्षुदिराम को होने लगा। जो बात वह एक बार सुन लेता था वह उसे प्रायः मुखाग्र पाठ हो जाया करती थी। पुनः उसे उस बात के पूछने से उसका बहुतेरा भाग वह ठीक २ कह देता था। क्षुदिराम ने यह भी देख लिया कि किसी २ विषय की ओर उसकी स्वाभाविक रुचि है और किसी २ विषय में वह स्वभावतः उदासीन है, फिर कुछ भी करो उसमें उसका जी नहीं लगता। चाहे जो प्रयत्न करो पहाड़े कहना उससे नहीं बनता था! तब क्षुदिराम ऐसा सोचता था कि अभी जल्दी किस बात की है? थोड़ा बड़ा होने पर सीख लेगा तो क्या हर्ज है? इस विचार से उसे पहाड़े सिखाने का क्रम उन्होंने बंद कर दिया।

पर गदाधर दिनों दिन अधिक ही उपद्रवी होने लगा। इस कारण उसे क्षुदिराम ने जल्दी ही पाठशाला में भरती करा दिया। गदाधर को भी समान उम्र वाले साथी मिलने के कारण आनन्द हुआ और धीरे धीरे उसके साथी और उसके शिक्षक उससे बड़ा प्रेम करने लगे।

पाठशाला गांव के ज़मींदार लाहा बाबू के घर के सामने ही थी और उसका सारा खर्च वे ही देते थे। शाला दो बार यानी सवेरे और तृतीय प्रहर में लगती थी। गदाधर जैसे सरीखे छोटे बालकों की पढ़ाई दोनों समय नहीं होती थी, परंतु

हाज़िरी उन्हें देनी पड़ती थी। अतः पढ़ाई के सिवाय बाक़ी समय को वह कहीं आसपास खेल में विताता था।

गदाधर के जन्म के पूर्व के स्वप्न पर से उसके भावी बड़प्पन की कल्पना सदैव मन में रहने के कारण—या उसका वैसा स्वभाव ही था इस कारण क्षुदिराम गदाधर से उसके उपद्रव या चापल्य के लिये कभी क्रुद्ध नहीं होते थे फिर मारना तो अलग रहा। ऐसे प्रसंगों पर वे उसे केवल मृदु शब्दों द्वारा उपदेश दिया करते थे। आगे चल कर गदाधर का उपद्रव बढ़ने लगा। कभी २ पाठशाला को न जाकर गदाधर अपने साथियों को लेकर गांव के बाहर खेलने चला जाता था तो कभी भजन, नाटक इत्यादि में चला जाता था; पर पूछने पर सदा सत्य बोलता था। उसी प्रकार वह उधम भी किया करता था पर उससे वह किसी का कभी नुकसान नहीं करता था।

परंतु गदाधर के संबंध में क्षुदिराम की अधिक चिंता का कारण दूसरा ही था। कोई काम क्यों किया जावे या क्यों न किया जावे इसका कारण उसे जंचने लायक न बता दिया जाता तो उसके मन में जो उचित दिखता वही आचरण वह करता था। क्षुदिराम सोचते कि हर बात का कारण समझने की इच्छा रखना बालक के लिये योग्य है पर प्रत्येक बात का कारण इसके समझने लायक इसे कौन बतावेगा? और यदि ऐसा कारण इसे नहीं बताया गया तो संसार में पूर्व परम्परा से प्रचलित धार्मिक विधियों को भी यह मान्य नहीं करेगा। गदाधर के इस स्वभाव के संबंध में इस अवसर की एक घटना पाठकों को बताने से वे क्षुदिराम की चिन्ता की यथार्थता का अनुभव कर सकेंगे।

ऊपर कह आये हैं कि क्षुदिराम के घर के पीछे ही एक हालदारपुकुर नाम का बड़ा तालाब था। उस तालाब में ग्राम के सर्व स्त्री पुरुष स्नान किया करते थे। इसमें पुरुषों और स्त्रियों के लिये अलग अलग दो घाट बने थे। गदाधर के समान छोटे बालक स्त्रियों के घाट पर भी नहाते थे। एक बार गदाधर अपने दो चार साथियों को लेकर स्त्रियों के घाट पर नहा रहा था। सभी बालक वहां पानी में कूद कूद कर एक दूसरे की ओर पानी

उछालने लगे। और उन लोगों ने बड़ी गड़बड़ मचा दी जिससे स्त्रियों को त्रास हुआ। उनके भी शरीर पर पानी पड़ जाने के कारण उनको क्रोध आ गया और एक स्त्री बोल उठी, " क्यों रे छोकरे ! क्यों आये तुम लोग इस घाट पर, उधर पुरुषों के घाट पर जाकर मचाओ उपद्रव ! यहां हम साड़ी और कपड़े धोती हैं, जानते नहीं स्त्रियों को विवस्त्र देखना मना है ? " इस पर गदाधर पूछ बैठा, " क्यों मना है ? " इस पर वह स्त्री बेचारी क्या बोलती। अतः उसे उस लड़के पर और भी गुस्सा आया। ये स्त्रियां बहुत क्रुद्ध हो गई हैं और शायद हमारे घर जाकर हमारे माँ बाप को बता दें इस भय से सभी लड़के वहां से भाग गये। गदाधर ने कुछ दूसरा ही कार्यक्रम निश्चित कर लिया। वह लगातार तीन दिनों तक उन स्त्रियों के घाट पर जाता रहा और एक झाड़ की ओट में छिपकर स्नान करती हुई स्त्रियों की ओर ध्यानपूर्वक देखने लगा! तीसरे दिन उस दिन की क्रुद्ध स्त्री से भेंट होते ही गदाधर उससे बोला, " काकी, मैंने परसों चार स्त्रियों की ओर उनके स्नान करते समय देखा, कल छः की ओर और आज तो आठ की ओर देखा पर मुझे तो कुछ भी नहीं हुआ ! " वह स्त्री गदाधर को लेकर चंद्रादेवी के पास आई और हंसते २ उसने उसे सब वृत्तान्त सुना दिया। यह सुनकर चंद्रादेवी बोली, " बाबू ! ऐसा करने से तुझे तो कुछ नहीं होगा सो तो सही है, पर ऐसा करने से स्त्रियाँ सोचती हैं कि उनका अपमान हुआ। उनको तो तू मेरे ही समान मानता है न ? तब क्या उनका अपमान मेरा अपमान नहीं है ? तो फिर नाहक उनके और मेरे मन में दुःख हो ऐसा करना क्या अच्छा है ? "

माता का यह मधुर उपदेश गदाधर के चित्त में जम गया और तब से उसने ऐसी बात कभी नहीं की। अस्तु।

पाठशाला में गदाधर की पढ़ाई ठीक चली थी। पढ़ना और लिखना उसे थोड़े ही समय में आ गया। गणित के प्रति उसे मन से ही घृणा थी। पर इधर उसकी अनुकरणशक्ति बढ़ने लगी। नई नई बातें सीखने का उसे बहुत शौक था। देवदेवताओं की मूर्ति बनाने वाले कुम्हार के यहां जाकर उसने वहां के सब कार्य ध्यानपूर्वक देखे और घर आकर उसने उसी तरह की मूर्तियां बनाना आरम्भ कर दिया। यह उसका एक नया खेल बन गया। नये कपड़ों पर के

चित्रों को देख कर वैसे चित्र खींचने लगा। गांव में कहीं पुराण हो तो वहां वह अवश्य जाता था और पूरी कथा ध्यान देकर सुनता था और पौराणिक महाराज के श्रोतृसमाज को समझाने की शैली को देखा करता था। अपनी अलौकिक स्मरणशक्ति के कारण जो कुछ वह देखता या सुनता था उसे वह सदा स्मरण रखता था।

इसके सिवाय जैसे २ उस बालक की आनन्दी वृत्ति, विनोदी स्वभाव और दूसरों की हू-ब-हू अनुकरण करने की शक्ति उम्र के साथ बढ़ती गई वैसे २ उसके मन की स्वाभाविक सरलता और ईश्वर भक्ति अपने मातापिता के प्रत्यक्ष उदाहरण से दिनोंदिन बढ़ने लगीं। बड़े होने पर भी दक्षिणेश्वर में हम लोगों के पास वे अपने मातापिता के इन सद्गुणों का गौरव-गान किया करते थे। इससे यह स्पष्ट है कि उनके मन पर उनके प्रत्यक्ष उदाहरण का बहुत अधिक परिणाम हुआ होगा। वे कहा करते थे, "मेरी माता सरलता की मानों मूर्ति थी! संसार की मामूली २ बातें वह नहीं समझती थी। उसे पैसे गिनना तक नहीं आता था! कौनसी बात दूसरों को बताना और कौनसी बात नहीं बताना यह भी उसे नहीं मालूम था! इस कारण सब लोग उसे "भोली" कहा करते थे। दूसरों को भोजन कराने में उसे बड़ा आनन्द आता था। हमारे पिता ने शूद्रों से दान कभी नहीं लिया। दिन भर वे पूजा, जप, ध्यान में ही निमग्न रहते थे। प्रतिदिन संध्या करते समय "आयातु वरदे देवि" इत्यादि मंत्रों से गायत्री का आवाहन करते समय उनका वक्षःस्थल आरक्त हो उठता था और नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती थी। पूजा आदि समाप्त होने पर वे बाकी समय नामस्मरण, पूजा की सामग्री तैयार करने और माला आदि गूँथने में बिताते थे। झूठी साक्षी देने के डर से उन्होंने अपने पूर्वजों की कमाई हुई सम्पत्ति को भी लात मार दी! इन सब गुणों के कारण ग्रामवासी ऋषि के समान उनका आदर करते थे!"

गदाधर बड़ा साहसी और निडर था। बड़े बड़े मनुष्य भी भूतों के भय से जहां जाने में हिचकते थे वहां वह खुशी से जाता था। उसकी बूआ (फूफू) रामशीला के शरीर में शीतला देवी का संचार हुआ करता था। एक समय वह कामार-

पुकूर में आई हुई थी तब एक दिन उसके शरीर में देवी का संचार हुआ। उसका हाथ पैर पटकना और बड़बड़ाना देख घर के सब लोग घबरा गये, पर गदाधर निर्भयतापूर्वक उसके पास जाकर उसकी अवस्था का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करके अपनी माता से कहने लगा, " फूफू के शरीर में जैसी देवी आई है वैसी मेरे भी शरीर में आवे तो क्या ही मज़ा हो ! "

भूरसुभो के माणिकराज का वृत्तान्त ऊपर कह ही चुके हैं। क्षुदिराम की धर्मपरायणता देखकर उन्हें उसके प्रति बड़ा आदरभाव था और वे क्षुदिराम को बारम्बार अपने यहां बुलाया करते थे। गदाधर के छठवें वर्ष लगने पर एक दिन उसके पिता उसे माणिकराज के यहां अपने साथ ले गये थे। वहां गदाधर का वर्ताव सब लोगों के साथ इतना मधुर और सरल था कि सभी को ऐसा मालूम होने लगा कि यह यहां नित्य आनेवाला परिचित लड़का है। माणिकराज के भाई रामजय उसे देखकर इतने मुग्ध हो गये कि वे क्षुदिराम से बोल उठे कि " तुम्हारा यह लड़का साधारण नहीं दिखाई देता, इसमें कुछ दैवी अंश है। तुम यहां आओ तो इसे सदा लाया करो, इसे देखकर बड़ा आनन्द होता है ! " इसके बाद किसी कारण बहुत दिनों तक क्षुदिराम का वहां जाना नहीं हुआ। माणिकराज को चैन नहीं पड़ती थी। उन्होंने अपने यहां की एक स्त्री को क्षुदिराम का कुशल प्रश्न पूछने तथा यदि सम्भव हो सके तो गदाधर को अपने साथ ले आने के लिये कामारपुकूर भेजा। पिता की अनुमति से गदाधर उस स्त्री के साथ बड़े आनन्द से भूरसुबो गया। दिन भर वहां रहने के बाद संध्या के समय माणिकराज ने उसके शरीर पर दो अलंकार पहिनाकर और साथ में मिठाई की दो पुड़ियाँ बांधकर उसे अपने घर वापस पहुँचवा दिया। क्रमशः गदाधर माणिकराज के घर में सभी को इतना प्रिय हो गया कि जब वह कुछ दिनों तक नहीं आता था तब माणिकराज उसे अपने घर लिवा ले जाते थे।

गदाधर अब सात वर्ष का हो गया (सन् १८४३) और मधुरता, सरल स्वभाव, आनन्दी वृत्ति इत्यादि गुणों से वह सब को अधिकाधिक प्रिय होने लगा। पड़ोस या मोहल्ले की स्त्रियां यदि किसी दिन मिष्टान्न पक्वान्न तैयार करतीं, तो उसमें से गदाधर का हिस्सा अवश्य अलग बचा रखतीं और अवकाश पाते ही

उसके घर जाकर उसे खाने को देतीं! गदाधर के हमजोली बालकों को यदि कोई कुछ खाने को देता, तो वे भी गदाधर के लिये कुछ भाग निकाल दिया करते थे। उसके मधुर भाषण, उसकी मीठी आवाज़ और उसके आनन्दी स्वभाव से मुग्ध होकर सभी लोग उसका उपद्रव सह लेते थे।

ईश्वर की कृपा से जन्म से ही गदाधर का शरीर गठीला और मज़बूत होने के कारण वह नीरोग प्रकृति का था। उसकी वृत्ति सदा किसी पक्षी के समान स्वतंत्र और आनन्दी थी। बड़े २ धन्वन्तरियों का कथन है कि शरीर का भास न होना ही शरीर के पूर्ण स्वास्थ्य का लक्षण है। इस प्रकार का स्वास्थ्य-सुख गदाधर को बचपन से ही प्राप्त था। उसका स्वाभाविक एकाग्र चित्त किसी विषय की ओर खिंच जाने पर वह इतना तन्मय हो जाता था कि उसे शरीर की बिल्कुल सुध ही नहीं रहती थी! शुद्ध पवन से लहराते हुए हरे भरे खेत, नदी का शान्त गंभीर स्वच्छ जल--प्रवाह, पक्षियों का कलकल नाद, विशेष-कर नीला आकाश और उसमें क्षण क्षण में रूप बदलने वाली मेघमाला इत्यादि दृश्यों में से किसी एक का भी प्रतिबिम्ब उसके शुद्ध मन पर पड़ते ही वह एकदम बेहोश हो जाता था और उसका मन किसी दूरस्थित भावमय प्रदेश में पहुँच जाता था। उसकी यह दशा उसकी असाधारण भावप्रवणता के कारण ही हुआ करती थी। एक समय गदाधर किसी खेत की मेढ़ पर से जा रहा था। उस समय आकाश में एक बिल्कुल काला बादल आ रहा था और उस बादल के सन्मुख दूध के समान सफेद बगुलें उड़ते जा रहे थे। इस दृश्य को देखते ही वह इतना तन्मय हो गया कि अचानक बेहोश होकर नीचे गिर पड़ा। सिर पर पानी सींचने से बहुत देर के बाद वह होश में आया।

ऐसी घटनाओं के कारण गदाधर के मातापिता और अन्य लोगों को चिन्ता होने लगी और यह मूर्च्छारोग स्थायी न होने पावे इस हेतु से उन्होंने औषधि प्रयोग और शान्ति कराना शुरू किया। गदाधर तो यही कहा करता था, " मुझे आनेवाली मूर्च्छा किसी रोगवश नहीं किन्तु इस स्थिति में मुझे अत्यन्त आनन्द का अनुभव होता है। " अस्तु। पर इससे उसके आरोग्य को कोई हानि

नहीं पहुँची। इसी से सब की चिन्ता कम हो गई। परन्तु पुनः किसी की कुदृष्टि न लगे इस गरज से चंद्रादेवी ने कुछ काल तक उसे पाठशाला ही जाने नहीं दिया। फिर क्या पूछना था, गदाधर की तो मौज हो गई। गांव भर मौज से घूमना, सारा दिन नाना प्रकार के खेलों में बिताना और मन माना उपद्रव करना ही उसका कार्यक्रम बन गया।

इस प्रकार गदाधर का सातवां वर्ष आधे से अधिक बीत गया। क्रमशः १८४३ सन् का शरद् महोत्सव आ पहुँचा। क्षुदिराम का भांजा रामचांद प्रायः वर्ष भर मेदिनीपुर में रहता था पर इस उत्सव के समय सेलामपूर—अपने पूर्वजों के निवास स्थान—में जाकर इस उत्सव को बड़े समारोह के साथ मनाता था। इस वर्ष के उत्सव में उसने अपने मामा क्षुदिराम को भी निमंत्रण दिया था। क्षुदिराम का ६८ वां वर्ष चला था। हाल ही में कुछ दिन तक संग्रहणी से बीमार होने के कारण उसका सुदृढ़ शरीर आजकल कमज़ोर हो गया था, अतः जाऊँ या न जाऊँ इस दुविधा में वह पड़ गया! पर मेरे दिन पूरे हो चुके हैं, अगला वर्ष मुझे देखने को मिलेगा या नहीं ऐसा सोचकर उसने जाने का निश्चय किया।

सेलामपूर पहुँचने पर एक दो दिनों के भीतर ही उसका रोग पुनः उमड़ा। रामचांद ने दवादारू कराई; षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी तीन दिन किसी तरह कटे; नवमी के दिन रोग बहुत बढ़ गया, सारी रात लोगों ने जागकर व्यतीत की। विजयादशमी का प्रभात हुआ। क्षुदिराम आज इतना कमज़ोर हो गया था कि उससे एक शब्द भी बोलते नहीं बनता था। दोपहर आया। रामचांद जान गया कि अब मामा का अन्तकाल समीप आ गया है। क्षुदिराम को निश्चेष्ट पड़े देखकर उसकी आँखें डबडबा गई और वह बोला, " मामा! आप सदाकाल 'रघुवीर' 'रघुवीर' जपा करते थे पर अभी ही ऐसे क्यों पड़े हैं?" "रघुवीर" नाम सुनते ही क्षुदिराम होश में आ गया और धीमे कांपते हुए स्वर में बोला, " कौन रामचांद? क्या प्रतिमा विसर्जन कर आये? अच्छा तो ठीक है। मुझे एक बार उठाकर बिठाओ तो सही?" ज्योंही रामचांद, हेमांगिनी और रामकुमार तीनों ने उसे हलके हाथों से उठाकर बिठाल दिया

त्योंही क्षुदिराम ने गंभीर स्वर से तीन बार "रघुवीर" नामोच्चारण करके प्राणत्याग कर दिया। बिन्दु सिन्धु में मिल गया। श्री रामचन्द्र जी ने अपने भक्त को अपने समीप खींचकर उसे शान्ति का अधिकारी बना दिया। तत्पश्चात् उस गंभीर रात्रि में उच्च संकीर्तन ने उस ग्राम को कंपा दिया और लोगों ने क्षुदिराम के नश्वर देह का नदी तट पर ले जाकर अग्निसंस्कार किया।

ज्योंही दूसरे दिन यह दारुण समाचार कामारपुकूर में क्षुदिराम के घर पहुँचा त्योंही वहां के आनन्द के बाजार में चारों ओर हाहाकार मच गया। अशौच (सूतक) की अवधि बीतने पर रामकुमार ने पिता की शास्त्रोक्त क्रिया की। रामचांद ने अपने प्यारे मामा के श्राद्ध के लिये रामकुमार को पांच सौ रुपये दिये।

७—गदाधर की किशोर अवस्था।

" दस ग्यारह वर्ष का था तब विशालाक्षी के दर्शन को जाते समय रास्ते में मुझे भावसमाधि लग गई। "

" बचपन में लाहा बाबू के घर पंडितों की मण्डली जो बातें करती थी प्रायः वे सब मेरी समझ में आ जाती थीं। "

—श्रीरामकृष्ण।

क्षुदिराम की मृत्यु से उसकी गृहस्थी उजाड़ हो गई। श्रीमती चंद्रादेवी ने उसकी सहचरी बनकर उसके सुख-दुःख में, गरीबी में और अमीरी में उसके साथ छाया के समान ४३ वर्ष व्यतीत किये थे; अतः क्षुदिराम की मृत्यु का सब से अधिक परिणाम उस पर होवे और उसे सारा संसार शून्य प्रतीत हो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। श्री रामचन्द्र जी के चरणकमलों का निरंतर ध्यान करनेवाला उसका मन अब संसार को त्यागकर सदा वहीं रहने के लिये छटपटाने लगा; मन संसार को छोड़ने के लिये तैयार हो गया पर संसार मन को छोड़े तब न ? सात वर्ष का गदाधर और चार वर्ष की सर्वमंगला उसके मन को धीरे धीरे संसार की ओर पुनः खींचने लगे; अतः श्री रामचन्द्र जी के चरणों में अपना सर्वस्व समर्पण करके अपने दोनों छोटे बच्चों की ओर देखकर पतिनिधन का दारुण दुःख किसी तरह भूलने का प्रयत्न करती हुई वह अपने दिन काटने लगी।

रामकुमार ज्येष्ठ पुत्र था। गृहस्थी का सब भार अब उसी के कंधे पर आ पड़ा। अतः उसे दुःख में व्यर्थ कालक्षेप करने का अवसर ही न था। शोक-सन्तप्त परमपूज्य जननी, छोटे भाई और बहिन के दुःख को भुलाने के लिये

और किसी प्रकार की कमी उन्हें मालूम होने न पावे इसके लिये क्या करना चाहिये, मझले भाई रामेश्वर का अध्ययन किस तरह पूर्ण हो और वह गृहस्थी में सहायता देने लगे, खुद की कमाई कैसे बढ़े इस तरह एक दो नहीं अनेकों चिन्ताओं से उसका मन सदा व्याकुल रहता था। उसकी स्त्री भी गृहकार्यों में कुशल थी। अपनी पूज्य सास की दारुण विपत्ति को देखकर गृहकार्य का बहुतेरा भार उसने अपने सिर पर ले लिया। कहावत है कि "बालपन में मातृवियोग, लड़कपन में पितृवियोग और तरुणावस्था में स्त्रीवियोग के समान दुःखदायक और कुछ नहीं होता।" बालपन प्रायः माता की संगति और लालन पालन में बीतता है, उस समय यदि पितृवियोग हुआ तो पुत्र को उस वियोग की जानकारी नहीं होती। पर जब कुछ समझने लायक होने पर पिता के अमूल्य प्रेम का उसे लाभ होने लगता है, माता जो लाड़ पूरा नहीं करती उन्हें पिता पूरा करने लगता है और इस कारण उसे माता के प्रेम की अपेक्षा पिता के प्यार का अनुभव अधिक होने लगता है उस समय यदि पितृवियोग हो जाय तो फिर उसके दुःख का पारावार नहीं रहता। यही अवस्था गदाधर की हुई। प्रतिक्षण पिता का स्मरण होने के कारण उसे सर्वत्र अंधेरा दिखाई देने लगा। परंतु उसकी बुद्धि इस छोटी अवस्था में भी अन्य बालकों की अपेक्षा अधिक परिपक्व होने के कारण उसने अपना दुःख माता की ओर ख्याल करके बाहर प्रगट होने नहीं दिया। सभी को मालूम पड़ता था कि गदाधर पूर्ववत् ही चैन और आनन्द में दिन बिता रहा है। गांव के पास के ही "भूतों के स्मशान", "माणिकराज की अमराई" इत्यादि जनशून्य स्थानों में उसे कभी २ अकेले घूमते देखकर भी लोगों को उसके इस तरह घूमने में किसी विशेष कारण की शंका नहीं होती थी। उन्हें तो यही मालूम होता था कि "लड़का नटखट है, आया होगा योंही भटकते!" बस इतना ही। परन्तु गदाधर का स्वभाव पिता की मृत्यु के समय से एकांतप्रिय और विचारशील बन गया था।

समदुःखी मनुष्यों का आपस में आकर्षण होता है। गदाधर के मन में अपनी माता के प्रति अब और अधिक प्रेम उत्पन्न हो गया था इसका शायद यही कारण हो। वह अब आगे की अपेक्षा अधिक समय अपनी माता के

ही समीप व्यतीत करता था और पूजा इत्यादि कर्मों में और गृहकार्य में आनन्दपूर्वक उसे मदद करता था, क्योंकि अपने समीप रहने से उसका दुःख कुछ कम हो जाता है यह उस चतुर और बुद्धिमान बालक के ध्यान में आने लगा था। पिता की मृत्यु के समय से वह कभी भी अपनी माता के पास हठ नहीं करता था क्योंकि उसे अब मालूम होने लगा था कि यदि माता मेरी हठ पूरी न कर सकी तो उसे बहुत बुरा लगेगा और उसकी शोकाग्नि अधिक भड़केगी।

गदाधर पूर्ववत् पाठशाला जाने लगा, पर शाला की अपेक्षा पुरान और भजन सुनने और देव-देवियों की मूर्ति तैयार करने में उसका ध्यान अधिक लगता था। इस समय इसका ध्यान और एक बात की ओर था। वह यह है। गांव के आग्नेय में जगन्नाथपुरी जाने की राह में गांव के ज़मींदार लाहा बाबू की धर्मशाला थी। वहां जगन्नाथ जाने वाले साधु, वैरागी ठहरते थे और गांव में भिक्षा मांगते थे। गांव में पुराण सुनते समय गदाधर ने सुना था कि "संसार अनित्य है" इत्यादि और बाप की मृत्यु से इस बात का प्रत्यक्ष ज्ञान उसके शुद्ध और कोमल मन में उत्पन्न हो गया था। साधु, वैरागी इस अनित्य संसार को छोड़कर श्री भगवान् के दर्शनार्थ उसकी सेवा में ही अपना काल बिताते हैं और ऐसे साधुओं की संगति से मनुष्य शान्ति प्राप्त करके कृतार्थ होता है यह बात भी उसने सुनी थी। अतः ऐसे साधुओं का परिचय प्राप्त करने की इच्छा से वह कभी २ धर्मशाला में जाया करता था। प्रातः सायं धूनी में अग्नि प्रज्वलित करके वे भगवच्चिंतन में कैसे निमग्न हो जाते हैं; जो भिक्षा मिलती है उसे वे प्रथम इष्टदेवता को समर्पण करके तत्पश्चात् आनन्द से उसे प्रसाद जानकर कैसे ग्रहण करते हैं; बीमार पड़ने पर वे भगवान् पर भार सौंपकर बीमारी के दुःख को किस तरह शान्ति के साथ सहन करते हैं; जो मिलता है उसी में वे कैसे प्रसन्न रहते हैं; इत्यादि बातें इस बुद्धिमान बालक की तीक्ष्ण दृष्टि से नहीं छूटीं। क्रमशः गदाधर ने साधु वैरागियों की छोटी मोटी सेवा करना, उनके लिये लकड़ी पानी इत्यादि ला देना, उनका स्थान झाड़ बुहार देना शुरू किया और उनके साथ मिलकर रहने भी लगा। उन साधु वैरागियों को भी इस सुन्दर बालक के मधुर आचरण को देखकर आनन्द मालूम होता था और वे लोग

उन्हें नाना प्रकार के दोहे, गीत, भजन आदि सिखाते थे, कथाएँ सुनाते थे, उपदेश देते थे और अपने भिक्षान्न में से थोड़ा प्रसाद भी खाने को दे देते थे।

गदाधर के अष्टम वर्ष में ऐसे ही कुछ साधु उस धर्मशाला में बहुत दिनों तक ठहरे थे। गदाधर उन्हीं में मिलकर रहने लगा और शीघ्र ही वह उनका प्रीतिपात्र बन गया। पहिले पहल तो गदाधर धर्मशाला के साधु बैरागियों में मिल जाया करता है यह बात किसी के ध्यान में नहीं आई, पर जब वह दिन भर में बारम्बार वहां जाने लगा तब यह बात सब को विदित हो गई। किसी २ दिन बैरागी लोग इसे कुछ खाने को दे देते थे और घर आने पर वह अपनी माता से सब बातें बताकर "मुझे अब भूख नहीं है" कह देता था। पहिले तो इसे केवल साधुओं की एक प्रकार की कृपा समझ कर माता को कोई चिन्ता नहीं हुई; परन्तु एकाध दिन अपने सर्वाङ्ग में विभूति रमाकर या किसी दिन टीका लगाकर या एकाध दिन साधुओं की सी लंगोटी बांध या पंछा लपेटकर घर पर आकर वह माता से कहता था, "देख, अम्मा! मुझे साधुओं ने कैसा सुन्दर सजा दिया है!" तब तो चन्द्रादेवी को चिन्ता होने लगती थी। उसे मालूम होने लगा कि ये साधु फकीर मेरे गदाधर को फँसाकर कहीं ले तो नहीं जावेंगे? एक दिन गदाधर के घर लौटने पर माता का हृदय भर आया और पुत्र गदाधर को हृदय से लगाकर आँखों से आंसू बहाती हुई वह कहने लगी, "बाबू, सँभलकर चलना भला, वे लोग तुझे फँसाकर ले जावेंगे।" गदाधर ने अपनी ओर से माता के इस भय का निवारण किया, पर माता के मन का संशय दूर नहीं हुआ। तब अपने कारण माता को दुःख होते देख गदाधर बोला, "अच्छा! अम्मा! आज से मैं वहां जाऊंगा ही नहीं तब तो ठीक होगा न?" यह सुनकर चंद्रादेवी के जी में जी आया और मन का भय दूर हुआ।

उस दिन संध्या समय धर्मशाला में जाकर गदाधर ने उन साधुओं से कह दिया कि "आज से मैं आप लोगों की सेवा करने नहीं आऊंगा।" इसका कारण पूछने पर उसने सब वृत्तान्त खोलकर बता दिया। यह सुनकर गदाधर के साथ ही वे साधु लोग उसके घर आये और चंद्रादेवी को

आश्वासन देकर बोले, "बालक को इस तरह फँसाकर ले जाने का विचार कभी हमारे मन में भी नहीं आया और हम ऐसा कभी नहीं करेंगे; हम लोग संन्यासी, फकीर हैं। हम बिना कारण किसी अल्पावस्था के बालक को उसके माता-पिता की अनुमति बिना कैसे ले जावेंगे? ऐसा करना तो घोर पाप है। अतः इस विषय में निश्चित रहो।" यह सुनकर चंद्रादेवी का सर्व संशय बिल्कुल दूर हो गया और साधु लोगों की इच्छा के अनुसार पुनः जाने के लिये माता ने गदाधर को अनुमति दे दी।

लगभग इसी अवधि में एक और घटना हुई जिससे चंद्रादेवी को गदाधर के विषय में चिन्ता होने लगी। कामारपुकूर से एक मील पर आनूर गांव है। वहां श्री विशालाक्षी देवी का जागृत स्थान है। एक दिन गांव की बहुत सी स्त्रियां कोई मानता पूरी करने के लिये देवी के मंदिर को जा रही थीं। उन्हीं में धर्मदास लाहा की विधवा बहिन प्रसन्न भी थी।

प्रसन्न की सरलता, पवित्रता इत्यादि गुणों के विषय में श्रीरामकृष्ण की उच्च धारणा थी और उसके कहने के अनुसार व्यवहार करने के लिये उन्होंने अपनी धर्मपत्नी को आज्ञा दे रखी थी। वे अपने स्त्री भक्तों के समक्ष भी प्रसन्न के गुणों का वर्णन करते थे। प्रसन्न का भी गदाधर पर अत्यन्त स्नेह था। कभी २ तो यह प्रत्यक्ष भगवान् "गदाधर" है ऐसा भी उसे मालूम पड़ता था। सरलहृदया प्रसन्न गदाधर के मुख से देवादिकों के भक्तिपूर्ण गायन सुनकर कह उठती थी, "गदाई! तू साक्षात् भगवान् है ऐसा बीच बीच में क्यों लगता है? तू कुछ भी कहे पर तू कुछ मनुष्य नहीं है यह निश्चय है।" अस्तु।

स्त्रियों को जाते देखकर गदाधर बोला, "मैं भी आता हूं।" स्त्रियों ने प्रथम तो "तू मत आ। रास्ता दूर का है, थक जायगा" इत्यादि बहुतेरी बातें कहकर देखी, पर गदाधर ने न माना। तब निरुपाय हो उसे आने की अनुमति दी। गदाधर को बड़ा आनन्द हुआ और वह देवताओं के गीत गाते २ उनके साथ चलने लगा।

इस तरह गदाधर आनंद से देवी के गीत गाते २ चला जा रहा था कि अचानक उसकी आवाज़ रुक गई, आँखों से अश्रुधारा बहने लगी और वह अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। बेचारी स्त्रियां बड़े संकट में पड़ गईं। कोई इधर उधर से पानी लाकर सिर पर सींचें, तो कोई हवा करें, कोई देवी को मानता मानने लगी, परन्तु गदाधर को चेतना ही न आवे। तब एकदम प्रसन्न के मन में विचार आया कि गदाधर के शरीर में देवी तो नहीं आई है? कारण कि सरल स्वभाव के भक्तिपरायण लोगों के शरीर में देवी (का भाव) आती है यह उसका विश्वास था। तुरन्त ही उसने स्त्रियों को देवी की प्रार्थना करने को कहा। उसके पुण्यचरित्र पर स्त्रियों की बड़ी श्रद्धा थी, सो उसके ऐसा कहते ही सभी स्त्रियों ने मनःपूर्वक देवी की प्रार्थना की और आश्चर्य की बात यह है कि देवी की पुकार शुरू करते ही थोड़ी देर में गदाधर सावधान होकर उठ बैठा। उसके शरीर में कमज़ोरी या थकावट के कोई चिन्ह भी नहीं थे। यह देख स्त्रियों को विश्वास हो गया कि इसके शरीर में देवी का संचार हुआ था। अस्तु। तत्पश्चात् सब कोई देवी को गईं। वहां से लौटकर उन्हों ने सारी हक़ीक़त चन्द्रा-देवी को सुनाई। इसे सुनकर चन्द्रादेवी को बड़ी चिन्ता हुई और उसने गदाधर की कुदृष्टि उतारकर श्री रघुवीर की और विशालाक्षी देवी की अपने पुत्र के कल्याणार्थ पुनः पुनः प्रार्थना की।

अस्तु। डेढ़ वर्ष और बीते। गदाधर धीरे २ अपने पिता की स्मृति भूलने लगा। धर्मदास लाहा के पुत्र गयाविष्णु के साथ इस समय गदाधर की बड़ी मैत्री हो गई यहां तक कि दोनों सदा एक साथ ही रहते थे। खाना, खेलना, पढ़ना, लिखना दोनों का एक साथ होने लगा। गदाधर को स्त्रियां प्रेमपूर्वक खाने के लिये बुलाती थीं तो यह गयाविष्णु को साथ लिये बिना कहीं न जाता। इस प्रकार दोनों का अकृत्रिम प्रेम देखकर धर्मदास और गदाधर के घर के लोगों को बड़ा आनंद होता था।

गदाधर का नौवां वर्ष समाप्त होते देख रामकुमार ने उसका उपनयन कराना निश्चय किया। धनी ने गदाधर से एक बार यह मांगा था कि व्रतबंध

के समय तू प्रथम भिक्षा मुझ से लेना। उसके अकृत्रिम प्रेम से मुग्ध होकर गदाधर ने भी यह बात कबूल कर ली थी। गदाधर कहने के अनुसार करने में चूकने वाला नहीं है इस विश्वास के कारण धनी बड़ी आनंदित हो गई और वह बड़े प्रयत्न से चार पैसे जोड़कर उपनयन की बाट जोहती थी। उपनयन के कुछ दिनों पूर्व धनी से की गई प्रतिज्ञा की बात गदाधर ने रामकुमार को बताई। परंतु उनके कुल में ऐसी प्रथा न होने के कारण रामकुमार चिन्ता में पड़ गया। और गदाधर ने भी हठ पकड़ ली। वह कहने लगा कि यदि मैं ऐसा न करूंगा तो मुझे असत्य बोलने का दोष लगेगा और असत्य भाषी को जनेऊ धारण करने का अधिकार कदापि नहीं है। उपनयन का दिन समीप आया और गदाधर के इस हठ के कारण उपनयन की नियत तिथि बढ़ानी पड़ेगी यह चिन्ता रामकुमार को होने लगी। यह बात धर्मदास लाहा के कान में पड़ी तब उसने रामकुमार को बुलाकर समझाया कि ऐसी प्रथा; यदि तुम्हारे कुल में नहीं है तो न सही पर यह किसी २ कुलीन ब्राह्मणों के कुटुम्बों में पाई जाती है। लड़के को समझाने के लिये तुम्हें भी वैसा करने में कोई हानि नहीं है। धर्मदास के सरीखे सयाने की सलाह मानकर रामकुमार निश्चिंत हुआ और गदाधर के इच्छानुसार आचरण करने में उसने कोई आपत्ति नहीं की। गदाधर ने प्रथम भिक्षा धनी से ही ग्रहण की और गदाधर की भिक्षामाता बनने का सौभाग्य पाकर वह अपने को परम धन्य मानने लगी।

लाहा बाबू के घर में एक दिन पंडित मंडली जमी थी। चार पंडित एक जगह बैठे हों वहां विवाद की कौन कमी? कुछ प्रश्न उपस्थित होकर पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष चलने लगे! वाद रंग में आने लगा! वाद बढ़ते २ एक ऐसा विकट प्रश्न मंडली के सामने उपस्थित हुआ कि उसका उचित उत्तर किसी को न सूझा। उस दिन गदाधर वहीं था। उसका उपनयन अभी ही हुआ था। उस प्रश्न को सुनकर उसने अपने समीप ही बैठे हुए एक परिचित पंडित से कहा, "क्यों जी, क्या इस प्रश्न का उत्तर ऐसा नहीं होगा?" उसे वह ठीक जँचा; अतः उसने वह उत्तर दूसरे को सुझाया। अंत में सभी को वह उत्तर स्वीकृत हुआ। इस उत्तर के सुझाने वाले का पता लगाने पर जब मालूम हुआ कि यह एक नौ दस

वर्ष के बालक ने दिया है तो सभी के आश्चर्य की सीमा न रही। सभी ने यह समझकर कि यह बालक निश्चयरूप से दैवीशक्तिसंपन्न होना चाहिये, उसकी प्रशंसा की और उसे आशीर्वाद दिया।

उपनयन होने पर गदाधर को देवपूजा का अधिकार प्राप्त हो गया। एक तो पहिले से ही उसका हृदय भक्तिपूर्ण था और अब तो अधिकारी हो जाने पर संध्यावंदन आदि करके वह अपना बहुत सा समय पूजा तथा ध्यान में लगाने लगा। अपने पिता के समान उसे भी बीच २ में दर्शन प्राप्त हों, स्वप्न दिखें, इस हेतु से उसने मनःपूर्वक देवों की सेवा और भक्ति आरम्भ की। पवित्र मन वाले गदाधर पर देवों ने भी कृपा की जिससे बीच २ में उसे भावसमाधि आने लगी और दिव्य दर्शन होने लगे।

उसी वर्ष महाशिवरात्रि के दिन गदाधर ने उपवास किया और यथाविधि महादेव की पूजा अर्चा की। उसके साथी गयाविष्णु ने भी वैसा ही उपवास किया और रात को सीतानाथ पाईन के घर होने वाली शिव चरित्र नाटक देखकर जागरण करने का निश्चय किया। प्रथम प्रहर की पूजा समाप्त करके गदाधर शिव का ध्यान करते बैठा था, इतने में उसके कुछ साथी आये और वे गदाधर से कहने लगे कि "शंकर का काम करने वाला लड़का अचानक बीमार हो गया। अतः उसके स्थान में आज तुझे वह काम करना चाहिये।" गदाधर ने उत्तर दिया कि "इससे पूजा में विघ्न होगा; इसलिये मैं यह काम नहीं करता।" साथी लोगो नें नहीं माना और कहने लगे कि शिव का पार्ट लेने से तेरे मन में शिव के ही विचार दौड़ते रहेंगे! यह काम क्या पूजा से कम है? यदि आज तूने यह काम नहीं किया तो लोगों को कितनी उदासी होगी, भला इसका तो कुछ विचार कर।" उनका यह आग्रह देख गदाधर राज़ी हो गया।

नाटक का समय आया। गदाधर को शिवरूप सजाया गया। वह शिव का चिन्तन करते हुए अपने कार्य के समय की राह देखते बैठा रहा। समय आते ही जब वह परदे के बाहर निकला तो उसकी उस रुद्राक्षधारी, जटामंडित, विभूति-भूषित शिवमूर्ति को देखकर सभी कह उठे, " यह तो यथार्थ में शंकर के समान

दिख रहा है।" इधर शिव के ध्यान में गदाधर इतना तन्मय हो गया कि उसका भाषण और गायन बन्द होकर उसे भावसमाधि लग गई। मंडप में सर्वत्र गड़बड़ी मच गई। गदाधर को उठाकर भीतर ले गये और उसके शरीर पर पानी इत्यादि सींचा गया तब बहुत समय के बाद वह सचेत हुआ। उस दिन की नाटक इस तरह बन्द करनी पड़ी।

उस दिन से गदाधर को समय २ पर भावसमाधि लगने लगी। देवताओं का ध्यान करते २, उनकी स्तुति के गाने सुनते २ वह इतना तन्मय हो जाता था कि कुछ काल पर्यंत वह अपना देहभान भी भूल जाता था। जिस दिन यह तन्मयता अत्यंत बढ़ती थी उस दिन तो उसका बाह्य-ज्ञान बिल्कुल नष्ट होकर उसका शरीर काष्ठ के टुकड़े के समान जड़ होकर पड़ा रहता था। सचेत होने पर पूछने से बताता था कि "जिस देवता का मैं ध्यान कर रहा था या जिसकी स्तुति सुन रहा था उस देवता का मुझे दिव्य दर्शन हुआ।"

गदाधर की यह दशा देखकर माता और अन्य स्वजनों को बड़ा डर लगता था। पर जब उन्होंने देख लिया कि इस अवस्था से गदाधर के स्वास्थ्य को कोई हानि नहीं पहुँचती तो उनका डर बहुत कम हो गया। गदाधर की धार्मिक प्रवृत्ति इस समय से बढ़ने लगी और गांव में कहीं भी उत्सव, जयन्ति इत्यादि हो तो वहां वह जाने लगा और अन्तःकरणपूर्वक वहां के कार्य में सम्मि-लित होने लगा। इस प्रकार धार्मिक वृत्ति तो अवश्य बढ़ी पर विद्याभ्यास में वह पिछड़ गया। बड़े २ पंडित, तर्कालङ्कार इत्यादि पदवी विभूषित नामांकित विद्वान भी ऐहिक भोगसुख और कीर्ति के लिये किस तरह लालायित रहते हैं यह उस तीक्ष्ण दृष्टिसम्पन्न गदाधर ने इस अल्प वय में ही जान लिया था। इसी कारण उनके समान विद्या प्राप्त करने के सम्बन्ध मे वह अधिकाधिक उदा-सीन हो चला था। इस समय उसकी सूक्ष्म दृष्टि सब लोग किस उद्देश से कार्य करते हैं यही देखने की ओर लगी थी और अपने पिता के वैराग्य, ईश्वरभक्ति, सत्यनिष्ठा, सदाचार, धर्मपरायणता इत्यादि अनेक सद्गुणों का अपने सामने आदर्श रखकर उनकी तुलना से वह दूसरों का मूल्य निश्चित करने लगा! पुराण

में संसार की क्षणभंगुरता का वर्णन सुनकर ऐसी स्थिति में संसार में रहकर दुःख भोगने वाले लोगों के विषय में उसे बड़ा अचरज लगता था और दुःख होता था और मैं ऐसे अनित्य संसार में कदापि नहीं रहूंगा ऐसा वह अपने मन में निश्चय करने लगता था। ग्यारह बारह वर्ष की छोटी अवस्था में ऐसे गंभीर विचार गदाधर के मन में कैसे आते थे इसकी शंका या आश्चर्य करने का कोई कारण नहीं है; क्योंकि उसकी बुद्धि, प्रतिभा और मानसिक संस्कार सभी तो अलौकिक और असाधारण थे। अस्तु।

विद्याभ्यास के सम्बन्ध में गदाधर की उदासीनता का भाव अधिकाधिक बढ़ने लगा तथापि वह अभी भी पूर्ववत् पाठशाला को जाता था। उसका पढ़ना (वाचन) अब बहुत सुधर गया था। रामायण, महाभारत इत्यादि धर्मग्रंथ वह ऐसी भक्ति से ऐसा सुन्दर पढ़ता था कि सुनने वाले तन्मय हो जाते थे। गांव के सीधे सादे सरल हृदय वाले लोग उसे इन ग्रंथों के पढ़ने का आग्रह करते थे और वह उन लोगों के मन को कभी दुःखित नहीं होने देता था। इस प्रकार सीतानाथ पाईन, मधुयुगी इत्यादि अनेक लोग उसे अपने घर ले जाते और समाज एकत्र करके गदाधर के मुख से प्रल्हाद चरित्र, ध्रुवोपाख्यान, या महाभारत रामायण में से कोई कथा बड़ी भक्ति और भाव के साथ सुना करते थे। वैसे ही गांव के और आसपास के गावों के देवी देवताओं के गीत सदा गदाधर के कान में पड़ा करते थे, उन्हें भी वह अपनी असाधारण स्मरणशक्ति के कारण सुनकर मन में रख लेता था और कभी २ तो उन्हें लिख भी डालता था। गदाधर की स्वहस्त लिखित "रामकृष्णायन पोथी", "योगाद्या का गीत", "सुबाहु गीत" इत्यादि कामारपुकुर में उनके घर में हमने प्रत्यक्ष देखे हैं। पीछे कह आये हैं कि गणित से गदाधर को घृणा थी। पाठशाला में इस विषय में उसकी बहुत कम प्रगति हुई। जोड़, बाकी, गुणा, भाग और कुछ कोष्टक इतना ही उसके गणित विषय का ज्ञान था। परन्तु दसवें वर्ष से समय २ पर उसे भावसमाधि आने लगी थी। इस कारण उसके घर के लोगों ने उसे चाहे जिस समय शाला जाने की, और जितना मन चाहे उतना ही अभ्यास करने की अनुमति दे दी थी। शिक्षकों को भी यह बात विदित होने के कारण वे गदाधर को तंग नहीं करते थे। इस कारण गदाधर का गणित का अभ्यास वहीं रुक गया।

क्रमशः गदाधर का बारहवां वर्ष आरम्भ हुआ। उसके मझले भाई रामेश्वर का २२ वां और छोटी बहिन सर्वमंगला का नदवां वर्ष आरम्भ हुआ। रामेश्वर को विवाह योग्य हुआ देखकर रामकुमार ने उसका विवाह कामारपुकूर के पास हीं के गौरहाटी ग्राम के रामसदय वन्द्योपाध्याय की भगिनी के साथ कर दिया और रामसदय के लिये अपनी वहिन सर्वमंगला दे दी।

भाई और बहिन के विवाह हो जाने पर रामकुमार उस चिंता से तो मुक्त हुआ, पर अब उसके पीछे दूसरी चिन्ताएँ आ लगीं। उसकी पत्नी इसी समय गर्भवती हुई जिससे उसे एक प्रकार का आनन्द तो हुआ, पर " प्रसूतिकाल में मेरी पत्नी मरेगी " यह उसे पहिले से ज्ञात होने के कारण वह अत्यन्त चिन्ताग्रस्त रहने लगा। वैसे ही छोटे भाई रामेश्वर का विद्याभ्यास समाप्त हो गया था, पर अभी वह कोई कमाई नहीं करता था। इस कारण गृहस्थी की स्थिति पहले की अपेक्षा और भी अधिक गिरती जाती थी; अब इसका क्या उपाय किया जावे यह भी उसकी सतत चिन्ता का एक कारण था।

प्रसूतिकाल जैसे २ समीप आने लगा वैसे २ रामकुमार की मानसिक चिन्ता बढ़ने लगी। अन्त में १८४६ के साल में एक दिन उसकी पत्नी एक अत्यन्त सुंदर पुत्ररत्न को जन्म देकर संसार से चल बसी। इस घटना से रामकुमार की दारिद्रयमय गृहस्थी पर पुनः शोक की छाया पड़ गई!

८—यौवन का आरम्भ।

" छुटपन में जब बुद्धि की शाखाएँ नहीं फूटी रहतीं उस समय मन सहज ही ईश्वर में लग जाता है। बड़ी आयु में बुद्धि की शाखाएँ फूटने पर वही मन ईश्वर में लगाने से भी नहीं लगता।"

—श्रीरामकृष्ण।

रामकुमार की सहधर्मिणी का स्वर्गवास होने के बाद उसकी गरीब गृहस्थी में दुःख अधिक बढ़ गया, सम्पत्ति कम हो गई, और गृहस्थी की दिनों दिन अवनति होने लगी। उसकी डेढ़ बीघा ज़मीन से गुज़र के लिये किसी तरह अनाज पूरा पड़ जाता था, पर कपड़े लत्ते आदि नित्योपयोगी अन्य वस्तुओं का अभाव प्रति दिन बढ़ते चला। इसके सिवाय वृद्धा माता और मातृहीन शिशु अक्षय को रोज़ दूध की आवश्यकता रहती थी। यह सब खर्च कर्ज़ से किसी तरह चलाना पड़ता था और कर्ज़ भी दिनों दिन बढ़ने लगा। अपनी साम्पत्तिक स्थिति सुधारने के लिये उसने अनेक प्रयत्न किये, पर सब व्यर्थ हुए। तब उसने इष्टमित्रों की सलाह से अन्यत्र जाने का निश्चय किया। ऐसा करने का दूसरा कारण यह था कि जिस घर में उसने अपनी पत्नी के साथ २० वर्ष बिताये थे वहां उसका पग २ पर स्मरण होने की संभावना थी। अतः उस घर से चार कदम दूर रहने से मानसिक शान्ति मिल सकेगी यह सोचकर उसने अपना गांव छोड़कर कलकत्ता जाने का निश्चय किया और पत्नी की मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद रामेश्वर को गृहस्थी का भार सौंपकर रामकुमार कलकत्ता चला गया और वहां झामापुकूर मोहल्ले में उसने एक पाठशाला खोली।

इधर रामकुमार की पत्नी के मरने से गृहस्थी के सभी कामों का भार चन्द्रादेवी पर पुनः आ पड़ा। रामकुमार के पुत्र अक्षय को संभालने में रामेश्वर की स्त्री उसे थोड़ी बहुत सहायता देती थी, पर वह भी तो छोटी उमर की थी। अतः गृहस्थी के काम काज, देव सेवा, अक्षय का पालन पोषण इत्यादि सभी कार्यों का बोझ ५८ वर्ष की आयु में उस पर दुबारा आ पड़ने से उसे क्षण भर भी अवकाश नहीं मिलता था।

रामेश्वर को भी चार पैसे कमा कर गृहस्थी ठीक २ चलाने की चिन्ता होने लगी, परन्तु उसे गृहस्थी चलाने के लायक धन कभी नहीं मिला। उलटा उसका बहुत सा समय संन्यासी वैरागियों के साथ बीतता था और उन लोगों को जो चीज़ आवश्यक होती थी वह चीज़ यदि उसके घर में हो तो उसे उनको दे देने में वह किञ्चित् भी आगे पीछे नहीं सोचता था। सम्पत्ति तो घर में थी ही नहीं और खर्च था बहुत—इससे पहिले का कर्ज़ कम न होकर उलटा बढ़ने लगा। संसारी होकर भी वह संचयी नहीं हो सका और आय से व्यय अधिक करते हुए "रामजी किसी तरह पूरा कर देंगे" ऐसा कहते हुए निश्चिन्त बैठे रहने के सिवाय उसने कुछ किया ही नहीं।

रामेश्वर गदाधर पर बहुत प्रेम करता था। परन्तु उसके विद्याभ्यास की ओर वह ध्यान नहीं देता था। एक तो उसे इस विषय में रुचि ही नहीं थी और दूसरे उसे गृहस्थी की चिन्ता और अन्य झंझटों के कारण समय भी नहीं मिलता था। गदाधर की धार्मिक वृत्ति देखकर उसे बड़ा आनन्द आता था और यह आगे चलकर कोई महापुरुष होगा ऐसा समझकर उसके विषय में वह निश्चिन्त रहा करता था। इस प्रकार रामकुमार के कलकत्ता चले जाने बाद कोई देखने-वाला न होने के कारण गदाधर बिल्कुल स्वतंत्र हो गया और अपना शुद्ध और धर्मपरायण मन जिस ओर ले जाता था उसी ओर प्रसन्नतापूर्वक जाने लगा।

पीछे कह आये हैं कि इस अल्पायु में ही गदाधर की बुद्धि बड़ी प्रखर थी। उसने देख लिया कि विद्योपार्जन लोग केवल पैसा कमाने के लिये करते हैं।

भला बहुत विद्वान् होने पर भी अपने पिता के समान धर्मनिष्ठा, सत्यता और भक्ति कितने लोगों में पाई जाती है ? पैसे के सम्बन्ध में गांव के झगड़ों को देखकर उसके मन में यही धारणा हो गई थी कि पैसा ही सब अनर्थों का मूल है। सब ऐसी अर्थकारी विद्या के और अनर्थकारी अर्थ के सम्बन्ध में उदासीन होकर उसने ईश्वर-प्राप्ति को ही जीवन का ध्येय मान लिया इसमें कोई अचरज की बात नहीं है। अपने सहपाठियों के साथ वह पाठशाला को तो जाता था पर वह अपना बहुत सा समय देवताओं की पूजा अर्चा और गृहस्थी के कार्यों में अपनी माता को सहायता देने में बिताता था।

पड़ोस की स्त्रियों को गदाधर बड़ा प्यारा था और आजकल तो प्रायः तीसरे प्रहर तक घर में ही रहने के कारण जब वे चन्द्रादेवी के पास जाती थीं तो वहां गदाधर को देखकर उससे पद भजन इत्यादि गाने के लिये कहा करती थीं और यदि वह उस समय चन्द्रादेवी को गृहकार्यों में मदद देने में लगा हो तो ये सब स्त्रियां मिलकर चन्द्रादेवी का काम काज आप ही निपटा दिया करती थीं जिससे कि गदाधर भजन गाने के लिये फ़ुरसत पा जावे। यह गदाधर का प्रतिदिन का कार्यक्रम हो चला था। किसी दिन स्त्रियों को भी बिना गये अच्छा नहीं लगता था; अतः वे दोपहर को अपना कार्य शीघ्र निपटा कर चन्द्रादेवी के घर को दौड़ जाया करती थीं। गदाधर इन सरल स्वभाव धर्मपरायण स्त्रियों को कभी पुराण पढ़कर सुनाता था, कभी भजन गायन सुनाता था और कभी विशेष प्रसिद्ध व्यक्ति का अनुकरण करते हुए उसी हाव भाव के साथ भाषण देकर उन्हें हँसाया करता था। गदाधर की आवाज़ बहुत मधुर थी और वह इतना तन्मय होकर देवताओं के भजन गाता था कि ये स्त्रियां भी क्षणभर अपना देहभान भूल जाती थीं। एकाध बार भजन गाते २ ही गदाधर को भावसमाधि लग जाती थी और उसके अन्त होते तक ये स्त्रियां बड़े भक्तिभाव से उसकी ओर देखती रहती थीं। इसके जन्म के पूर्व माता-पिता को स्वप्न होने की बातें इन स्त्रियों को विदित थीं और उसी के अनुरूप इसकी धार्मिकता, निःसीम भक्ति और आकर्षक शक्ति को प्रत्यक्ष देख ये स्त्रियां गदाधर को कोई भावी महान् सत्पुरुष समझ कर बड़ा प्रेम करती थीं। हमने सुना है कि धर्मदास लाहा की बहिन प्रसन्न और कुछ अन्य स्त्रियों को एक दिन गदाधर की ओर देखते २ श्रीकृष्णचन्द्र

का दर्शन हुआ था और दूसरी भी बहुत सी सरल अन्तःकरण वाली स्त्रियां इसके अलौकिक गुणों को देखकर इसे देवता ही समझती थीं।

कभी २ गदाधर स्त्रीवेष धारणकर स्त्रियों के समान अभिनय और भाषण करता था। उसका अभिनय इतना सजीव होता था कि अनजान मनुष्य "यह पुरुष है" यह भी पहिचान नहीं सकता था। इसी प्रकार स्त्रीवेष में गदाधर एक बार अन्य स्त्रियों के साथ हलधरपुकूर तालाब से पानी भर लाया, पर उसे किसी ने नहीं पहिचाना! उस गांव में गूजर गली में सीतानाथ पाईन नामक एक श्रीमान सज्जन रहते थे। उनकी स्त्री और कन्या गदाधर पर बड़ा स्नेह रखती थीं। वे गदाधर को कई बार अपने घर ले जाकर उससे भजन गायन सुना करती थीं। कई बार उसे स्त्रीवेष देकर उसके हावभाव देखतीं और उसके स्त्रियों के समान भाषण सुना करती थीं। सीतानाथ गदाधर को बहुत चाहते थे; अतः उसे उनके यहां जाने की सदा स्वतंत्रता थी।

उसी गली में एक दूसरे सज्जन दुर्गादास पाईन रहते थे। गदाधर पर उनका बड़ा प्रेम था। परन्तु उनके यहां परदे की प्रथा बड़ी कड़ी थी। गदाधर को वे अपने यहां की स्त्रियों के समाज में जाने नहीं देते थे। अपने घर की परदा प्रणाली का उन्हें बड़ा अभिमान था। वे बड़ी शेखी से कहते थे, "मेरे घर की स्त्रियां कभी किसी की नज़र में नहीं पड़तीं।" सीतानाथ इत्यादि अन्य गृहस्थों के घर परदे की चाल नहीं थी, इस कारण वे इन गृहस्थों को अपने से हलके दर्जे के मानते थे। एक दिन किसी सज्जन के पास दुर्गादास अपने यहां के परदे की बड़ाई कर रहे थे। इतने में गदाधर वहां सहज ही आ पहुँचा और उनकी बड़ाई सुन कर कहने लगा, "परदे से क्या कभी स्त्रियों की पवित्रता की रक्षा होती है? अच्छी शिक्षा और देवभक्ति से ही यह रक्षा संभव है। यदि इरादा करूं तो आपके घर के परदे की सभी स्त्रियों को देख सकूंगा और उनकी सब बातें जान सकूंगा।" दुर्गादास बड़े गर्व से बोले, "कैसे देखता है देखूं भला?" गदाधर ने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया, "किसी दिन समय आवेगा तब देखूंगा।" और यह कह कर वहां से चलता हुआ। बाद में किसी दिन संध्या समय किसी को बिना बताये स्त्रीवेष लेकर अपना मुख वस्त्र से ढांक लिया और बगल में एक

टोकनी लेकर दुर्गादास के दरवाज़े पर खड़ा होकर बोला, "पास के गांव से बाज़ार में दूसरी स्त्रियों के साथ सूत बेचने आई थी, पर वे मुझे छोड़कर चली गई इसलिये रात बिताने को जगह ढूंढती हूं। क्या आप मुझे अपने यहां आज रात भर के लिये जगह देवेंगे?" दुर्गादास ने उससे उसका नाम गांव पूछा और भी एक दो प्रश्न पूछकर कहा, "अच्छा, भीतर स्त्रियों के पास जाओ और वे जहां बतावें वहीं रात भर रहो।" बड़ी कृतज्ञता से प्रणाम करके गदाधर भीतर गया और वहां भी वही किस्सा बताकर "आज की रात बिताने के लिये जगह दो" ऐसी विनती की और तरह २ की बातचीत गपशप करके उन सब स्त्रियों को मुग्ध कर डाला। वे स्त्रियां उसकी तरुण अवस्था और मधुर भाषण से मोहित हो गई और उन्होंने उसे रात को सोने के लिये एक कोठरी दी और कुछ फलाहार की सामग्री भी दी! गदाधर ने घर की सब बातें सुभीते के साथ बारीकी से देख लीं। इधर इतनी रात होने पर भी गदाधर कैसे नहीं लौटा ऐसी चिन्ता चन्द्रादेवी को होने लगी और उसने उसे ढूंढने के लिये रामेश्वर से कहा। उसके जाने के सभी स्थानों को रामेश्वर ने ढूंढ डाला। सीतानाथ के घर तलाश किया, पर गदाधर का पता न लगा। तब दुर्गादास के घर के पास खड़ा होकर उसने योंही गदाधर का नाम लेकर दो तीन बार पुकारा। तब रामेश्वर की आवाज़ को पहिचान कर और अब रात्रि अधिक हो गई है यह देख गदाधर ने भीतर से ही "आता हूं भय्या" उत्तर दिया और दरवाज़े की तरफ दौड़ पड़ा। दुर्गादास इन बातों को उसी समय जान गया और यह गदाधर मुझे धोखा देकर परदे के भीतर प्रवेश कर गया ऐसा समझ कर उसे बहुत क्रोध आया, परन्तु उसका वह स्त्रीवेष और वह भाषण और चालढाल किस तरह हू-ब-हू स्त्रियों के समान थी यह सोचकर और इस लड़के ने मुझे अच्छा चकमा दिया इस विचार से उसे बड़ी हँसी आने लगी। शीघ्र ही यह बात गांव भर में फैल गई और सब कहने लगे कि गदाधर ने दुर्गादास का घमण्ड अच्छा चूर किया। तदुपरांत सीतानाथ के यहां जब कभी गदाधर आवे तब उसने अपने यहां की स्त्रियों को भी वहां जाने की अनुमति दे दी।

इस गूजर गली में और भी स्त्रियों के मन में गदाधर के प्रति क्रमशः बड़ा स्नेह उत्पन्न हो गया। गदाधर कुछ दिनों तक सीतानाथ के घर न आवे तो

सीतानाथ उसे विशेष रूप से बुलवाता था। सीतानाथ के यहां पद गायन करते २ कभी २ गदाधर को भावावेश आ जाता था और उसे देख कर तो स्त्रियों की भक्ति उस पर अधिक होने लगती थी। कहते हैं कि भावसमाधि के समय स्त्रियां श्रीगौराङ्ग या श्रीकृष्ण के भाव से गदाधर की पूजा करतीं थीं। श्रीकृष्ण का वेष उसे सोहता था; अतः उसके लिये एक सोने की मुरली, एक सुन्दर मुकुट और स्त्रीवेषोपयोगी सर्व सामग्री इन स्त्रियों ने संग्रह कर रखी थी।

धार्मिकता, पवित्र आचरण, तीक्ष्ण बुद्धि, मधुर स्वभाव, गंधर्व के समान स्वर और प्रेमयुक्त सरलता के कारण गदाधर पर कामारपुकूर की स्त्रियां कितना प्रेम करती थीं सो हमने स्वयं उन्हीं में से कुछ स्त्रियों के मुंह से सुना है। सन् १८९३ में वैशाख मास के प्रारम्भ में हम स्वामी रामकृष्णानंद जी के साथ कामार-पुकूर देखने गये थे तब हमें सीतानाथ पाईन की पुत्री श्रीमती रुक्मिणी देवी के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय उनकी आयु ६० वर्ष की थी। गदाधर के बाल्यकाल की वार्ता पूछने पर उन्होंने बताया:—

" उस समय हमारा घर यहां से उत्तर की ओर बिल्कुल समीप ही था। अब वह सब गिर पड़ा है। मेरी आयु तब १७। १८ वर्ष की रही होगी। उस समय हमारा घर किसी श्रीमान की हवेली के समान था। सीतानाथ पाईन मेरे पिता थे। हमारे घर चचेरी बहिन, फुफेरी बहिन, ममेरी बहिन, मिलकर हम १७-१८ बहिनें होती थीं। हम सब लगभग समवयस्क ही थीं। बचपन से गदाधर हमारे बीच खेला करता था और उस पर हम सब प्रेम किया करती थीं। हमारे बड़े होने पर भी वह हमारे यहां आता था। वह हमारे पिता को बड़ा प्यारा था और उस पर वे अपने इष्टदेव के समान भक्ति और प्रीति करते थे। उस मोहल्ले के कोई २ उनसे कहते थे कि " अब लड़कियां बड़ी हो गईं, उनमें गदाधर को मिलने मत दो। " तो वे कहते थे कि " इसकी चिन्ता तुम मत करो। मैं गदाधर को अच्छी तरह जानता हूं। " गदाधर हमारे यहां आकर पुराण की कथाएँ कहता था। पद-भजन गाया करता था और हमारी दिल्लगी करके हमें हँसाता था। यह सब सुनते हुए हम अपना २ काम बड़े आनन्द से करती

रहती थीं। उसके समीप रहने से समय न जाने कितनी जल्दी कट जाता था। किसी दिन वह न आवे तो उसे कुछ हो तो नहीं गया यही चिन्ता हमें होने लगती थी और चैन नहीं पड़ती थी। हममें से ही कोई चन्द्रादेवी के पास जाकर उसका समाचार न ले आवे तब तक हमारे प्राणों में प्राण नहीं रहता था। उसके सम्बन्ध की हर एक बात हमें अमृत के समान मधुर लगती थी। अतः वह जिस दिन हमारे घर न आवे उस दिन उसीकी बातें करते हम अपना दिन बिताया करती थीं।

वह केवल स्त्रियों को ही नहीं वरन् गांव के छोटे बड़े पुरुषों को भी बड़ा प्यारा था। गांव के छोटे बड़े सभी लोग रोज सायंकाल के समय एक स्थान पर जमा होकर भागवतादि पुराण ग्रंथ को बड़ी भक्ति से पाठकर आनन्द लूटते थे। वहां गदाधर भी अवश्य रहता था। उसके रहने से मानों सभी के आनन्द सागर में बाढ़ आ जाती थी, क्योंकि उसके समान पुराण वांचना, भक्ति-भावपूर्वक पौराणिक कथाएँ कहना और भिन्न २ देवताओं के पद और भजन गाना किसी को भी नहीं आता था। गाते २ भाव में तन्मय होकर नाचना प्रारम्भ कर दे तब तो सभी के अन्तःकरण भक्तिपूर्ण होकर उनके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती थी। एकाध बार सुन्दर २ बातें बताकर मनोरंजन करता था और स्त्रियों के समान हू-ब-हू अभिनय द्वारा सभी को चकित कर देता था। कभी २ तो ऐसी मजेदार बातें बताता था कि सुनने वाले पेट दबाकर हँसते थे और हँसने में लोटपोट हो जाते थे। उसके इन गुणों के कारण बालक तथा वृद्ध सभी उसे अपने पास रखना चाहते थे। संध्या समय होते ही सभी उसके आने की राह उत्कंठा के साथ देखा करते थे।

जैसी २ गदाधर की भक्ति बढ़ने लगी वैसे २ उसे निश्चय होने लगा कि अपना जीवन अर्थकरी विद्या में प्रवीणता प्राप्त करने में खर्च करने के लिये नहीं है वरन् ईश्वर की प्राप्ति करने के लिये ही है। संन्यासियों के गेरुए वस्त्र, पवित्र अग्नि, भिक्षान्न और उनके निःसंग विचरण का चित्र इसकी आँखों के सामने सदा झूलने लगा। "क्या मैं भी कभी उनके समान ईश्वर को सब भार सौंपकर पूर्ण निर्भय और संसार से पूरा उदासीन होऊंगा?"—यही विचार उसके

मन में वारम्बार आया करता था। पर तुरन्त ही अपनी माता की और भाई की संसारिक स्थिति का ध्यान उसे हो आता था और उन्हें गृहस्थी चलाने में सहायता देना अपना कर्तव्य है ऐसा विचार मन में आने से उसका मन दुविधा में पड़ जाता था। अन्त में "जो ईश्वर करेगा वही ठीक है।" ("राम कीन चाहहि सो होई") ऐसा जानकर अपने मन को परमेश्वर के चरणों में समर्पित करके और सब भार उन्हीं पर डाल कर ईश्वर की ओर से ही कोई आदेश पाने की राह देखने लगता था।

गदाधर का हृदय स्वभाव से ही विलक्षण सहानुभूतिसम्पन्न था। तिसपर गांव में सभी प्रकार के और सभी अवस्था के लोगों से मिलने जुलने और उनके सुखदुःखों को देखने के कारण वह सहानुभूति और अधिक बढ़ गई थी। उनके सुखदुःखों को अपना ही मानने का उदार भाव उसके हृदय में उत्पन्न हो गया था। उन सरल स्वभाव वाले लोगों का जो उस पर अपार प्रेम था उसका उसे स्मरण हो आता और वारम्वार उसे यही मालूम होता कि यदि इन्हें परमेश्वर की भक्ति सिखाकर मैं इनके दुःखों की मात्रा कम करके सुख को बढ़ा सकूं तो कितना अच्छा हो?

ऐसे विचारों के होते हुए भी वह पाठशाला को जाया ही करता था। अपने गयाविष्णु इत्यादि साथियों की संगति में उसे बड़ा आनन्द आता था और यदि मैं उनसे बार बार न मिलूं तो उन्हें बुरा लगेगा यह सोचकर पाठशाला को जाता था। लगभग इसी समय उसके साथियों ने एक छोटी सी नाटक कम्पनी बनाने का निश्चय किया। पात्रों को उनका काम सिखाने के लिये सर्व सम्मति से गदाधर ही को उन्होंने नियुक्त किया। पर यह कम्पनी चले कैसे? किसी को मालूम न होते हुए इसका कारोबार कैसे चले? क्योंकि बालक जानते थे कि यह बात यदि अपने पालकों को विदित हो गई तो सब टॉय. २ फिस्स् हो जावेगी। तब इसके लिये कौन सी युक्ति की जावे? अन्त में गदाधर ने सुझाया कि हम सब माणिक राज की अमराई में एकत्रित हों तो यह बात कोई नहीं जान पावेगा। सभी को यह विचार ठीक लगा और निश्चय हुआ कि सब कोई रोज़ नियत समय पर पाठशाला से भागकर वहां एकत्र हुआ करें।

निश्चय हो जाने पर कार्य में क्या देर लगती है ? शीघ्र उस अमराई में बालकों के भाषण और गायन गूंजने लगे। वे राम, कृष्ण आदि के चरित्रों के नाटक तैयार करने लगे। बोलने, तथा अभिनय करने का ढंग भिन्न २ पात्रों को सिखाकर मुख्य भूमिका गदाधर स्वयं करता था। थोड़े ही दिनों में नाटक रंगता हुवा देखकर बालकों को आनन्द होने लगा। कहते हैं कि भिन्न २ पात्र का कार्य करते हुए गदाधर को कभी २ भावसमाधि लग जाया करती थी।

गदाधर का बहुत सा समय इस प्रकार बीत जाने के कारण वह अपने प्रिय विषय चित्रकार्य में उन्नति नहीं कर सका। तथापि उसका ज्ञान इस विषय में बिल्कुल साधारण नहीं था। एक दिन वह अपनी बहिन से मिलने गौरहाटी ग्राम को गया था। बहिन के घर में प्रविष्ट होते ही सर्वमंगला आनन्दपूर्वक पति-सेवा करती हुई उसे दिखाई दी। घर लौटने पर उसने उसी दृश्य का एक चित्र खींचकर घर के सभी लोगों को दिखाया। सभी उस चित्र में सर्वमंगला और उसके पति को पहिचान गये।

देवदेवियों की बहुत उत्तम मूर्तियां गदाधर बना लेता था। कई बार तो ऐसी मूर्ति बनाकर वह अपने साथियों के साथ उसकी पूजा अर्चा करता था।

इस प्रकार और भी तीन वर्ष हां हां कहते बीत गये और गदाधर को १७ वां वर्ष लगा। वहां कलकत्ता में रामकुमार की पाठशाला उसके अथक परिश्रम से अच्छी उन्नत अवस्था को पहुँच चुकी थी और अब उसमें उसे चार पैसे की कमाई भी होने लगी थी। वह वर्ष में एक बार कामारपुकुर आता था और कुछ दिन वहां रहता था। गदाधर को विद्याभ्यास के सम्बन्ध में उदासीन देखकर उसे बड़ी चिन्ता होती थी। सन् १८५३ में जब वह घर आया तब उससे इस विषय में चन्द्रादेवी और रामेश्वर से बातें होने के बाद यह निश्चय हुआ कि गदाधर रामकुमार के साथ जाकर कलकत्ता में रहे। रामकुमार वहां अकेला ही रहता था। उसे घर का काम करते हुए पाठशाला चलाने में बड़ा कष्ट होता था। अतः गदाधर के वहां जाने से उसका विद्याभ्यास भी होगा और रामकुमार को भी उससे कुछ सहायता मिलेगी यही सोचकर यह निश्चय किया गया था। गदाधर से उस

विषय में पूछने पर वह तुरन्त ही राज़ी हो गया और अब मैं अपने पितृतुल्य भाई को कुछ सहायता दे सकूंगा इस विचार से उसे सन्तोष हुआ।

थोड़े ही दिनों के बाद सुमुहूर्त देखकर रामकुमार और गदाधर दोनों ने अपने कुलदेव और माता की वन्दना करके कलकत्ता के लिये प्रस्थान किया (सन् १८५३)। कामारपुकूर के आनन्द का बाज़ार उखड़ गया और वहां के निवासी गदाधर के गुणों का स्मरण करते हुए अपने दिन व्यतीत करने लगे।

साधक भाव।

(विषय प्रवेश)

" मनुष्य-देह धारण करने पर सभी कार्य मनुष्यों के समान होते हैं, ईश्वर को मनुष्य के समान ही सुख-दुःख का भोग करना पड़ता है, और मनुष्य के ही समान उद्योग और प्रयत्न करके ही सब विषयों में पूर्णता प्राप्त करनी पड़ती है।"

" आचार्य को सभी अवस्थाओं का स्वयं अनुभव प्राप्त करना पड़ता है।"

" यहां (मेरे द्वारा) सब प्रकार के साधन ज्ञान-योग, भक्ति-योग, कर्म-योग और हठ योग भी—आयुष्य बढ़ाने के लिये—सम्पन्न हो चुके।"

" मुझे कोई भी साधन करने के लिये तीन दिनों से अधिक समय नहीं लगा।"

" मेरी अवस्था उदाहरण स्वरूप है।"

—श्रीरामकृष्ण।

संसार के आध्यात्मिक इतिहास को पढ़ने से पता लगता है कि बुद्ध देव और श्री चैतन्य देव को छोड़ और किसी भी महापुरुष की साधक अवस्था का वृत्तान्त लिखा हुआ नहीं है। अदम्य उत्साह और अनुराग से हृदय को भरकर ईश्वरप्राप्ति के कठिन मार्ग में प्रगति करते हुए उनकी मानसिक स्थिति में कैसे २

परिवर्तन होते गये, उन्हें अपनी आशाओं और निराशाओं से किस प्रकार झगड़ना पड़ा, उन्होंने अपने दोषों पर विजय किस तरह प्राप्त की और भी अनेकों विघ्न उनके मार्ग में कैसे आये और सदैव अपने ध्येय की ओर ही दृष्टि रखते हुए ईश्वर पर पूर्ण विश्वास रखकर उन्होंने उन विघ्नों को किस तरह दूर किया इत्यादि बातों का सविस्तर वर्णन उनके जीवन चरित्रों में नहीं पाया जाता।

इसका कारण मालूम होना कठिन है। शायद भक्ति की प्रबलता के ही कारण उनके भक्तों ने ये बातें लिखकर न रखी हों। उन महापुरुषों के प्रति परमेश्वर के समान भक्ति रहने के कारण उनके भक्त लोग "साधनकाल का इतिहास लिखकर उस देवचरित्र की असम्पूर्णता संसार को न बताना ही अच्छा," ऐसा समझे हों। या उन्होंने यह सोचा हो कि महापुरुषों के चरित्र में से सर्वांगपूर्ण भाव ही संसार के सामने रखने से जितना लोककल्याण सम्भव है उतना कल्याण साधनकालीन असम्पूर्ण भाव को बताने से न हो सके।

हमारे आराध्य देव सर्वांगपूर्ण हैं यही भावना भक्तों की सदा रहती है। मानवशरीर धारण करने के कारण उनमें मानवोचित दौर्बल्य या शक्तिहीनता कभी २ दिखना सम्भव है यह बात भक्त नहीं मानता। वह तो उनके बालमुख में विश्व ब्रह्माण्ड के दर्शन के लिये ही उत्सुक रहता है। बाल्यकाल की असम्बद्ध चेष्टाओं में भी वह (भक्त) पूर्ण बुद्धि और दूर दृष्टि का पता लगाते रहता है। इतना ही नहीं वह (भक्त) तो उस छोटी बाल्यावस्था में भी सर्वज्ञता सर्व-शक्तिमत्ता, उदारता और अगाध प्रेम की खोज किया करता है। इसी कारण भक्त लोग जो कहते हैं कि "अपना ईश्वरीय रूप संसार को विदित न होने पावे इस हेतु से अवतारी पुरुष साधन भजन इत्यादि कार्य औरों के समान करते हुए आहार, निद्रा, थकावट व्याधि इत्यादि भी वे दूसरों के समान अपने में व्यर्थ ही झूटमूठ दिखाते हैं।" इस वाक्य में कोई विचित्रता नहीं है। श्रीरामकृष्ण की अन्तिम व्याधि के सम्बन्ध में इसी प्रकार की आलोचना होते हम लोगों ने प्रत्यक्ष सुनी है।

भक्त लोग अपनी दुर्बलता के ही कारण इस प्रकार का सिद्धान्त निकाला करते हैं। उन्हें भय लगता है कि अवतारी पुरुषों को मनुष्य के ही समान जानने

से हमारी भक्ति की हानि होगी। अतः हमें ऐसे लोगों के विरुद्ध कुछ नहीं कहना है। पर सच तो यह है कि भक्ति परिपक्व न होने के कारण ही यह दुर्बलता उनमें हुआ करती है। भक्ति की प्रथम ही अवस्था में भगवान को ऐश्वर्यविहीन बनाकर चिन्तन करना भक्त के लिये सम्भव नहीं होता; पर भक्ति जब परिपक्व हो जाती है, ईश्वर पर उसका प्रेम अत्यन्त बढ़ जाता है तब उसे दिखता है कि ऐश्वर्य का चिन्तन भक्तिलाभ के मार्ग में बड़ा विघातक है और तब तो वह ऐश्वर्य की कल्पना को दूर रखने का प्रयत्न करता है। यह बात भक्तिशास्त्र में बार बार बताई गई है। श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व का प्रमाण बार बार पाने पर भी यशोदा उन्हें अपना पुत्र ही समझ कर लालन पालन करती थी। श्रीकृष्ण ईश्वर हैं यह निश्चय गोपियों को हो जाने बाद भी वे उन्हें अपने सहचर की ही दृष्टि से देखती थीं। अन्य अवतारों के भी सम्बन्ध में यही बात पाई जाती है।

यदि कोई श्रीरामकृष्ण के पास भगवान की अलौकिक शक्ति–उनके ऐश्वर्य–का प्रत्यक्ष दिखने लायक कोई दर्शन करा देने के लिये आग्रह करता था तो वे बहुधा यही कहते थे, "अरे भाई! इस प्रकार के दर्शन की इच्छा करना ठीक नहीं है। ऐश्वर्य के दर्शन से मन में भय उत्पन्न होता है और भोजन कराना, सजाना, लाड़ प्यार करना, "मैं, तू" करना इस प्रकार प्रेम का (या भक्ति का) भाव नहीं रह पाता।" यह उत्तर सुनकर उनके भक्तों को कई बार ऐसा लगता था कि हमें ऐसा दर्शन करा देने का इनके मन में ही नहीं है। इसलिये हमें किसी तरह समझा रहे हैं। ऐसे समय यदि कोई अधिक धृष्टता से कहता था कि "आप-की कृपा से सब सम्भव है, आप कृपा कर हमें इस प्रकार का दर्शन करा ही दीजिये।" इस पर वे बड़ी नम्रता से कहते थे, "अरे, क्या मैं करूंगा कहने से कुछ होगा? माता की जैसी इच्छा होगी वैसा ही होगा!" इतने पर भी चुप न रह कर यदि कोई कहता कि "आप इच्छा करेंगे तो माता को भी इच्छा होगी ही!" तब वे कहते थे कि मेरी तो अत्यन्त इच्छा है कि तुम सब को सब प्रकार की अवस्था और सब प्रकार के दर्शन प्राप्त हों, पर वैसा होता कहां है?" इतने पर भी यदि उस भक्त ने अपना हठ नहीं छोड़ा तो वे हँसकर कहते, "क्या बताऊँ रे बाबा! माता की जो इच्छा वही होगा!"—ऐसा कहते हुए भी उसके विश्वास को वे कदापि नष्ट नहीं करते थे। यह व्यवहार हम लोगों ने

कई बार प्रत्यक्ष देखा है और उन्हें हमने वारम्वार यह कहते भी सुना है कि "किसी का भाव कभी नष्ट नहीं करना चाहिये!"

अन्तिम दिनों में जब श्रीरामकृष्ण गले के रोग से काशीपूर के बगीचे में बीमार थे उस समय नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानंद) इत्यादि भक्तगण उनके बताये हुए मार्ग से साधना करने में निमग्न रहा करते थे। साधनाओं के प्रभाव से दूसरे के शरीर में केवल स्पर्श से धर्मभाव संचारित करने की थोड़ी बहुत शक्ति उस समय नरेन्द्र को उत्पन्न हो चुकी थी और शिवरात्रि के दिन रात्रि को ध्यान में निमग्न रहते हुए अपनी इस शक्ति का प्रयोग करके देखने की उसे प्रबल इच्छा हुई। पास ही काली (स्वामी अभेदानंद) बैठा था। उसको नरेन्द्र ने कहा कि मुझे कुछ देर तक स्पर्श करते हुए बैठो और स्वयं नरेन्द्र गंभीर ध्यान में निमग्न हो गया। काली उसके घुटने को हाथ लगाये हुए लगातार कांप रहा था। एक दो मिनट में ध्यान की समाप्ति करके नरेन्द्र ने कहा, "बस! तुम्हें क्या अनुभव हुआ बताओ तो सही?"

काली बोला, "बिजली की ब्याटरी पकड़ने पर अपने शरीर में जिस प्रकार के संचार का भास होता है और सर्वांग कांपता है वैसा ही हुआ। हाथ कांपने न देने का प्रयत्न भी निष्फल हुआ।"

इस पर कोई कुछ नहीं बोला। द्वितीय प्रहर की पूजा होने बाद काली ध्यानस्थ होकर बैठा और उसमें वह इतना तन्मय हो गया कि उसका वैसा ध्यान किसी ने कभी नहीं देखा था। शरीर टेढ़ा मेढ़ा हो गया, गर्दन भी टेढ़ी हो गई और कुछ समय तक उसका बाह्य संसार का ज्ञान बिल्कुल नष्ट हो गया।

प्रातःकाल शशी (स्वामी रामकृष्णानंद) नरेन्द्र के पास आकर बोला, "* ठाकुर तुम्हें बुलाते हैं।" सन्देशा सुनते ही नरेन्द्रनाथ उठे और दूसरी मंजिल पर

---

* श्रीरामकृष्ण को उनकी भक्तमण्डली "ठाकुर", "महाशय" कहा करती थी।

श्रीरामकृष्ण के कमरे में जाकर उन्हें प्रणाम करके खड़े रहे। उन्हें देखते ही श्रीरामकृष्ण बोले, "क्यों रे ? कुछ थोड़ा सा जमा होना शुरू होते न होते ही खर्च शुरू कर दिया ? पहिले अपने पास पर्याप्त संचय होने दे तब तुझे कहां और कैसे खर्च करना यह मालूम होगा—माता ही तुझे समझा देगी। उसके शरीर में तूने अपना भाव संचारित करके तूने उसको कितना नुकसान पहुँचाया है ? देख भला ? वह इतने दिनों तक एक भाव से जा रहा था उसका सारा भाव नष्ट हो गया !—छः मास के गर्भपात के समान हो गया। अस्तु। हुआ सो हुआ पुनः इस प्रकार एकदम कुछ का कुछ न करते जाना। अस्तु। उस लड़के का भाग्य ठीक दिखता है।"

नरेन्द्रनाथ कहते थे, "मैं तो यह सुनकर चकित ही हो गया। हम नीचे क्या करते थे सो सब ठाकुर ऊपर बैठे ही बैठे जान गये। उनके इस प्रकार कान ऐंठने से मैं तो एक अपराधी के समान चुप ही हो गया।"

तत्पश्चात् यथार्थ में यही दिखाई दिया कि काली का पूर्व का भाव तो नष्ट हो ही गया, पर नये अद्वैतभाव को धारण करने के लिये उसका मन तैयार नहीं रहने के कारण उस भाव को भी वह यथायोग्य धारण नहीं कर सकता था। इस कारण उसका व्यवहार किसी नास्तिक के समान होने लगा। श्रीरामकृष्ण ने उसे इसके पश्चात् अद्वैतभाव का ही उपदेश करना प्रारम्भ किया और अपने सदा के मीठे तरीके से वे उसे उसकी गलती दिखलाने लगे। तथापि श्रीरामकृष्ण के समाधिस्थ होने के बाद भी कई दिनों तक उसका आचरण पूर्ववत् नहीं सुधर पाया था। अस्तु।

सत्य को प्राप्त करने के लिये अवतारी पुरुष जो प्रयत्न किया करते हैं उसे स्वांग समझने वाली भक्त मण्डली से हमारा यही निवेदन है कि श्रीरामकृष्ण के मुँह से हमने ऐसी बात कभी नहीं सुनी वरन् इसके विपरीत अनेकों बार उन्हें ऐसा कहते सुना है कि "नरदेह धारण करने पर सभी कार्य मनुष्य के समान ही होते हैं। ईश्वर को मनुष्यों के समान ही सुख-दुःख भोगना पड़ता है और मनुष्यों के ही सरीखे उद्योग और प्रयत्न करके सभी विषयों में पूर्णत्व प्राप्त करना पड़ता है।" संसार का आध्यात्मिक इतिहास भी यही बताता है और

विचार में भी यही स्पष्ट दिखाता है कि यदि ऐसा न हो तो साधक पर दया करने के हेतु नरदेह धारण करने में ईश्वर का वह उद्देश बिल्कुल सिद्ध नहीं होता और ईश्वर के नरदेह धारण करने के सारे झंझट में कोई सार्थकता भी नहीं रहती।

नरदेह धारण करने पर अवतारी पुरुषों को भी मनुष्य के समान ही दृष्टि-हीनता, अल्पज्ञता आदि का थोड़ा बहुत अनुभव कुछ समय के लिये करना ही पड़ता है। मनुष्यों के ही समान इन दोषों से छूटने का प्रयत्न उन्हें भी करना पड़ता है और जब तक यह प्रयत्न पूर्ण होकर उसका फल उन्हें प्राप्त नहीं होता तब तक उन्हें अपने निजस्वरूप का ज्ञान (बीच २ में होता हो तौभी) सदैव अखण्डरूप से नहीं होता। उन्हें साधारण जीवों के समान संसार के अंधकारमय और नैराश्यपूर्ण मार्ग से ही जाना पड़ता है। अन्तर सिर्फ़ यही है कि उनमें स्वार्थबुद्धि की गन्ध भी नहीं होने के कारण उन्हें अपने मार्ग में औरों की अपेक्षा अधिक प्रकाश दिखता है। इसी कारण वे अपनी सर्व शक्ति एकत्र कर अपनी जीवनसमस्या शीघ्र ही पूरी करके लोककल्याण का कार्य आरम्भ कर देते हैं।

मनुष्य में रहने वाला अधूरापन श्रीरामकृष्ण में भी पहिले था, इस दृष्टि से यदि हम उनके चरित्र का विचार करेंगे तभी उनके चरित्र के चिन्तन का लाभ हमें प्राप्त होगा और इसी कारण पाठकों से हमारी विनय है कि उनके मानवभाव को सदा अपनी दृष्टि के सामने रखकर ही उनके ईश्वरीय भाव पर विचार करें। वे हमीं में से एक थे इस दृष्टि से यदि हमने उनकी ओर नहीं देखा तब तो साधनकाल के उनके अपूर्व उद्योग और विलक्षण आचरण का कोई अर्थ हमारी समझ में नहीं आवेगा। हमें ऐसा लगेगा कि वे तो आरम्भ से ही पूर्ण थे; उन्हें सत्य की प्राप्ति के लिये इतनी खटपट की क्या आवश्यकता थी? हम यही जानेंगे कि उनकी आजीवन खटपट संसार को रिझाने का स्वाँग था। यही नहीं, बल्कि ईश्वर की प्राप्ति के लिये की हुई उनकी अलौकिक तपस्या, असाधारण त्याग और उनकी अटल निष्ठा को देखकर भी हमारे मन में स्फूर्ति उत्पन्न नहीं होगी और उनके चरित्र से हमें कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं होगा।

श्रीरामकृष्ण की कृपा का लाभ करके धन्य होने के लिये हमें उनको अपने ही समान मनुष्य समझना चाहिये। हमारे ही समान उन्हें सुख-दुःख का अनुभव होता था तभी तो हमारे दुःखों को मिटाने का उन्होंने प्रयत्न किया। इसी कारण उन्हें हमारे समान मानवभावापन्न मानने के सिवाय हमारे लिये दूसरा मार्ग नहीं है और सच पूछिये तो जब तक हम सब बन्धनों से मुक्त होकर परब्रह्मस्वरूप में लीन नहीं होते तब तक जगत्कारण ईश्वर और उनके अवतारों को हमें "मनुष्य" ही मानना चाहिये। "देवो भूत्वा देवं जयेत्" यह कहावत इसी दृष्टि से सत्य है। तुम यदि स्वतः समाधिबल से निर्विकल्प अवस्था तक पहुँच सकोगे तभी तुम ईश्वर के यथार्थस्वरूप को समझकर उसकी सच्ची पूजा कर सकोगे।

देव बनकर देव की यथार्थ पूजा करने में समर्थ पुरुष बहुत विरले होते हैं। हमारे समान दुर्बल अधिकारी उस स्थिति से बड़ी दूर है। इसी कारण हम सरीखे साधारण लोगों पर कृपा करके उनके हृदय की पूजा ग्रहण करने के लिये ही ईश्वर नरदेह धारण करते हैं। प्राचीन काल के अवतारी पुरुषों की अपेक्षा श्रीरामकृष्ण के साधनकाल के इतिहास को समझने के लिये हमारे पास अनेक साधन हैं। एक तो अपने साधनकाल की अनेक बातें श्रीरामकृष्ण ने स्वयं विस्तारपूर्वक अपने शिष्यों को बताई हैं। दूसरे हम लोगों के उनके चरण-कमलों का आश्रय ग्रहण करने के थोड़े ही पूर्व जिन लोगों ने उनके साधनकाल का चरित्र अपनी आँखों से दक्षिणेश्वर में देखा था उनमें से बहुतेरे लोग वहीं थे, उनसे हम लोगों को कुछ वृत्तान्त मालूम हुआ। अस्तु। श्रीरामकृष्ण के साधन-काल के अलौकिक इतिहास की ओर दृष्टि डालने के पहिले साधनतत्त्व के मूल सूत्रों पर विहंगम दृष्टि से थोड़ा विचार करें।

१०–साधक और साधना।

"स्थूलभाव से समाधि दो प्रकार की होती है। ज्ञानमार्ग से विचार करते २ "अहं" कार का नाश हो जाने पर जो समाधि होती है उसे "स्थिर" अथवा "जड़" अथवा "निर्विकल्प" समाधि कहते हैं। भक्तिमार्ग की समाधि को "भाव–समाधि" कहते हैं। इस प्रकार की समाधि में संभोग के लिये या आस्वादन के लिये किञ्चित् अहंभाव शेष रहता है।"

"शुद्ध ज्ञान और शुद्ध भक्ति दोनों एक हैं।"

—श्रीरामकृष्ण।

श्रीरामकृष्ण के जीवन चरित्र में साधक भाव का वृत्तान्त बताने के पूर्व साधना किसे कहते हैं यह चर्चा करना उचित है। सम्भवतः कोई यह कहे कि भारतवर्ष में तो प्राचीन काल से साधना, तपस्या आदि प्रचलित हैं; उन पर यहां विचार करने की क्या आवश्यकता है? भारतवर्ष के समान साधन या तपस्या और किस देश में दिखाई देती है? इस देश के समान बड़े २ महात्मा और ब्रह्मज्ञानी और किस देश में उत्पन्न हुए हैं? साधन किसे कहते हैं इसकी थोड़ी बहुत कल्पना इस देश में तो सभी को है, अतः इसके सम्बन्ध में पुनः विचार करना निरर्थक है।

यद्यपि यह उक्ति अनेक अंशों में सत्य है तथापि साधन किसे कहते हैं इसका यहां विचार करना उचित ही है। क्योंकि इस सम्बन्ध में जनसमुदाय में कई विचित्र और भ्रमपूर्ण कल्पनाएँ प्रचलित हैं। अपने ध्येय की ओर दृष्टि न रख

कर शरीर को कष्ट देना, दुष्प्राप्य वस्तुओं के पीछे पड़ना, किसी स्थानविशेष में ही विशेष क्रियाओं का अनुष्ठान करना, श्वासोच्छ्वास की ही ओर सम्पूर्ण ध्यान देना, इत्यादि क्रियाओं को ही लोग बहुधा साधन कहा करते हैं। यह भी मालूम पड़ता है कि अपने मन के कुसंस्कार को हटाकर उसे योग्य संस्कार देने के लिये और उसे उचित मार्ग में अग्रसर करने के लिये बड़े २ महात्माओं ने जिन क्रियाओं का अनुष्ठान किया उन्हीं क्रियाओं का नाम साधन है और अन्य क्रियाएँ साधन नहीं कहला सकतीं यह भ्रम भी लोगों में दिख पड़ता है। विवेकी और वैराग्यवान् होने का प्रयत्न किये बिना, सांसारिक सुखभोग की लालसा छोड़ने का प्रयत्न किये बिना कुछ विशिष्ट क्रियाओं को करके या कुछ विशिष्ट अक्षरों को रटकर ही ईश्वर को मंत्रमुग्ध सर्प की तरह वश में ला सकते हैं ऐसी भ्रमात्मक कल्पना से कई लोग उन क्रियाओं को करने में और उन अक्षरों को रटने में अपनी आयु व्यर्थ बिताते हुए देखे जाते हैं। इस कारण पुरातन ऋषियों ने गहन विचार द्वारा साधना सम्बन्धी जिन तत्त्वों का आविष्कार किया है उनकी संक्षिप्त चर्चा करने से पाठकों को उस विषय की कुछ यथार्थ जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

श्रीरामकृष्ण कहा करते थे—"सर्व भूतों में ब्रह्मदर्शन अथवा ईश्वरदर्शन ही अत्यन्त उच्च और अन्तिम अवस्था है।" यह साधना का आखिरी फल है ऐसा उपनिषद् कहते हैं। उनका वाक्य है कि "इस सृष्टि में स्थूल, सूक्ष्म, चेतन, अचेतन आदि जो कुछ तुम्हें दृष्टिगोचर होता है वह सब एक--ब्रह्म--है। इस एक अद्वितीय ब्रह्म वस्तु को ही तुम भिन्न २ नाम देते हो और भिन्न भिन्न दृष्टियों से देखते हो। जन्म से मृत्यु तक सब समय तुम्हारा उसी से सम्बन्ध रहता है, परन्तु उसका परिचय न होने से तुम्हें मालूम होता है कि हम भिन्न २ वस्तुओं और व्यक्तियों से ही सम्बन्ध रखते हैं।"

उपरोक्त सिद्धान्त को सुनकर मन में कैसे विचार उत्पन्न होते हैं और उन पर शास्त्रों का क्या कहना है यह यहां संक्षेप में प्रश्नोत्तर के रूप में बताया गया है।

प्रश्नः—यह सिद्धान्त हमें क्यों ठीक नहीं जँचता?

उत्तरः—भ्रम के कारण। जब तक यह भ्रम दूर नहीं हुआ है तब तक यह बात कैसे जँचे? सत्य वस्तु और अवस्था से मिलान करने पर ही हम भ्रम का रूप निश्चित करते हैं।

प्रश्नः—ठीक है। पर यह भ्रम हमें क्यों और कब से हुआ?

उत्तरः—भ्रम होने का कारण—सर्वत्र दिखाई देने वाला—अज्ञान है। यह अज्ञान कब उत्पन्न हुआ यह कैसे जाना जाय? जब तक हम अज्ञान में ही पड़े हैं तब तक इसे जानने का प्रयत्न व्यर्थ है। जब तक स्वप्न दिखाई देता है तब तक वह सत्य भासता है। निद्राभंग होने पर जागृतावस्था से उसकी तुलना करने पर उसकी असत्यता का हमें निश्चय हो जाता है। कदाचित् यह कहें कि स्वप्न की दशा में भी कई बार "मैं स्वप्न देखता हूँ" यह ज्ञान रहता है तो वहां भी जागृतावस्था से तुलना करने के ही कारण यह ज्ञान उत्पन्न होता है। जागृतावस्था में संसार से सम्बन्ध रहते हुए भी किसी २ को इसी प्रकार अद्वयब्रह्मवस्तु की स्मृति होती हुई दिखाई पड़ती है।

प्रश्नः—तो फिर इस भ्रम को दूर करने का उपाय क्या है?

उत्तरः—उपाय एक ही है—इस अज्ञान को दूर करना चाहिये। यह अज्ञान, यह भ्रम दूर किया जा सकता है इसमें संशय नहीं है। पूर्व कालीन ऋषियों ने इस भ्रम को दूर किया था और इस भ्रम को दूर करने का उपाय भी उन्होंने बतला दिया है।

प्रश्नः—ठीक है; पर उस उपाय को समझने के पूर्व एक दो प्रश्न और करने हैं। आज सारा संसार जिसे प्रत्यक्ष देख रहा है उसे आप भ्रम या अज्ञान कहते हैं और थोड़े से ऋषियों ने संसार को जैसा देखा उसे सत्य या ज्ञान कहते हैं यह कैसी बात है? संभवतः ऋषियों को ही भ्रम हुआ होगा?

उत्तरः—बहुत से लोग विश्वास करते हैं इसी कारण किसी बात को सत्य नहीं कह सकते। ऋषियों का ही अनुभव सत्य इसलिये कहते है कि उसी अनुभव

के कारण वे सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हुए, सब तरह से भयशून्य हुए, और विचारशान्ति के अधिकारी हुए। क्षणभंगुर मानवजीवन का उद्देश उन्होंने ठीक २ पहिचाना। इसके सिवाय यथार्थ ज्ञान से मनुष्य के मन में सदा सहिष्णुता, संतोष, करुणा, नम्रता, इत्यादि गुणों का विकास होकर हृदय अत्यन्त उदार बन जाता है। ऋषियों के जीवन में इन्हीं गुणों का विकास पाया जाता है और उनके बताये हुए मार्ग का जो अवलम्बन करता है उसे भी ये गुण प्राप्त होते हैं यह आज भी हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

प्रश्नः—भला हम सभी को एक ही प्रकार का भ्रम कैसे हुआ? जिसे हम पशु कहते हैं उसे आप भी पशु कहते हैं, जिसे हम मनुष्य कहते हैं उसे आप भी मनुष्य कहते हैं इसी प्रकार सभी बातों में जानिये। सभी को एक ही समय सब प्रकार के विषयों के सम्बन्ध में एक ही प्रकार का भ्रम हो जावे यह कितना आश्चर्य है? कुछ मनुष्यों की किसी विषय में गलत कल्पना हो जावे तो अन्य कुछ मनुष्यों की कल्पना तो सत्य रहती है ऐसा सर्वत्र देखा जाता है पर यहां तो सब बात ही निराली है। इसीलिये आपका कहना हमें नहीं जँचता।

उत्तरः—इसका कारण यह है कि आप जब सभी मनुष्यों की बातें करते हैं तब उनमें से ऋषियों को अलग कर देते हैं। सभी के साथ ऋषियों की गणना नहीं करते। इसी कारण आपको यहां सभी बातें निराली दिखाई देती हैं। नहीं तो आपने अपने प्रश्न में ही इस शंका का समाधान कर डाला है। अब सभी को एक ही प्रकार का भ्रम कैसे हुआ इस प्रश्न का उत्तर शास्त्रों में यह है—"एक ही असीम अनन्त समष्टिमन में जगत्कल्पना का उदय हुआ है। आपका, मेरा और सभी का व्यष्टिमन उस विराट् मन का अंश होने के कारण हम सबों को इसी एक ही कल्पना का अनुभव होता है। इसी कारण हम सभी, पशु को पशु और मनुष्य को मनुष्य कहते हैं और इसी कारण हममें से कोई यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके सर्व प्रकार के भ्रम से मुक्त हो जाता है, तथापि बाकी हम सब पूर्ववत् भ्रम में ही रहा करते हैं। पुनश्च, विराट् पुरुष के विराट् मन में यद्यपि जगत्कल्पना का उदय हुआ तथापि वह हमारे समान अज्ञान के बन्धन में नहीं।

पड़ा। वह तो सर्वदर्शी होने के कारण अज्ञान से उत्पन्न होने वाली जगत्कल्पना के भीतर बाहर सर्वत्र अद्वय ब्रह्मवस्तु को ही सर्वदा ओतप्रोत देखा करता है; हम वैसा नहीं करते इसी से हमें भ्रम होता है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे—"साँप के मुँह में विष रहता है, साँप उसी मुँह से खाता है पर उससे उसे कुछ नहीं होता लेकिन जिसे वह काटता है उसका तो उस विष से तत्काल प्राण ही चला जाता है।"

उसी प्रकार, यह भी दिख पड़ेगा कि विराट् मन में कल्पनारूप से जगत उत्पन्न हुआ है; अतः एक दृष्टि से हमारे भी मन में जगत कल्पना से ही उत्पन्न हुआ होना चाहिये; क्योंकि हमारा क्षुद्र व्यष्टिमन भी तो समष्टिभूत विराट् मन का ही अंश है। इसके सिवाय यह जगत्कल्पना विराट् मन में एक समय नहीं थी और वह कल्पना पीछे से उत्पन्न हुई ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि नाम-रूप, देश-काल ये द्वंद्व—(जिनके बिना किसी तरह की सृष्टि का उद्भव असम्भव है)—ही तो जगद्रूप कल्पना की मध्यवर्ती वस्तुएँ हैं। थोड़े ही विचार से यह स्पष्ट हो जावेगा कि जगत्कल्पना से इनका नित्य सम्बन्ध है और वेदान्त शास्त्र में जगत्कर्त्री मूलप्रकृति को अनादि और कालातीत क्यों कहा है। जगत यदि मनःकल्पित है और उस कल्पना का आरम्भ यदि काल की कक्षा के भीतर नहीं आता तो यह स्पष्ट है कि काल की कल्पना और जग की कल्पना विराट् मन में एक साथ उत्पन्न हुई। हमारे क्षुद्र व्यष्टिमन बहुत समय से जगत के अस्तित्व की दृढ़ धारणा लिये हुए हैं और जगत्कल्पना के परे अद्वय ब्रह्मवस्तु के साक्षात् दर्शन से वंचित हो गये हैं और जगत केवल एक मनःकल्पित वस्तु है यह पूर्णतया भूल गये है और हमें अपना भ्रम भी समझ में नहीं आ रहा है। इसका कारण ऊपर कह ही चुके हैं कि सत्य वस्तु और अवस्था से मिलान करने पर ही हमें भ्रम के स्वरूप का पता लगता है।

इससे यह दिखता है कि हमारी जगत्सम्बन्धी कल्पना और अनुभव हमारे दीर्घकाल के अभ्यास का परिणाम है। यदि हमें इसके विषय में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना है तो हमें नाम-रूप, देश-काल, मन-बुद्धि आदि जगदंतर्गत विषयों से जो वस्तु अतीत है उसका ज्ञान या परिचय प्राप्त करना होगा। इसी ज्ञान

की प्राप्ति के प्रयत्न को वेद शास्त्रों ने " साधन ", " तप " इत्यादि नाम दिये हैं और जो जानकर या बिना जाने इस प्रकार का प्रयत्न करता है वह " साधक " कहलाता है।

साधारणतः देशकालातीत जगत्कारण के ज्ञान प्राप्त करने के दो मार्ग हैं। प्रथम शास्त्रों ने जिसे " नेति नेति " या " ज्ञानमार्ग " कहा है और द्वितीय–जिसे " इति इति " या " भक्तिमार्ग " कहा है। ज्ञानमार्ग का साधक शुरू से ही सदाकाल अपने अन्तिम ध्येय को समझते हुए अपने मन में रख कर प्रयत्न करता रहता है। भक्तिमार्ग के साधक को अन्त में हम कहां पहुँचेंगे इस बात का ज्ञान बहुधा नहीं रहता। परन्तु उस मार्ग में रहते हुए उसे उत्तरोत्तर उच्च अवस्था प्राप्त होती जाती है और अन्त में वह जगदतीत अद्वैत वस्तु का साक्षात्कार कर ही लेता है। कुछ भी हो इन दोनों ही साधकों को साधारण मनुष्यों की सी जगत्सम्बन्धी धारणा छोड़ देनी पड़ती है। ज्ञानमार्ग का साधक प्रारम्भ से ही इस धारणा को छोड़ने का प्रयत्न करता रहता है और भक्तिमार्ग का साधक उसे आधी रखकर और आधी छोड़कर साधना का प्रारम्भ करता है, पर अन्त में उसकी वह धारणा पूरी छूट जाती है और वह " एकमेवाद्वितीयम् " ब्रह्मवस्तु का साक्षात्कार कर लेता है। जगत के सम्बन्ध में स्वार्थपरता, सुख–भोग की लालसा इत्यादि धारणाओं को छोड़ देने का ही नाम शास्त्रों में " वैराग्य " है। मानवजीवन की क्षणभंगुरता का ज्ञान मनुष्य को उसी समय हो जाता है। इसी कारण मालूम पड़ता है कि जगत्सम्बन्धी साधारण धारणा को छोड़कर " नेति नेति " मार्ग से जगत्कारण की खोज करने की कल्पना प्राचीन काल में मनुष्य के मन में उत्पन्न हुई होगी। इसीलिये तो ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग दोनों एक समान चालू रहते हुए भक्तिमार्ग की पूर्णता होने के पहिले उपनिषदों में इस " नेति नेति " अथवा ज्ञानमार्ग की पूर्णता होती हुई दिखाई पड़ती है।

" नेति नेति " मार्ग में चलने से थोड़े ही समय में मनुष्य अन्तर्दृष्टिसम्पन्न हो जाता है ऐसा उपनिषदों से दिखता है। मनुष्य को यह पता लग गया कि अन्य दूसरी बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा देह और मन द्वारा ही संसार से अपना

अधिक सम्बन्ध होता है। इस कारण अन्य सब बाह्य वस्तुओं की सहायता की अपेक्षा देह और मन की ही सहायता से हमें जगत्कारण ब्रह्म वस्तु का पता अधिक शीघ्र लगेगा।"एक दाने पर से भात की परीक्षा" के न्याय से यदि अपने में ही जगत्कारण का पता लग गया तो बाहरी वस्तुओं में भी स्वभावतः उसका पता लगाना सरल होगा ऐसा सोचकर "मैं क्या हूं?" इस प्रश्न को हल करने की ओर ही ज्ञानमार्गी साधक का सब ध्यान खिंच जाता है।

अभी ही बताया गया है कि ज्ञान और भक्ति दोनों मार्गों के साधकों को संसार सम्बन्धी साधारण कल्पना का त्याग करना पड़ता है। इस कल्पना का निःशेष त्याग करने पर ही मनुष्य का मन सर्ववृत्तिरहित होकर समाधि का अधिकारी होता है। इस प्रकार की समाधि को ही शास्त्रों ने "निर्विकल्प समाधि" कहा है। इस समाधि की अधिक विवेचना अभी न करके " सविकल्प समाधि " के सम्बन्ध में कुछ चर्चा की जाती है।

ऊपर पढ़ चुके हैं कि भक्तिमार्ग का दूसरा नाम " इति इति " मार्ग है; क्योंकि इस मार्ग का साधक यद्यपि जग को क्षणभंगुर जान लेता है तथापि उसे जगत्कर्ता ईश्वर पर विश्वास रहता है और उसका निर्माण किया हुआ जगत सत्य है ऐसा वह समझा करता है। जगत की सभी वस्तुओं और व्यक्तियों का ईश्वर से ऐसा सम्बन्ध देखकर भक्त को वे सब अपने ही हैं ऐसा मालूम होता है। इस सम्बन्ध के प्रत्यक्ष अनुभव करने में उसे जो २ विघ्नरूप दिखाई देते हैं उन सबों को दूर करने का वह प्रयत्न करता है। इसके सिवाय ईश्वर के किसी एक रूप पर प्रेम करना, उसी रूप के ध्यान में तन्मय हो जाना और ईश्वरार्पण बुद्धि से सब कर्म करना इन्हीं बातों की ओर उसका लक्ष्य रहता है।

ईश्वर का ध्यान करते समय पहले पहल उसकी सम्पूर्ण मूर्ति को भक्त अपने मानसचक्षु के सामने नहीं ला सकता। कभी हस्त, कभी पाद, कभी मुख ऐसे एक दो अवयव ही आँखों के सामने आते हैं और ये भी दिखते ही अदृश्य हो

जाते हैं, अधिक समय तक स्थिर नहीं रहते। अभ्यास से ध्यान उत्तरोत्तर दृढ़ होने पर क्रमशः सर्वांगपूर्ण मूर्ति मन में स्थिर रहने लगती है। जैसे २ ध्यान तन्मयता के साथ होने लगता है वैसे २ उस मूर्ति में सजीवता दिखाई देती है। वह हँसती है, बोलती है ऐसा दिखते २ अन्त में उसका वह स्पर्श भी कर सकता है तब तो उसे उस मूर्ति के सजीव होने में कोई शंका नहीं रह जाती और आँखें मूँदकर या खोलकर किसी भी स्थिति में उस मूर्ति का स्मरण करते ही उसे वह देख सकता है। आगे चल कर "हमारे इष्टदेव चाहे जो रूप धारण कर सकते हैं" इस विश्वास के बल से उसे अपने इष्टदेव की मूर्ति में नाना प्रकार के दिव्यरूपों के दर्शन प्राप्त होते हैं। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "जो कोई एक ही रूप का सजीव भाव से दर्शन करता है उसे और सभी प्रकार के रूपों का दर्शन सहज ही हो सकता है।"

जिन्हें इस प्रकार सजीव मूर्ति के दर्शन का लाभ हो गया है उन्हें ध्यानकाल में दिखने वाली मूर्तियां जागृत अवस्था में दिखने वाले पदार्थों के समान ही सत्य हैं ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है। तत्पश्चात् बाह्य जगत और भावावस्था ये दोनों ही एक समान सत्य हैं ऐसा ज्ञान जैसे जैसे अधिक दृढ़ होते जाता है वैसे वैसे उसकी यह धारणा होने लगती है कि बाह्य जगत यह केवल मनःकल्पित वस्तु है। इसके सिवाय अत्यन्त गम्भीर ध्यानकाल में भावराज्य का अनुभव भक्त के मन में इतना प्रबल रहता है कि उस समय उसे बाह्य जगत का लेशमात्र अनुभव नहीं होता। इस प्रकार की अवस्था को शास्त्रों में "सविकल्प समाधि" की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार की समाधि में बाह्य जगत का पूर्ण लोप होने पर भी भावराज्य का पूर्ण लोप नहीं होता। जगत की वस्तुओं और व्यक्तियों से सम्बन्ध होने पर हमें जैसे दुःख का अनुभव होता है ठीक उसी प्रकार का अनुभव भक्त को अपनी इष्ट मूर्ति के सम्बन्ध में हुआ करता है। उसके मन में उस अवस्था में उत्पन्न होने वाले सभी संकल्प विकल्प अपनी इष्ट मूर्ति के ही सम्बन्ध के हुआ करते हैं। भक्त के मन में उत्पन्न होने वाली सभी वृत्तियां इस अवस्था में एक ही वस्तु के अवलम्बन से उत्पन्न होती हैं; अतः शास्त्रों में इस अवस्था को "सविकल्प समाधि" अथवा "विकल्पसंयुक्त समाधि" कहा गया है।

इस प्रकार भावराज्यांतर्गत विषयों का ही सतत चिन्तन करते रहने के कारण भक्त के मन से स्थूल (बाह्य) जगत का सहज ही लोप हो जाता है। जिस भक्त साधक ने इतनी मंजिल तय कर ली उसके लिये यहां से निर्विकल्प समाधि कुछ अधिक दूर नहीं बचती। जो अनेक जन्म से अभ्यास किये हुये जगत के अस्तित्वज्ञान को इतनी पूर्णता से मिटा (नष्ट कर) सकता है उसका मन अत्यन्त शक्तिसम्पन्न हो गया रहता है यह बताना अनावश्यक है। मन को पूर्ण रीति से निर्विकल्प कर लेने पर ईश्वर से अपना अत्यन्त निकट सम्बन्ध हो जावेगा यह बात एक बार उसके ध्यान में आते ही उसी दृष्टि से वह अपनी सारी शक्तियाँ एकत्र करके प्रयत्न करने लगता है और श्री गुरु और ईश्वर की कृपा से भावराज्य की अत्युच्च भूमि में जाकर अद्वैतज्ञान के साक्षात्कार द्वारा चिरशान्ति का अधिकारी हो जाता है। या यों कहिये इष्टदेवता का अत्युत्कट प्रेम ही उसे यह मार्ग दिखा देता है और उसी की प्रेरणा से वह अपने इष्टदेव के साथ एकता का अनुभव करने लगता है।

ज्ञान और भक्ति के मार्गों के साधक इसी क्रम से अपने ध्येय को पहुँचते हैं, पर अवतारी महापुरुषों में दैवी और मानवीय दोनों भावों का सम्मिश्रण जन्मतः ही विद्यमान रहने के कारण साधनकाल में भी कभी २ उनमें सिद्धों की शक्ति और पूर्णता दिखाई देती है। दैवी और मानव दोनों भूमिकाओं में विहार करने की शक्ति उनमें स्वभावतः रहने के कारण या अन्तःस्थित देवभाव ही उनकी स्वाभाविक अवस्था होने के कारण बाहरी मानवभाव का आवरण समय २ पर दूर हटा कर वे प्रगट होते दिखाई देते हैं। इस तरह इस विषय की किसी भी प्रकार की मीमांसा करने का प्रयत्न कीजिये तथापि अवतारी महापुरुषों के जीवन चरित्र को यथार्थ रीति से समझने में मानवबुद्धि असमर्थ ही रहती है। उनके जीवन के गूढ़ रहस्यों का पूरा पार पाना मनुष्य की बुद्धि के लिये कदापि सम्भव नहीं है। तथापि श्रद्धायुक्त अन्तःकरण से उनके चरित्रों का मनन करने से मनुष्य का कल्याण ही होता है। प्राचीनकाल में ऐसे महापुरुषों के जीवन के मानवभाव को अलग रखकर उनके देवभाव का ही विचार किया गया। आज कल के सन्देहशील युग में उनके देव भाव की उपेक्षा करके केवल उनके मानव-भाव का ही विचार किया जाता है। प्रस्तुत विषय में हम ऐसे महापुरुषों के जीवन

में दैवी और मानवी दोनों भाव एक साथ विद्यमान रहा करते हैं यहाँ स्पष्ट समझने का प्रयत्न करेंगे। देव-मानव श्रीरामकृष्ण के पुण्य दर्शन का लाभ यदि हमें न हुआ होता तो इसमें सन्देह नहीं कि हम ऐसे महापुरुष के चरित्र को उपरोक्त (दोनों) दृष्टि से कदापि नहीं देख सकते।

११–साधक भाव का प्रारम्भ।

" दाल रोटी प्राप्त कराने वाली विद्या मुझे नहीं चाहिये। मुझे तो वही विद्या चाहिये जिससे कि हृदय में ज्ञान का उदय होकर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। "

—रामकुमार को श्रीरामकृष्ण का उत्तर।

श्रीरामकृष्ण की भावतन्मयता के सम्बन्ध में पीछे बतलाई हुई बातों के सिवाय उनके बालपन की और भी अनेक बातें सुनने में आती हैं। बहुत सी छोटी २ बातों पर से उनकी तत्कालीन मनोवृत्ति का पता सहज ही लग जाता है। एक बार गाँव का कुम्हार शिव, दुर्गा आदि देवी-देवताओं की मूर्तियां बना रहा था। अपने बालमित्रों के साथ घूमते २ गदाधर सहज ही वहां आ पहुँचा और उन प्रतिमाओं को देखते २ एकदम बोल उठा, " अरे, यह क्या किये हो ? क्या देवताओं की आँखें ऐसी होती हैं? देखो आँखें इस तरह चाहियें।" ऐसा कहकर भौंहें कैसी हों, आँखों का आकार कैसा हो, दृष्टि कैसी होने से आँखों में दैवी-शक्ति, करुणा, अन्तर्मुखी भाव, आनन्द आदि गुण एकत्रित होकर मूर्ति में सजीवता का भास होता है इस विषय में उस कुम्हार को गदाधर ने प्रत्यक्ष जानकारी करा दी। उसकी यह जानकारी देखकर वह कुम्हार और दूसरे लोग आश्चर्यचकित हो गये।

अपने बालमित्रों के साथ खेलते २ एकदम गदाधर को किसी देवता की पूजा करने की इच्छा हो जाती थी और तत्काल वह मृत्तिका की ऐसी सुन्दर मूर्ति तैयार कर डालता था कि देखने वालों को वह मूर्ति किसी चतुर कारीगर की बनाई हुई ही मालूम पड़ती थी।

किसी की कल्पना न रहते हुए या उस सम्बन्ध की बातें न होते हुए भी किसी से गदाधर एकाएक ऐसा वाक्य बोल बैठता था कि उसे सुनकर उसके मन का बहुत दिनों का कोई प्रश्न हल हो जाता था और उसकी शंकाओं का समाधान हो जाता था।

श्रीरामकृष्ण के बाल्यकाल की जो अनेक वार्ताएँ सुनने में आती हैं वे सभी उनके उच्च भूमिका पर आरूढ़ होने की शक्ति की द्योतक हैं ऐसा नहीं है। उनमें कुछ उच्च कोटि की हैं और बाकी साधारणतः निचली श्रेणी की हैं। कुछ से उनकी अद्भुत स्मरणशक्ति, कुछ से प्रबल विचारशक्ति, कुछ से दृढ़ निश्चय, विलक्षण साहस, रसिकता, अपार प्रेम आदि दिखता है। परन्तु इन सब के मूल में असाधारण विश्वास, पवित्रता और निःस्वार्थता से उनका स्वभाव ओतप्रोत दिखाई देता है। ऐसा मालूम होता है कि उनका मन सच्चे विश्वास, पवित्रता और स्वार्थहीनता आदि सामग्री से गढ़ा गया है और संसार के आघातों के कारण उसमें स्मरणशक्ति, निश्चय, साहस, विनोद, प्रेम, करुणा इत्यादि तरङ्गरूप से उठा करते हैं।

इस सम्बन्ध में कुछ घटनाओं का यहां उल्लेख कर देने से पूर्वोक्त विषय पाठकों की समझ में सहज ही आ जावेगा।

मेले में राम, कृष्ण आदि के चरित्रों का नाटक देखने के बाद गदाधर घर आकर उनकी नकल करता था और अपनी बालगोपाल मित्रमण्डली को माणिकराजा की अमराई में ले जाता था। वहां लड़कों को भिन्न २ पात्रों के कार्य सिखाकर मुख्य नायक का काम वह स्वयं करता था। इस प्रकार मेले में देखे हुए नाटक बहुतेरे अंशों में ज्यों के त्यों तैयार कर लेता था।

"उपनयन के समय प्रथम भिक्षा तेरे हाथ से लूंगा" इस प्रकार का वचन छुटपन में ही गदाधर ने अपने ऊपर अत्यन्त प्रेम करने वाली धनी नाम की लोहारिन को दे रखा था और उपनयन के समय घर के लोगों की, सामाजिक रूढ़ि की और किसी के कहने की परवाह न करते हुए अपने उस वचन का अक्षरशः पालन किया।

"क्या गदाधर कभी मेरे हाथ से खाकर मुझे धन्य बनावेगा ?" यह भावना उस स्त्री के प्रेमपूर्ण हृदय में उठा करती थी; पर मैं नीच जाति की स्त्री हूं, क्या मेरी इच्छा पूरी होगी ?—ऐसा सोचकर वह मन ही मन सदा दुःखी हो जाती थी। गदाधर को यह बात किसी तरह मालूम हो गई और उसने निर्भयता-पूर्वक उस सरल और दयालु स्त्री के हाथ से खाकर उसे आल्हादित कर दिया।

शरीर में भस्म रमाये, सिर पर जटा बढ़ाये, हाथ में बहुत लम्बा चिमटा लिये हुए साधु को देखकर साधारणतः बालकों को डर लगता है। पर गदाधर को डर क्या चीज़ है मालूम ही नहीं था। गांव के बाहर की धर्मशाला में उतरने वाले ऐसे साधुओं से वह आनन्दपूर्वक मिलता था। उनसे गपशप करता था, उनके पास से खाता था और उनका रहन सहन बारीकी के साथ और सावधानी से देखा करता था। कभी २ ऐसे साधु लोग उसे टीका इत्यादि लगाकर सजा देते थे तो उसे बड़ा मज़ा मालूम होता था और अपने घर जाकर घर के लोगों को अपना वह वेष बड़े शौक से दिखाता था।

गांव में नीच जाति के लोगों को पढ़ना लिखना नहीं आता था। इस कारण वे लोग रामायण महाभारत पुराण इत्यादि की कथा कहने के लिये किसी पौराणिक को बड़े आदर सन्मान से बुलाते थे। वे लोग उनकी कितनी खुशामद करते थे! उनके पैर धोने के लिये पानी, हाथ पांव पोंछने के लिये कपड़ा, धूम्र-पान के लिये नया हुक्का, बैठने के लिये सुन्दर सजाई हुई व्यासगद्दी इत्यादि सामग्री वे लोग बड़े भक्तिभाव से तैयार करके रखते थे। पौराणिक महाराज इस सन्मान से फूलकर अपने आप को साक्षात् बृहस्पति समझने लगते थे! फिर उनका वह रुआब के साथ बैठना, अद्भुत ढंग से हाथ हिलाना, पोथी की ओर देखते २ कभी चश्मे के कांच के भीतर से, और श्रोताओं की ओर देखते २ सिर थोड़ा झुकाकर कभी चश्मे के ऊपरी भाग और भौंह के बीच से, तो कभी चश्मा कपाल पर चढ़ाकर खाली आँखों से रुआब के साथ देखना, अपने चेहरे पर गंभीरता लाना—उनके इन सब चरित्रों को तीक्ष्ण दृष्टिसम्पन्न गदाधर बारीकी से देखा करता था। तदुपरान्त किसी समय लोगों के सामने वह इन सब बातों की हू-ब-हू नकल करके दिखाता था जिससे हँसते हँसते वे लोग लोट पोट हो जाया करते थे।

उपरोक्त बातों पर से श्रीरामकृष्ण के बाल्यकाल के स्वभाव की कुछ कल्पना हो सकती है। अस्तु।

इसके पूर्व कह आये हैं कि अपने छोटे भाई का विद्याध्ययन ठीक हो और थोड़ी बहुत सहायता उसे भी मिल सके इस हेतु से रामकुमार ने गदाधर को कलकत्ता लाकर अपने साथ रखा था। रामकुमार ने झामापुकूर में अपनी पाठशाला खोली थी और उस मोहल्ले के कुछ घरों की देवपूजा का भार भी अपने जिम्मे ले रखा था। परन्तु उसका बहुत सा समय पाठशाला के ही कार्य में बीत जाने से देवपूजा के लिये समय बाकी नहीं रहता था। इस काम को छोड़ देने से भी कैसे चल सकता था? अतः उसने देवपूजा का काम गदाधर को सौंप दिया। इससे गदाधर को भी आनन्द हुआ और वह देवपूजा का कार्य दोनों समय बड़ी तत्परता से करने के सिवाय अपने बड़े भाई से कुछ पढ़ने भी लगा। कुछ ही दिनों में अपने स्वाभाविक गुणों के कारण गदाधर अपने यजमानों के घर के सभी लोगों को बहुत प्रिय हो गया। उसके सुन्दर स्वरूप, कार्यकुशलता, सरल व्यवहार, मिष्ट भाषण, देवभक्ति और मधुर स्वर ने यहां भी, कामारपुकूर के समान, सभी लोगों पर एक प्रकार की मोहनी सी डाल दी। कामारपुकूर के ही समान यहां भी उसने अपने आसपास वाल गोपाल की मण्डली जमा कर ली और उनकी संगति में अपने दिन आनन्द से विताने लगा। कलकत्ता आकर भी अध्ययन में उसकी कोई विशेष उन्नतिं नहीं हुई।

यह देखकर रामकुमार को चिन्ता तो होने लगी, परन्तु गदाधर आज पढ़ेगा, कल पढ़ेगा इसी आशा से उसे कुछ न कह कर बहुत दिनों तक वह शान्त रहा। तथापि विद्याभ्यास की ओर ध्यान देने लायक कोई लक्षण दिखाई नहीं दिये। तब तो इसे चेतावनी देनी ही चाहिये ऐसा निश्चय करके रामकुमार ने गदाधर को विद्याभ्यास करने का उपदेश दिया। बड़े भाई की बातें शान्ति के साथ सुनकर गदाधर ने उसे नम्रता से, परन्तु स्पष्ट उत्तर दिया कि "दाल रोटी प्राप्त कराने वाली विद्या मुझे नहीं चाहिये, मुझे तो वही विद्या चाहिये जिससे हृदय में ज्ञान का उदय होकर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है।"

गदाधर का यह उत्तर उस समय रामकुमार की समझ में ठीक २ नहीं आया। उसका गदाधर पर प्रेम था। इसी कारण उसकी इच्छा के विरुद्ध विद्या

पढ़ने में लगाकर उसे दुःखी करने में रामकुमार को कष्ट प्रतीत होता था। अतः गदाधर को फिर कुछ न कहकर वह जैसा चाहे वैसा उसे करने देने का निश्चय रामकुमार ने किया।

वाद के दो वर्षों में रामकुमार की आर्थिक स्थिति सुधरने के वदले और भी गिर गई। पाठशाला के वालकों की संख्या घटने लगी। अनेक प्रकार के परिश्रम करने पर भी पैसा नहीं मिलता था। अतः पाठशाला वन्द करके और कोई काम करें यह विचार उसके मन में आने लगा। परन्तु कुछ भी निश्चय नहीं हो सका। इसी तरह यदि और कुछ दिन वीतें तो ऋण का भार वढ़ने से स्थिति भयानक हो जावेगी इसी वात की चिन्ता उसे लगी रहती थी और कोई उपाय नहीं सूझता था। पर वह क्या करे? यजन-याजन और अध्यापन के सिवाय उस के लिये कार्य ही क्या था? पैसा कमाने की कोई अन्य विद्या उसे आती ही नहीं थी। तो फिर यह समस्या कैसे हल हो? ऐसा सोचते २ ईश्वर पर भरोसा रखकर अपनी उन्नति के लिये कोई सन्धि आसमान से टपकने की राह देखते हुए यह साधुवृत्ति वाला रामकुमार अपना पुराना कार्य ही किसी तरह करता रहा और ईश्वर की अचिन्त्य लीला ने यथार्थ में इस प्रकार की एक सन्धि शीघ्र ही आसमान से टपका दी।

दक्षिणेश्वर का काली मन्दिर
(गंगा से दिखाई देने वाला दृश्य)
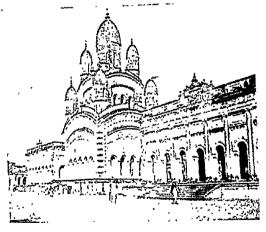
दक्षिणेश्वर का काली मन्दिर
(मन्दिर के आंगन में से दिखाई देने वाला दृश्य)

१२—रानी रासमणि और दक्षिणेश्वर।

" रानी रासमणि जगदंबा की अष्ट नायिकाओं में से एक थी।"

" माता भोजन करती है कालीघाट में और विश्राम करती है दक्षिणेश्वर में।"

—श्रीरामकृष्ण।

इधर रामकुमार अपनी गृहस्थी की चिन्ता में मग्न था और उधर कलकत्ते की दूसरी ओर श्रीरामकृष्ण का साधनस्थान, उनके उत्तर वय का कार्यक्षेत्र और उनके विचित्र लीलाभिनय का स्थल निर्माण हो रहा था। ईश्वर की अचिन्त्य लीला द्वारा, उनके भावी चरित्र से अतिघनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाला, रानी रासमणि का दक्षिणेश्वर का विशाल काली मन्दिर बनकर तैयार हो रहा था।

कलकत्ते के दक्षिण भाग में जानबाजार नामक मोहल्ले में सुप्रसिद्ध रानी रासमणि का निवासस्थान था। वह जाति की धीमर थी। रामचन्द्र दास अपने पीछे अपनी पत्नी रानी रासमणि और चार कन्याओं को छोड़कर परलोक चले गये। उस समय रानी रासमणि की आयु ४४ वर्ष की थी। अपने प्रिय पति की अपार सम्पत्ति के प्रबन्ध का कठिन कार्य उस पर आ पड़ा। वह अत्यन्त व्यवहारकुशल होने के कारण सम्पत्ति की सब व्यवस्था स्वयं ही कर लेती थी। उसके सुप्रबन्ध से सम्पत्ति की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी और उसका नाम सारे कलकत्ता शहर में शीघ्र ही गूंजने लगा। अपनी सम्पत्ति के प्रबन्ध करने में चतुर होने के कारण

उसका नाम प्रसिद्ध हुआ यह बात नहीं है; वरन् साहस, बुद्धिमानी, तेजस्वी और मानी स्वभाव, ईश्वरभक्ति और विशेषतः दुःखी-दरिद्री लोगों के प्रति करुणा इत्यादि गुण ही उसकी प्रसिद्धि के कारण थे। उसके इन गुणों के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

इसके जानबाजार के निवासस्थान से थोड़ी ही दूरी पर अंग्रेज़ी फौज की छावनी थी। एक दिन कुछ अंग्रेज़ सिपाही शराब के नशे में मस्त होकर रानी के दरवानों की मनाई की परवाह न करके बेधड़क रानी के बाड़े में घुस पड़े और वहां मनमानी धूम मचाने लगे। मथुरबाबू इत्यादि पुरुष मण्डली कहीं बाहर गई थी, इस कारण इन सिपाहियों को रोकने का साहस किसी से न हो सका। बाहरी चौक में उपद्रव मचाकर अब वे सिपाही भीतर घुसने लगे। यह देखते ही स्वयं रानी रासमणि हाथ में हथियार लेकर उनका मुकाबला करने के लिये निकल पड़ी। इतने ही में लोग जमा हो गये और उन सिपाहियों का उचित बन्दोबस्त कर दिया गया।

एक बार सरकार ने गंगा जी में मछली पकड़ने के लिये ढीमर लोगों पर कर लगा दिया था। उनमें से बहुतेरे लोग रानी की ही ज़मीन में बसे हुए थे। कर लगाने की बात रानी को विदित होते ही उन लोगों को उसने अभय कर दिया और सरकार से मछली पकड़ने का हक़ बहुत सा पैसा खर्च करके रानी ने स्वयं खरीद लिया। हक़ का सार्टिफिकेट सरकार से पाते ही रानी ने नदी के एक किनारे से दूसरे किनारे तक बड़ी २ मोटी जंजीरें जाली के समान बनवा कर पक्की बन्धवा दीं! इससे नदी में से जहाज़ों का आना जाना बन्द हो गया। रास्ता रोकने का कारण सरकार से पूछे जाने पर रानी ने उत्तर दिया कि "यहां पर जहाज़ों का आवागमन लगातार बना रहने के कारण नदी की मछलियाँ दूसरी ओर भाग जाती हैं इससे मुझे बड़ी हानि होती है। मछली पकड़ने का हक़ मैंने खरीद लिया है और मुझे अपने सुभीते के लिये ऐसा करना जरूरी है। तथापि नदी की मछली पकड़ने के लिये यदि सरकार आज से कर लगाना बन्द कर दे तो मैं भी अपना हक़ छोड़ दूंगी और इन जंजीर खंभों को तुरन्त निकलवा दूंगी।" इस युक्तिवाद से सरकार निरुत्तर हो गई और उस कर को उसे रद्द करना पड़ा।

श्री जगदम्बा के चरणों में रानी रासमणि की बड़ी भक्ति थी। उसकी मुहर में "कालीपदअभिलाषी श्रीमती रासमणि दासी" ये शब्द खुदे हुए थे। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि "तेजस्वी रानी की देवीभक्ति इसी प्रकार सभी विषयों और सभी कामों में दिखाई देती थी।"

लोकोपयोगी कार्यों के लिये रानी सदा उदार रहती थी। नदी में जगह २ घाट बनवाये, यात्रियों के लिये दो मील सड़कें बनवायीं, कई जगह उसने कुएँ खुदवाये और कहीं २ अन्नक्षेत्र भी स्थापित किये। अपनी जमींदारी की रियाया के सुख के लिये वह अनेक उपाय करती थी। अनेक देवस्थानों की यात्रा करके उसने बहुत सा धन मन्दिरों को दान में दिया। इस प्रकार इस साध्वी स्त्री ने अपने गुणों और सत्कार्यों से अपना "रानी" नाम सार्थक किया।

जिस समय की बात हम बता रहे हैं उस समय रानी की चारों कन्याओं का विवाह हो चुका था और उनके सन्तति भी हो चुकी थी। तीसरी कन्या करुणामयी का विवाह उसने मथुरानाथ विश्वास नामक एक कुलीन परन्तु दरिद्र घराने के लड़के के साथ किया था। पर विवाह के थोड़े ही दिनों के बाद करुणामयी का स्वर्गवास हो गया। मथुरानाथ पर रानी का बहुत स्नेह था और वह रानी के पास ही रह कर उसे अपनी सम्पत्ति के प्रबन्ध में सहायता देता था। करुणामयी की मृत्यु के बाद दूरदर्शी और व्यवहारदक्ष रानी ने अपनी कनिष्ठ कन्या जगदम्बा-दासी का विवाह मथुरानाथ के ही साथ कर दिया।

रानी के मन में कई दिनों से काशीयात्रा करने का विचार हो रहा था। उसने यात्रा की सभी तैयारी कर ली थी और बहुत सा धन यात्रा के खर्च के लिये अलग रख लिया था। कलकत्ते से यात्रा के लिये प्रस्थान करने के पूर्व रात्रि के समय देवी ने उसे स्वप्न में दर्शन देकर कहा, "तू काशी मत जा। भागीरथी के किनारे मेरे लिये एक सुन्दर मन्दिर बनवा दे और वहां मेरी नित्य-पूजा का प्रबन्ध कर दे जिससे मैं वहीं रहकर तेरी पूजा ग्रहण किया करूंगी।" इस आदेश को पाकर रानी ने अपने को धन्य माना और काशीयात्रा का विचार त्याग कर देवी के आदेश के अनुसार चलने का उसने तुरन्त निश्चय किया।

तत्पश्चात् रानी ने भागीरथी के किनारे के बहुत से स्थानों में से देखकर कलकत्ता के उत्तर की ओर दक्षिणेश्वर ग्राम के समीप एक स्थान पसन्द किया और सन् १८४७ के सितम्बर मास में वहां ५० बीघे ज़मीन खरीदकर शीघ्र ही उस पर इस वर्तमान विशाल और विस्तृत काली मन्दिर को बनवाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। सात वर्ष लगातार काम चलने पर भी सन् १८५४ में काम पूरा नहीं हुआ था तोभी शरीर का कोई भरोसा नहीं है और इमारत का काम इसी प्रकार चलता रहा तो उसके सम्पूर्ण होते तक चुप बैठना ठीक नहीं है ऐसा सोचकर मुख्य काली मन्दिर के पूर्ण होते ही रानी ने सन् १८५५ में देवी की प्राणप्रतिष्ठा करा दी।

परन्तु उसे इस कार्य में अनेक विघ्नों का सामना करना पड़ा। देवी का मन्दिर तैयार तो हो गया, परन्तु पूजा-अर्चा, नैवेद्य इत्यादि नित्य सेवा चलाने योग्य ब्राह्मण कैसे मिले? रानी तो जाति की ढीमर थी, शूद्रा की नौकरी करने के लिये कौन तैयार होता? उस समय सामाजिक प्रथा यह थी कि शूद्रा के बनाये हुए देवालय में पूजा करना तो क्या पर कर्मठ ब्राह्मण उस मन्दिर के देवता को प्रणाम तक नहीं करते थे। देवी पर रानी की अत्यन्त भक्ति होने के कारण उसके मन में ऐसा आता था कि "पूजा करने के लिये ब्राह्मण ही क्यों चाहिये? क्या देवी मेरे हाथ से सेवा ग्रहण नहीं करेगी? मैं ही स्वयं पूजा करूंगी और देवी की सब सेवा करूंगी।" पर तुरन्त ही वह यह भी सोचने लगती कि "यह तो सब ठीक है, पर मैं ही स्वयं नित्य सेवा करने लगूं तो शास्त्रविरुद्ध आचरण हो जाने के कारण भक्त ब्राह्मण आदि मन्दिर में आकर प्रसाद ग्रहण नहीं करेंगे। फिर इतना बड़ा मन्दिर बनवाने का क्या उपयोग?" इस विषय में उसने बहुतेरे शास्त्री और पंडितों से परामर्श किया पर कोई सन्तोषजनक व्यवस्था होने की आशा न रही।

इधर मन्दिर तथा मूर्ति तैयार हो गई पर देवी की नित्यपूजा की व्यवस्था न हो सकने के कारण "इतना बड़ा मन्दिर बनाना क्या व्यर्थ ही होगा" इस चिन्ता से रानी रात दिन बेचैन रहा करती थी। ऐसे संकट की अवस्था में झामापुकूर की पाठशाला के अध्यापक ने एक युक्ति सुझाई कि देवी का मन्दिर और सब सम्पत्ति यदि रानी किसी ब्राह्मण को दान कर दे और तत्पश्चात् वह ब्राह्मण देवी

की नित्यसेवा का प्रबन्ध करे तो शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन नहीं होगा और ब्राह्मण आदि उच्चवर्ण के लोगों को वहां प्रसाद ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं होगी।

यह व्यवस्था सुनकर रानी को धीरज हुआ और उसने देवी की सम्पत्ति को अपने गुरु के नाम से करके उनकी अनुमति से स्वयं उस सम्पत्ति की व्यवस्थापिका बनकर रहने का इरादा किया। यह बात शास्त्री लोगों को बताने पर उन्होंने कहा कि "ऐसी चाल कहीं नहीं है और ऐसा करने पर भी कोई ब्राह्मण उस मन्दिर में नहीं जावेगा।" पर उन्हें इसे शास्त्रविरुद्ध आचरण कहने का साहस नहीं हुआ।

सब पंडितों के मत के विरुद्ध रामकुमार अपना मत स्पष्ट प्रकाशित करता है, वह उन लोगों की परवाह नहीं करता यह देखकर रानी को रामकुमार के सम्बन्ध में बड़ी आशा हुई और उसके बारे में रानी के मन में आदर उत्पन्न हुआ।

उसके पास शिरूड़ गांव का महेशचन्द्र चटर्जी नामक एक कर्मचारी था। उसे एक बार सदाचारी, निष्ठावान् तथा विद्वान् ब्राह्मण ढूंढ़ने के लिये रानी ने कहा। इस काम के करने में पुरस्कार पाने का अच्छा अवसर देखकर उसने श्रीराधा-गोविन्द जी की पूजा के लिये अपने बड़े भाई क्षेत्रनाथ की तजवीज़ करा दी। परन्तु श्री कालीदेवी की पूजा के लिये उसे कोई भी योग्य ब्राम्हण नहीं मिला। रामकुमार का गांव इसके गांव के समीप ही होने के कारण उसे यह जानता था और घर की स्थिति ठीक न रहने के कारण कलकत्ते में आकर रामकुमार ने पाठशाला खोली थी यह बात भी इसे विदित थी। पर शूद्र से दान भी न लेने वाले क्षुदिराम का लड़का इस कार्य के लिये सहमत होगा कि नहीं इस बात की प्रबल शंका इसके मन में थी। अतः रामकुमार से खुद न पूछकर रानी को सब बातें इसने स्वयं बता दी और रानी को ही रामकुमार से इस विषय में पूछने के लिये कह दिया। रामकुमार यदि देवी की पूजा का भार उठा ले तो बड़ा अच्छा होगा इस विचार से रानी आनन्दित हुई और उसने उसी समय एक पत्र रामकुमार के पास ले जाने के लिये महेशचन्द्र को ही कहा।

इस पत्र को पाकर रामकुमार ने विचार करने के बाद रानी की विनती को मान्य करने का निश्चय किया। इस अद्भुत संयोग से रामकुमार का और उसके कारण गदाधर का दक्षिणेश्वर से सम्बन्ध हुआ। श्री जगदम्बा की अचिन्त्य लीला से रामकुमार पुजारी के पद पर निर्वाचित हुआ। योग्य पुजारी मिल जाने से रानी की भी चिन्ता दूर हुई।

ता. ३१ मई १८५५ को बड़े समारोह के साथ काली जी के नवीन मन्दिर में देवी की प्राणप्रतिष्ठा हुई और सारे दिन भर दक्षिणेश्वर का काली मन्दिर आनन्द से गूंजता रहा। रानी ने उस उत्सव में पानी के समान पैसा खर्च किया! काशी, प्रयाग, कन्नौज, नवद्वीप आदि स्थानों के बड़े २ नामी पंडित और विद्वान् ब्राह्मण उस उत्सव में सम्मिलित हुए थे। उन सभी ब्राह्मणों में से प्रत्येक को रानी ने एक रेशमी वस्त्र, एक दुपट्टा और एक मुहर दक्षिणा दी। दिन भर भोजन के लिये लोगों की पंगत पर पंगत बैठती रही। मन्दिर बांधने और प्राणप्रतिष्ठा करने में रानी ने कुल ६ लाख रुपये खर्च किये! देवी की नित्य पूजा की ठीक व्यवस्था रखने के लिये २,२६००० रुपये व्यय करके दिनाजपूर ज़िले का शालवाड़ी परगना खरीदकर उसकी आमदनी यहां के खर्च के लिये लगा दी।

उस दिन के इतने बड़े उत्सव में वहां प्रसाद न लेने वाला एक ही व्यक्ति रह गया। वह था गदाधर! वहां के सभी कार्यक्रम में उसने बड़े उत्साह से भाग लिया। लोगों के साथ खूब आनन्द मनाया, परन्तु आहार के सम्बन्ध में वह बड़ा विवेकी और नैष्ठिक होने के कारण या अन्य किसी कारण से हो उसने सारा दिन उपवास में बिताया और संध्या समय पास की एक दुकान से एक पैसे का चूड़ा (चिउड़ा) लेकर खाया और रात होने पर झामापुकूर को पैदल लौट आया।

देवी की प्राणप्रतिष्ठा का वृत्तान्त कभी २ श्रीरामकृष्ण स्वयं ही हम लोगों से बताया करते थे। वे कहते थे, " रानी ने काशीयात्रा की सब तैयारी कर डाली थी। प्रस्थान का दिन भी निश्चित हो गया था। साथ में ले जाने का आवश्यक सामान १०० नौकाओं में भर कर घाट पर तैयार था, अगले दिन

रात्रि को "तू काशी को मत जा, यहीं मेरा मन्दिर बनवा दे" इस प्रकार उसे देवी ने स्वप्न में कहा; इसलिये जाने का विचार छोड़कर रानी तुरन्त मन्दिर के योग्य स्थान देखने में लग गई और इस वर्तमान स्थान को उसने पसन्द किया। इस जगह का कुछ भाग एक साहब का था और कुछ भाग में मुसलमानों का कब्रस्थान था; जगह का आकार कछुए की पीठ के समान था। तंत्रशास्त्र का प्रमाण है कि साधना के लिये और शक्ति की प्रतिष्ठा के लिये इसी आकार की जगह विशेष उपयुक्त होती है।

देवीप्रतिष्ठा के उपयुक्त मुहूर्त के बदले विष्णुपर्वकाल में ही रानी ने यह उत्सव निपटा डाला। इसका कारण श्रीरामकृष्ण बताते थे कि "देवी की मूर्ति बनकर घर में आने के समय से ही रानी ने शास्त्रोक्त कठोर तप का आचरण आरम्भ कर दिया। त्रिकाल स्नान, हविष्यान्न भोजन और भूमिशयन के साथ २ दिन का अधिकांश भाग जप, तप, ध्यान, पूजा में बिताने लगी। देवी की प्राण-प्रतिष्ठा के योग्य मुहूर्त देखने का काम धीरे २ चला था। देवी की गढ़ी हुई मूर्ति को रानी ने एक बड़ी पेटी में ताला लगाकर सावधानी से रख दी थी। एक रात को देवी ने रानी से स्वप्न में कहा, "मुझे और कितने दिन इस प्रकार कैद में रखेगी? तेरे बंदीगृह में मुझे बड़ा कष्ट होता है। जितना शीघ्र हो मेरी प्रतिष्ठा कर।" इस स्वप्न के कारण रानी शीघ्र मुहूर्त निश्चित कराने पर तुल गई; पर विष्णुपर्वकाल के सिवाय दूसरा अच्छा मुहूर्त जल्दी न मिलने के कारण वही दिन उसने निश्चित किया।" अस्तु।

दक्षिणेश्वर के मन्दिर में स्थायीरूप से पुजारी का पद ग्रहण करने का विचार रामकुमार का नहीं था यह उसके उस समय के आचरण से अनुमान होता है। उसका इरादा यही रहा होगा कि देवी की प्रतिष्ठाविधि और उत्सव समाप्त होने पर झामापुकूर को वापस चले जावें। उस दिन देवी की पूजा का कार्य करने में मैं कोई अशास्त्रीय कार्य कर रहा हूं ऐसी उसकी भावना कदापि न थी इसका पता गदाधर के साथ उस समय के उसके बर्ताव से लगता है। बात ऐसी थी।

उत्सव समाप्त होने पर गदाधर रात को घर वापस आ गया। रामकुमार रात को घर नहीं आया था। उसका पता लगाने के लिये हो या कुछ विधि शेष रही थी उसे देखने के कुतुहल से ही वह प्रातःकाल ही दक्षिणेश्वर चला गया। बहुत समय बीत गया तथापि रामकुमार के लौटने के कोई चिन्ह नहीं दिखाई देते थे। तब दो पहर को ही गदाधर लौट आया और वहां का काम समाप्त हो जाने पर भाईसाहब वापस लौट आवेंगे इस आशा से ५।७ दिन वह दक्षिणेश्वर गया ही नहीं। तो भी रामकुमार नहीं लौटा। तब इसका कारण क्या है यह देखने के लिये पुनः ७ वें या ८ वें दिन गदाधर दक्षिणेश्वर पहुँचा। तब वहां उसे विदित हुआ कि बड़े भाई ने वहां के पुजारी का पद स्थायीरूप से स्वीकृत कर लिया है। यह सुनकर उसे अच्छा नहीं लगा। हमारे पिता ने शूद्र का दान तक कभी नहीं लिया और भाई शूद्र की चाकरी करने लगे। यह कैसी बात है। ऐसा सोचकर गदाधर ने रामकुमार से नौकरी छोड़ने के लिये बहुत बिनती की। रामकुमार ने अपने छोटे भाई का कहना शान्ति के साथ सुन लिया और नाना प्रकार से शास्त्र और युक्ति की सहायता से उसे समझाने का प्रयत्न किया, पर सब निष्फल हुआ। अन्त में निश्चय हुआ कि रामकुमार ने यह कार्य उचित किया या अनुचित इस विषय के निर्णय के लिये चिठ्ठियां डाली जावें। चिठ्ठी में भी "रामकुमार ने यह उचित किया" ऐसा ही निकलने पर गदाधर मान गया।

यह तो सब ठीक हुआ। पर गदाधर के मन में यह प्रश्न उठने लगा कि अब पाठशाला बन्द होगी और बड़े भाई दक्षिणेश्वर में रहेंगे तब हमें क्या करना होगा। बहुत समय तक विचार करते २ घर लौटने के लिये बहुत विलम्ब हो गया, अतः उस दिन वह वहीं रह गया। रामकुमार ने उससे देवी का प्रसाद लेने के लिये कहा पर वह किसी तरह भी उसके लिये राज़ी नहीं हुआ; रामकुमार बोला, "गंगा जी के पवित्र जल से पकाया हुआ और वह भी देवी का प्रसाद, ऐसा होते हुए भी तू प्रसाद क्यों नहीं लेता?" तौभी गदाधर राजी नहीं हुआ। तब रामकुमार बोला, "अच्छा, ऐसा कर; कोठी से कच्चा अन्न ले जा और गंगा जी के बालू पर अपने हाथ से रसोई बनाकर खा; तब तो ठीक हो जावेगा? गंगा जी के किनारे सभी वस्तु पवित्र हो जाती हैं यह तो तुझे स्वीकार है न?" गदाधर की आहार सम्बन्धी निष्ठा उसकी गंगाभक्ति के सामने पराजित हो गई। रामकुमार

शास्त्र और युक्ति द्वारा जो न कर सका वह विश्वास और भक्ति से सहज ही हो गया। उस दिन से गदाधर अपने हाथ से रसोई करने लगा और दक्षिणेश्वर में ही रहने लगा।

सत्य है! श्रीरामकृष्ण की गंगा जी पर अद्भुत भक्ति थी। गंगा के पानी को वे "ब्रह्मवारि" कहा करते थे। वे कहते थे, "गंगा के किनारे रहने से मनुष्य का मन अत्यन्त पवित्र हो जाता है और उसमें धर्मबुद्धि आप ही आप उत्पन्न हो जाती है। गंगा के उदक को स्पर्श करती हुई बहने वाली हवा गंगा के दोनों किनारे जहां तक बहती है वहां तक की भूमि को पवित्र कर देती है! उस स्थान के बसने वालों के अन्तःकरण में सदाचार, ईश्वरभक्ति, निष्ठा और तपश्चर्या करने की इच्छा गंगा मैया की दया से सदाकाल जागृत रहती है।" बहुत समय तक गपशप करने के बाद अथवा विषयी लोगों से सम्मिलित होने के बाद यदि कोई उनके दर्शन के लिये आता था तो उसे वे कहते थे, "जा थोड़ा गंगा जी से पानी पीकर आ जा।" उनसे भेंट के लिये किसी घोर विषयासक्त या ईश्वरविमुख मनुष्य को आया हुआ देखकर उसके चले जाने के बाद उसके बैठे हुए स्थान पर वे गंगा-जल छिड़कते थे। प्रातर्विधि के लिये यदि गंगाजल का उपयोग करता हुआ कोई दिख जावे तो उन्हें अत्यन्त दुःख होता था। अस्तु।

दिन भर पक्षियों के कलरवपूर्ण पंचवटी के सुशोभित उद्यान, गंगा जी का धीर गम्भीर प्रवाह; सुन्दर, भव्य और विशाल देवी मन्दिर और वहां अहर्निश चलने वाली देवसेवा इत्यादि के कारण गदाधर का मन क्रमशः दक्षिणेश्वर में रमने लगा और शीघ्र ही कामारपुकूर की विस्मृति हो गई। उसका सब समय बड़े आनन्द में बीतने लगा।

श्रीरामकृष्ण की उपरोक्त आहारनिष्ठा देखकर कोई यह कहेगा कि ऐसी अनुदारता तो सर्वत्र दिखाई देती है तब यह अनुदारता श्रीरामकृष्ण में भी थी यह कह कर क्या यह सिद्ध करना है कि ऐसी अनुदारता के बिना आध्यात्मिक उन्नति सम्भव नहीं है? इस शंका के उत्तर में इतना ही कहना है कि अनुदारता और अत्यन्त दृढ़ निष्ठा दोनों एक नहीं हैं। अनुदारता का जन्म अहंकार से होता है

और अनुदारता रहने पर हम जैसा समझते हैं वही ज्ञान है और हम जो करते है वही उचित है ऐसा अभिमान होने से मनुष्य प्रगति या उन्नति के मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। इसके विपरीत दृढ़ निष्ठा का जन्म शास्त्र और आप्तवाक्यों के विश्वास से होता है। दृढ़ निष्ठा के उदय होने से मनुष्य अहंकार के बन्धन से छूटकर उन्नति के मार्ग में अग्रसर होता है और क्रम क्रम से सत्य का अधिकारी बन जाता है। निष्ठा के उदय होने पर शुरू २ में मनुष्य का वर्ताव अनुदार दिखना सम्भव है। परन्तु आगे उसके द्वारा उसे अपना मार्ग अधिकाधिक उज्ज्वल दिखने लगता है और उस निष्ठा पर से संकुचित भाव या अनुदारता का आवरण आप ही आप नष्ट हो जाता है। इसी कारण आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में निष्ठा की इतनी महिमा गाई गई है। श्रीरामकृष्ण के चरित्र में भी यही बात दिखाई देती है। इससे यह निःसन्देह सिद्ध होता है कि "दृढ़ निष्ठा के साथ शास्त्राज्ञा के अनुसार यदि हम आध्यात्मिक मार्ग में अग्रसर हों तभी यथा समय हम उदारता के अधिकारी बनकर शान्तिसुख प्राप्त करेंगे; अन्यथा नहीं।" श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "कांटे से ही कांटे को निकालना पड़ता है।" (कण्टकेनैव कण्टकम्।) उसी तरह निष्ठा का अवलम्बन करके ही हमें उदारता प्राप्त कर लेनी चाहिये। शासन और नियम को मानते हुए ही शासनातीत, नियमातीत अवस्था प्राप्त की जा सकती है।

यौवन के आरम्भ में श्रीरामकृष्ण के जीवन में इस प्रकार की असम्पूर्णता देखकर कोई सम्भवतः यह कहे कि "तब फिर उन्हें "ईश्वरावतार" क्यों कहते हो? मनुष्य ही कहने में क्या हानि है? और यदि उन्हें ईश्वरावतार ही कहना है तो फिर इस प्रकार की असम्पूर्णता को छिपा कर रखना ही ठीक है।" इस पर हम यही कहते हैं कि "भाइयो! हमारी भी ज़िन्दगी में एक ऐसा समय आ चुका है कि जब ईश्वर नरदेह धारण करके अवतार लेता है इस बात पर हमें स्वप्न में भी विश्वास नहीं होता था, परन्तु "यह बात सम्भव है" ऐसा जब उन्हीं की कृपा से हम समझने लगे तब हमें यह बात भी विदित हो गई कि नरदेह धारण करने पर देह की असम्पूर्णता के साथ २ मन की असम्पूर्णता भी ईश्वर को स्वीकार करनी पड़ती है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "सोना इत्यादि धातु में बिना कुछ मिश्रण किये गढ़ाई ठीक नहीं होती।" अपने जीवन की असम्पूर्णता

उन्होंने हम से कभी भी छिपाकर नहीं रखी और न कभी उन्होंने छिपाने का प्रयत्न ही किया। उसी प्रकार बारम्बार हमें यह स्पष्ट बताने में कसर नहीं रखी कि "जो राम और कृष्ण हुआ था वही अब जैसे राजा भेष बदल कर नगर देखने निकलता है वैसे ही (अपनी ओर अंगुली दिखा कर) इस शरीर में गुप्तरूप से आया है। इसी कारण हमें जो २ विदित हैं वे सब बातें तुम्हें बताते हैं। अपनी इच्छा के अनुसार मत कायम करने के लिये तुम्हें पूरी स्वतंत्रता है।

१३–पुजारीपद ग्रहण।

(सन् १८५६)

" हृदय न रहता तो साधन–काल में यह शरीर न टिकता। उसकी सेवा मैं कभी न भूलूंगा। "

—श्रीरामकृष्ण।

हम कह आये हैं कि देवी की प्राणप्रतिष्ठा के थोड़े ही दिनों के भीतर गदाधर दक्षिणेश्वर में ही रहने के लिये चला गया और वहां अपना समय आनन्द से विताने लगा। उसके सुन्दर रूप, मनोहर आवाज़, नम्र और विनययुक्त स्वभाव और इस अल्पवय में ही ऐसी धर्मनिष्ठा को देखकर रानी के जामात मथुरबाबू की उस पर अनुकूलता दिखने लगी और क्रमशः वह उस पर बड़ा प्रसन्न रहने लगा। बहुधा ऐसा देखने में आता है कि जीवन में जिनसे हमारा विशेष प्रेम का सम्बन्ध होना रहता है उनकी प्रथम भेंट के समय ही कभी २ हमारे हृदय में उनके प्रति एक प्रकार के प्रेम का आकर्षण होता है। शास्त्रों में इसका कारण पूर्व जन्म का संस्कार बतलाया गया है। श्रीरामकृष्ण और मथुरबाबू के इसके बाद के १४ वर्ष के दिव्य और अलौकिक सम्बन्ध को देखते हुए तो यही मानना होगा। अस्तु।

देवी की प्राणप्रतिष्ठा के उपरान्त प्रायः एक मास गदाधर शान्त था। उस का कोई कार्यक्रम निश्चित नहीं हुआ था। मथुरबाबू की इच्छा उसे देवी की

सेवा में मुख्य पुजारी का सहायक बनाने की थी। रामकुमार से उन्होंने ऐसा कहा भी। परन्तु अपने भाई की मानसिक स्थिति उसे पूरी २ मालूम रहने के कारण उसने मथुरबाबू से बता दिया कि इसे वह कबूल नहीं करेगा। मथुरबाबू इतने से शान्त बैठने वाले नहीं थे तथापि इस समय उन्होंने कोई आग्रह नहीं किया और वे उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

लगभग इसी समय श्रीरामकृष्ण के भविष्य जीवन से अत्यन्त निकट सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति का दक्षिणेश्वर में आगमन हुआ। वह था इनकी फुफेरी बहिन हेमांगिनी का पुत्र * हृदयराम मुकर्जी। यहां कोई काम मिल जावे इस हेतु से उसका आना हुआ था। वह अपने मामा को यहां रहते देखकर उनके साथ बड़े आनन्द से रहने लगा। श्रीरामकृष्ण और वह समवयस्क ही थे और बचपन से आपस में दोनों का अच्छा परिचय था।

हृदय अच्छा ऊँचा पूरा, सुन्दर और दर्शनीय पुरुष था। वह जैसा शरीर से सुदृढ़ और बलिष्ठ था वैसा मन से भी उद्यमशील और निडर था। संकट के समय वह ज़रा भी डँमाडोल नही होता था और उसमें से निकलने का कोई न कोई मार्ग अवश्य निकाल लेता था। वह अपने छोटे मामा गदाधर पर बड़ा प्रेम करता था और उनको सुखी रखने के लिये वह स्वयं प्रत्येक कष्ट भोगने के लिये सदैव तैयार रहता था। हृदय में आलस्य का नाम नहीं था। वह सदा किसी न किसी काम में व्यस्त रहा करता था। हृदय का स्वभाव कुछ स्वार्थपरायण भी था और उसके अन्तःकरण में भक्तिभाव बिल्कुल न रहने के कारण परमार्थ की ओर उसका अधिक ध्यान नहीं था। उसकी स्वार्थपरता का समूल नाश कभी नहीं हुआ। पीछे २ उसमें कुछ भावुकता और निःस्वार्थ बुद्धि दिखने लगी, पर वह केवल श्रीरामकृष्ण की दिव्य संगति का परिणाम था। शरीर के लिये आवश्यक आहार विहार आदि विषयों से सम्पूर्ण उदासीन, सर्वदा विचारशील और स्वार्थ-गंधशून्य श्रीरामकृष्ण के लिये हृदय के समान उद्योगी, साहसी, श्रद्धावान् और प्राणों से अधिक प्रेम करने वाले सहायक की आवश्यकता थी। सम्भव है श्री जगदम्बिका ने इसी हेतु श्रीरामकृष्ण के साधनाकाल में हृदय को उनके पास

---

* इनका सम्बन्ध इसके बाद के पृष्ठ के वंशवृक्ष में देखिये।

ला दिया हो इसे कौन जान सकता है? पर यह बात अवश्य है कि यदि हृदय न होता तो साधनाकाल में श्रीरामकृष्ण के शरीर का टिकना असम्भव हो जाता। इसी कारण उसका नाम श्रीरामकृष्ण के चरित्र में अमर हो गया है और हम सब के लिये हृदयराम पूज्य हो गया है।
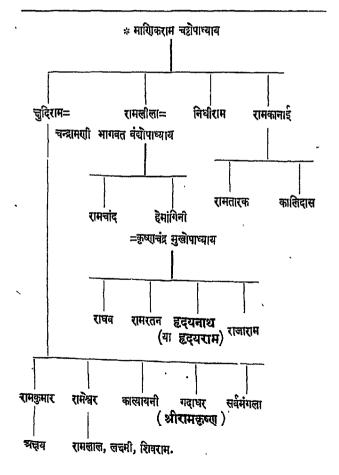
हृदय दक्षिणेश्वर आया तब गदाधर का २१ वां वर्ष आरम्भ हुआ था। हृदय के आ जाने से गदाधर के दिन बड़े ही आनन्द से बीतने लगे। दोनों ही स्नान-खाना, उठना-बैठना सब व्यवहार एक साथ करते थे। हृदय अपने मामा की इच्छा के विरुद्ध कोई काम नहीं करता था और उनके बाहरी निरर्थक और निष्कारण बर्ताव के सम्बन्ध में भी व्यर्थ पंचायत नहीं करता था और न उन्हें उनके विषय में कुछ पूछता ही था। गदाधर को ऐसा स्वभाव बड़ा अच्छा लगता था, इसी कारण हृदय इन्हें अत्यन्त प्रिय लगने लगा।

हृदय हम लोगों से कई बार कहा करता था कि "इस समय से श्रीरामकृष्ण के प्रति मेरे हृदय में अद्भुत प्रेम और आकर्षण उत्पन्न हो गया। मैं सदा छाया के समान उनके साथ रहने लगा। उन्हें छोड़कर कहीं भी जाने का मन नहीं होता था। वे यदि पांच मिनट भी आँखों से ओझल होते तो मेरा मन बड़ा अशान्त हो उठता था। हमारे सभी व्यवहार एक साथ ही हुआ करते थे। केवल मध्यान्ह में कुछ समय के लिये हम दोनों अलग होते थे क्योंकि उस समय वे सीधा ले जाकर पंचवटी के नीचे रसोई बनाते थे और मैं देवी का प्रसाद ही पाया करता था। उनकी रसोई की सभी तैयारी मैं ही कर देता था। वे अपने हाथ से बनाकर खाते थे तथापि वहां का भोजन ग्रहण करना बहुत दिनों तक उन्हें उचित न जँचा। उनकी आहार सम्बन्धी निष्ठा इतनी प्रबल थी! दोपहर को वे भोजन स्वयं बनाते थे और रात को देवी का प्रसाद ही ग्रहण करते थे। पर कई बार इस प्रसाद को खाते समय उनकी आँखों में पानी आ जाता था और रोते २ वे जगदम्बा से कहते थे, "माता! मुझे ढीमर का अन्न क्यों खिलाती हो?"

श्रीरामकृष्ण स्वयं इस विषय में कभी २ कहते थे, "ढीमर का अन्न खाने के कारण मन में बड़ा बुरा लगता था। गरीब कंगाल भिखारी भी पहिले पहिले "ढीमर का मन्दिर" कहकर वहां भीख नहीं लेते थे। पका हुआ अन्न कोई लेनेवाला न मिलने के कारण कई बार सब का सब जानवरों को खिला दिया जाता था या गंगा जी में डाल दिया जाता था।

हमने यह सुना है कि श्रीरामकृष्ण ने वहां बहुत दिनों तक हाथ से पका-कर नहीं खाया। इससे ऐसा मालूम होता है कि देवी के पुजारी होते तक ही वे अपने हाथ से रसोई करके खाते रहे होंगे। वे दक्षिणेश्वर में आने के दो तीन मास के भीतर ही पुजारी हो गये। अस्तु।

हृदय जानता था कि मामा का मेरे ऊपर बड़ा प्रेम है। श्रीरामकृष्ण के सभी व्यवहार उसके सामने ही होते थे, पर उसे केवल एक बात बहुत दिनों तक समझ में नहीं आई। वह यह थी—वह जिस समय अपने बड़े मामा राम-कुमार को कुछ मदद देने में लगा रहता, दोपहर को भोजन के उपरान्त वह विश्राम लेता रहता और संध्या समय जब वह आरती देखते खड़ा रहता ऐसे समय गदाधर उसको वैसे ही छोड़कर कहीं ग़ायब हो जाता था। हृदय उसे बहुत ढूंढ़ता था पर पाता नहीं था, और घंटे डेढ़ घंटे के बाद लौट आने पर "मामा आप कहां थे?" ऐसा प्रश्न करने से वे स्पष्ट कुछ भी नहीं बताते थे; "इधर ही था" ऐसा कह देते थे। बहुत दिनों तक ताकते रहने से एक बार श्रीरामकृष्ण पंचवटी की ओर से लौटते हुए दिखाई दिये तब हृदय ने अन्दाज लगाया कि ये शौच के लिये गये होंगे। तब से उसने इस विषय में अधिक जाँच नहीं की।

हृदय कहता था कि एक दिन मामा को शिवमूर्ति बनाकर उसकी पूजा करने की इच्छा हुई। बचपन से ही उन्हें उत्तम मूर्ति बनाना आता था। इच्छा होते ही उन्होंने गंगा जी की मृत्तिका लेकर नन्दी और शिव दोनों की सुन्दर प्रतिमाएँ बना लीं और उनकी पूजा में वे निमग्न हो गये। इतने ही में वहां मथुरबाबू सहज ही आ पहुँचे और इतनी तन्मयता से मामा क्या कर रहे हैं यह देखते २ उनकी दृष्टि इन प्रतिमाओं पर पड़ गई। मूर्ति तो छोटी थी पर बहुत उत्तम बनी थी। वह मूर्ति मामा ने ही तैयार की है यह सुनकर मथुरबाबू को आश्चर्य हुआ। पूजा होने बाद उस मूर्ति को मुझसे लेकर उन्होंने पुनः बारीकी के साथ देखा और बड़े कुतूहल से उस मूर्ति को रानी के पास भी देखने के लिये भेज दिया। उसे देखकर रानी को भी अचरज मालूम हुआ। गदाधर को नौकर रखने की इच्छा उन्हें बहुत दिनों से थी। आज उसके इस नये गुण को देखकर उनकी

वह इच्छा और भी बढ़ गई और रामकुमार के द्वारा उन्होंने उससे नौकरी करने के लिये दुबारा पुछवाया। परन्तु गदाधर ने " एक भगवान के सिवाय मुझे दूसरे किसी की नौकरी करना नहीं है " ऐसा स्पष्ट उत्तर दे दिया। नौकरी चाकरी के सम्बन्ध में इसी प्रकार का मत कई बार हमने श्रीरामकृष्ण के मुँह से सुना है। साधारणतः स्थिति ठीक रहते हुए नौकरी करना मनुष्य के लिये वे हीनता समझते थे। अपने बाल-भक्तों में से एक (निरंजन) की नौकरी का समाचार सुनकर वे बोल उठे, " उसकी मृत्यु की वार्ता सुनकर मुझे जितना दुःख न होता, उतना दुःख मुझे उसके नौकरी स्वीकार करने की बात सुनकर हुआ है। " कुछ दिनों के बाद जब उससे भेंट हुई तब उन्हें विदित हुआ कि ग़रीबी के कारण उसकी वृद्धा माता की ठीक व्यवस्था नहीं हो सकी इस सबब से उसने नौकरी कर ली, तब उन्हें बड़ा आनन्द हुआ और उसके शरीर और मुँह पर हाथ फेरते हुए उन्होंने बड़े प्रेम से कहा, " कोई हर्ज़ नहीं! ऐसी अवस्था में नौकरी करने से तुझे कोई दोष नहीं लगेगा; पर यदि अपनी माता के लिये नहीं, स्वयं अपने ही कारण नौकरी स्वीकार करके तू यहां आता, तो मुझे तुझको स्पर्श भी करते नहीं बनता! तभी तो मैंने कहा था कि " मेरे निरंजन में तो किंचित् भी अंजन (दोष या दाग) नहीं है और उसने यह बला कहां से बटोर ली? " निरंजन के प्रति ये उद्गार सुनकर बाक़ी लोगों को बड़ा विस्मय हुआ। एक ने कहा भी—" महाराज! आप नौकरी को इतनी दूषित मानते हैं पर बिना नौकरी के गृहस्थी चले कैसे? " श्रीरामकृष्ण बोले—" जिन्हें नौकरी करना हो वे खुशी से करें; मैं सभी को नौकरी करने से नहीं रोकता। (बाल भक्तों की ओर इशारा करके) मेरा कहना केवल इन्हीं के लिये है। इनकी बात अलग है और तुम लोगों की बात अलग है। " आध्यात्मिक उन्नति और नौकरी का संयोग कभी नहीं हो सकता यही उनका निश्चित मत था। इसी कारण वे बाल भक्तों को ऐसा उपदेश देते थे।

बड़े भाई से मथुरबाबू की इच्छा जान लेने के बाद गदाधर मथुरबाबू के सामने जाने या उन्हें दिखाई देने का अवसर टालने लगा। क्योंकि जैसे सत्य और धर्म के पालन करते समय वह किसी के लिहाज़ या मुरव्वत में नहीं पड़ता था, उसी प्रकार किसी को व्यर्थ कष्ट देने में भी उसे प्राणसंकट मालूम होता था। उसी प्रकार मन में बिना कोई आशा रखे गुणी व्यक्तियों के गुण का आदर करना और

मानी व्यक्ति को सरल चित्त से मान देना उसका स्वभाव ही था। इसी कारण मन्दिर के पुजारी का पद ग्रहण करने या नहीं करने का स्वयं निश्चय करने के पूर्व मथुरबाबू के प्रश्न का यदि मैं अप्रिय उत्तर दे दूं तो उन्हें बुरा लगेगा और मेरे लिये भी अच्छा नहीं दिखेगा यही सोच कर वह मथुरबाबू को टालने लगा। इधर दक्षिणेश्वर में जैसे २ अधिक समय बीतने लगा, वैसे २ मुझे यहीं रहने को मिले तो ठीक हो ऐसा भी विचार उसके मन में आने लगा और वह स्थान उसे अधिकाधिक प्रिय हो चला। इसी कारण उसने अपना विचार निश्चित होते तक मथुरबाबू से दूर रहने का सोचा।

परन्तु जिस बात से वह डरता था वही एक दिन सहज ही सामने आ पड़ी। उस दिन मथुरबाबू देवी के दर्शन के लिये आये थे। उन्होंने दूर से गदाधर को देखा और उसे बुलवा भेजा। हृदय साथ में ही था। मथुरबाबू को देखते ही गदाधर उन्हें टालकर दूसरी ओर जाने के विचार में था। इतने में ही नौकर ने आकर कहा, "बाबूसाहेब आपको बुला रहे हैं।" उनके पास जाने का गदाधर का विचार न देखकर हृदय बोल उठा, "मामा! बाबू बुलाते हैं, चलिये न वहां!" गदाधर बोला, "वहाँ जाकर क्या करना है? वे मुझसे यहां नौकरी करने के ही विषय में पूछेंगे।" हृदय बोला, "तो उसमें क्या हानि है? बड़ों के आश्रय में रहने से कौनसी बुराई है?" गदाधर बोला, "जन्म भर नौकरी करने की मेरी ज़रा भी इच्छा नहीं है। इसके सिवाय यहां नौकर हो जाने पर देवी के गहनों के लिये जवाबदार रहना होगा और उस तरह का झंझट मुझसे नहीं हो सकेगा; तथापि यदि तू यह जवाबदारी स्वीकार करता हो तो नौकरी करने में मुझे कोई हर्ज़ नहीं है।" हृदय तो नौकरी की खोज में ही वहां आया था। उसने गदाधर का कहना बड़े आनन्द से स्वीकार कर लिया और वे दोनों मथुरबाबू के पास गये। गदाधर के अनुमान के अनुसार मथुरबाबू ने उसे नौकरी के विषय में ही पूछा। गदाधर ने अपना कहना स्पष्ट बता दिया और मथुरबाबू ने भी उसे कबूल कर लिया। तुरन्त ही उसी दिन उन्होंने गदाधर को देवी के वेषकारी पद पर नियुक्त कर दिया और हृदय को उसका और रामकुमार का सहायक बना दिया (१८५६)। अपने भाई को नौकर होते देख कर रामकुमार निश्चिन्त हो गया। इस प्रकार देवी की प्राणप्रतिष्ठा होने के तीन मास के भीतर ही गदाधर ने वहां के

पुजारी का पद स्वीकार कर लिया। पूजा के समय की उसकी तन्मयता, अन्य समय का उसका सरल व्यवहार, उसके सुन्दर स्वरूप और आवाज़ को देखकर मथुरबाबू के मन में उसके प्रति उत्तरोत्तर आदर और प्रेम बढ़ने लगा।

उसी वर्ष जन्माष्टमी के दूसरे दिन श्रीराधागोविंद जी के पुजारी क्षेत्रनाथ के हाथ से गोविन्द जी की मूर्ति नीचे फ़र्श पर गिर पड़ी और उसका एक पैर भंग हो गया। पुजारी को भी चोट लगी। उसे तो वह भूल गया पर मथुरबाबू के भय से कांपने लगा। खंडित मूर्ति की पूजा करना शास्त्र में निषिद्ध है। तब इसके लिये अब कौनसा उपाय है? मथुरबाबू ने शास्त्रज्ञ पंडितों की सभा भराई और उनसे राय ली। सभा में सबने यही कहा कि भग्न मूर्ति को हटाकर उसके स्थान में नई मूर्ति की स्थापना की जावे। वह मूर्ति बहुत मनोहर थी। पंडितों के निर्णय के अनुसार उसे फेंक देना पड़ेगा इस विचार से मथुरबाबू को दुःख मालूम हुआ। परन्तु बाबा (श्रीरामकृष्ण को वे बाबा कहा करते थे) इस विषय में क्या कहते हैं उसे भी सुनें ऐसा विचार उसके मन में आया। श्रीरामकृष्ण को पूछते ही वे बोले, "रानी के जमाइयों में से किसी को चोट लगकर पैर टूट जावे तो क्या उसे वह फेंक देगी और उसके स्थान में दूसरे को बैठाल देगी या उसी के पैर को दुरुस्त करने की व्यवस्था करेगी? यहां भी वैसे ही करना चाहिये।" बाबा के इस निर्णय को सुनकर मथुरबाबू और अन्य लोग चकित हो गये और उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। इतनी सरल बात किसी को कैसे नहीं सूझी? इतने समय तक जिस मूर्ति को गोविन्द जी के दिव्य आविर्भाव से जीवित मानते थे और उसी प्रकार की दृढ़ श्रद्धा और विश्वास सब कोई मन में रखते थे क्या मूर्ति के पैर टूटते ही वह सब उसी साथ नष्ट हो गया? इतने दिनों तक जिस मूर्ति का आश्रय लेकर श्री भगवान की पूजा करके उसके प्रति अपने हृदय की भक्ति और प्रेम अर्पण किया करते थे वह सब क्या उस मूर्ति के एक पैर के टूटते ही सच्चे भक्त के हृदय में से नष्ट जावेगा? अथवा भक्त का प्रेम क्या मूर्ति के ही आकार का होता है? और इस मूर्ति के अवयव में थोड़ा बहुत अन्तर पड़ते ही क्या उसी मात्रा में वह भी कम हो जाया करता है? उन पंडितों में से कुछ को तो श्रीरामकृष्ण का निर्णय मान्य हुआ और कुछ को मान्य नहीं हुआ। मथुरबाबू ने बाबा का निर्णय मान लिया। श्रीरामकृष्ण ने उस टूटे हुए पैर को इस खूबी

के साथ जोड़ दिया कि उस मूर्ति का पैर टूटा है यह किसी के ध्यान में नहीं आ सकता था। मूर्ति भंग होने का पता पाते ही मथुरबाबू ने एक नई मूर्ति तैयार करने के लिये एक कारीगर से कहा था। नई मूर्ति आने पर वह वहीं राधागोविंद के मन्दिर में ही एक बाजू में वैसी ही रख दी गई और पुरानी ही मूर्ति की पुनः प्राणप्रतिष्ठा कर दी गई। वह दूसरी मूर्ति वहां अभी भी वैसी ही पड़ी हुई है। मथुराबाबू ने क्षेत्रनाथ को काम से अलग कर दिया और उसके स्थान में गदाधर की नियुक्ति कर दी और हृदय रामकुमार के हाथ के नीचे रख दिया गया।

हृदय कहता था, "मामा की पूजा एक दर्शनीय वस्तु थी। जो उसे देखता था वही मुग्ध हो जाता था। उसी तरह उनका गायन था। उसे जो सुनता था वह कभी नहीं भूलता था। उनके गायन में उस्तादी ढंग या हाथ आदि का हिलाना नहीं रहता था। उसमें रहती थी केवल ताल-लय की विशुद्धता और गायन के पद में वर्णित विषय के साथ तन्मयता जिसके कारण सुनने वाले का हृदय भी उनकी मधुर आवाज़ से हिल जाता था और उस पद के भाव में तन्मय हो जाता था। भाव ही तो संगीत का प्राण है यह उनका गायन सुनकर निश्चय हो जाता था और ताल-लय की विशुद्धता हुए विना यह भाव यथोचित रीति से प्रगट नहीं होता यह बात भी दूसरों के गायन और इनके गायन की तुलना करने से मालूम हो जाती थी। रानी रासमणि को इनका गायन बड़ा प्रिय था और जब २ वे देवी के दर्शनार्थ आती थीं तब २ वे इनसे गायन सुना करती थीं।

इनके गीत इतने मधुर होने का और भी एक कारण है। वे गाते समय इतने तन्मय हो जाते थे कि उन्हें दूसरे को गाना सुनाने का ध्यान ही नहीं रहता था। जिस पद को वे गाते थे उसीके विषय में ऐसे मग्न हो जाते थे कि किसी दूसरी ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता था। अत्यन्त भक्तिपूर्वक गाने वाले भी श्रोतृसमुदाय से प्रशंसा पाने की थोड़ी बहुत इच्छा तो रखते ही हैं। पर श्रीरामकृष्ण का ऐसा नहीं था। यदि उनके गायन की प्रशंसा किसी ने की तो वे सचमुच यही समझते थे कि उस पद के विषय की प्रशंसा की जा रही है न कि [illegible] आवाज़ की! हृदय कहते थे, "देवी के सामने बैठकर पद, भजन आ[illegible] ते समय उनकी आँखों से लगातार अश्रुधारा बहती थी और उससे उनका [illegible]

भोग जाता था। पूजा में वे ऐसे तन्मय हो जाते थे कि उस समय यदि वहां कोई आ जावे, या पास में खड़ा हो जावे, तो उनको उसका भान नहीं होता था।" श्रीरामकृष्ण स्वयं कहते थे कि "अंगन्यास इत्यादि करते समय वे मन्त्र उज्ज्वल अक्षरों में मेरे शरीर पर मुझे प्रत्यक्ष दिखाई देते थे। सर्पाकार कुंडलिनी शक्ति के सुषुम्ना मार्ग से सहस्रार कमल की ओर जाते समय शरीर के जिस २ अङ्ग को छोड़ कर वह आगे जाती थी उस २ अङ्ग का तत्काल निस्पंद, बधिर और मृतवत् होना मुझे प्रत्यक्ष अनुभव होता था। पूजापद्धति के विधान के अनुसार-"रं इति जलधारया वन्हिप्राकारं विचिन्त्य—" अर्थात् अपने चारों ओर पानी की धारा से घेर कर पूजक "अपने चारों ओर अब अग्नि का घेरा हो गया है, अतः कोई भी विघ्न उस स्थान में अब नहीं आ सकता" ऐसा चिन्तन करे-इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण करते समय मुझे यह प्रत्यक्ष दिखता था कि अग्नि देव ने अपनी शत जिव्हाओं से मुझे घेरकर एक परकोट ही तैयार कर दिया है जिससे कोई भी विघ्न भीतर प्रवेश नहीं कर सकता।" हृदय कहता था—"पूजा के समय के उनके तेजःपुंज शरीर और तन्मयता को देखकर दर्शक लोग आपस में कहते थे कि साक्षात् ब्रह्मण्य देव ही नरदेह धारण कर पूजा तो नहीं कर रहा है?" अस्तु।

दक्षिणेश्वर की नौकरी कर लेने पर रामकुमार का आर्थिक कष्ट तो कुछ कम हो गया पर अपने छोटे भाई की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई उदासीनता और निर्जन-प्रियता से उसे बड़ी चिन्ता होने लगी। इसका किसी विषय में उत्साह न रहना और हृदय के सिवाय दूसरे किसी से बहुत बोल चाल भी न करना इत्यादि बातों से रामकुमार यह सोचने लगा कि शायद इसे घर की और माता की याद अधिक आने के कारण यह इस प्रकार उदास रहता हो। पर कितने ही दिन बीत चुके तथापि उसके मुँह से घर जाने की बात ही नहीं निकलती थी, यह देखकर उसके स्वभाव में ऐसा परिवर्तन होने का कोई कारण रामकुमार की समझ में नहीं आया। पश्चात् मथुरबाबू ने जब उसे (गदाधर को) पुजारी के पद पर नियुक्त कर दिया तब रामकुमार को कुछ अच्छा लगा। इधर रामकुमार की तबियत ठीक नहीं रहती थी और बीच ही में किसी समय अपने देहपात होने पर अपने कुटुम्ब की स्थिति बहुत खराब हो जाने की चिन्ता उसे बारम्बार होती थी। इसी कारण

छोटे भाई को पुजारी का सब काम पूरा २ सिखा कर उसे वह अपने बाद चार पैसे कमाने लायक बनाने की चिन्ता करता था। इसी इरादे से रामकुमार ने गदाधर को देवी की पूजा, चन्डी पाठ आदि सिखलाना शुरू किया। गदाधर ने अपनी अलौकिक स्मरणशक्ति के कारण इन सब बातों को तुरन्त ही सीख लिया और पूजा के समय इनका उपयोग करना भी प्रारम्भ कर दिया। यह देखकर रामकुमार को अच्छा लगा और मथुरबाबू की सम्मति से गदाधर को श्री देवी की पूजा करने के लिये कहकर वह स्वयं श्रीराधागोविन्द जी की पूजा करने लगा। शक्ति-दीक्षा लिये बिना देवी की पूजा करना उचित न समझ कर गदाधर ने श्री केनाराम भट्टाचार्य नामक एक शक्ति-उपासक और उच्च श्रेणी के साधक से शक्ति की दीक्षा ले ली। ऐसा कहते हैं कि शक्ति की दीक्षा लेते ही गदाधर को भावावेश प्राप्त हो गया। उसकी असाधारण भक्ति देखकर केनाराम को भी बड़ा आनन्द हुआ और उन्होंने उसे प्रसन्न चित्त से आशीर्वाद दिया।

तदनन्तर कुछ दिनों के बाद रामकुमार ने इरादा किया कि मथुरनाथ को कहकर हृदय को अपने स्थान में नियुक्त कराके कुछ समय के लिये अपने घर हो आऊँ। परन्तु उसका घर जाना नहीं हो सका। एक दिन वह किसी काम के लिये कलकत्ता के उत्तर में श्यामनगर को गया हुआ था; वहीं अकस्मात् उसका स्वर्गवास हो गया। यह सन् १८५७ की बात है। रामकुमार देवी के पुजारी के पद पर प्रायः १ वर्ष रहा।

१४—व्याकुलता और प्रथम दर्शन।

" लज्जा, घृणा, भय–इन तीन के रहते हुए ईश्वरलाभ नहीं होता। "

" अत्यन्त व्याकुल होकर ईश्वर की पुकार करो तब देखो भला ईश्वर कैसे दर्शन नहीं देता ? "

" पानी में डुबाने पर ऊपर आने के लिये प्राण जैसे व्याकुल हो उठता है उसी तरह ईश्वर–दर्शन के लिये हो जावे, तभी उसका दर्शन होता है। "

" सती का प्रेम पति पर, माता का प्रेम बालक पर और विषयी मनुष्य का प्रेम विषय पर (जिस तरह होता है) इन तीनों प्रेमों को एकत्र करके ईश्वर की ओर लगाने से उसका दर्शन पा सकते है। "

" अरे भाई ! ईश्वर को देख सकते हैं ! अभी तुम और हम जैसे गप्पें लगा रहे हैं उससे अधिक स्पष्टरूप से ईश्वर से बोल सकते हैं ! मैं सत्य कहता हूं ! शपथपूर्वक कहता हूं ! "

" ईश्वर–दर्शन के लिये व्याकुलता—अधिक नहीं तीन ही दिन—नहीं केवल २४ घंटे—मन में टिकाओ कि उसका दर्शन होना ही चाहिये ! "

—श्रीरामकृष्ण।

पितृतुल्य रामकुमार की मृत्यु से गदाधर को अत्यन्त दुःख हुआ। रामकुमार उससे ३१ वर्ष से बड़े थे और पिता की मृत्यु के बाद गदाधर को उन्होंने ही छोटे से बड़ा किया था और उसे अपने पिता की याद न आने पाए इस सावधानी को दृष्टि में रखते हुए उसका लालन पालन किया था।

रामकुमार की इस तरह अचानक मृत्यु हो जाने से गदाधर संसार से और भी उदासीन हो गया और सदा देवी की पूजा और ध्यान में ही निमग्न रहने लगा। मनुष्य को ईश्वर का दर्शन होना यथार्थ में सम्भव है या नहीं इस विचार के सिवाय दूसरा विषय उसको सूझता ही नहीं था। हम इतनी व्याकुलता से पुकारते हैं क्या उसे सुनने वाला यथार्थ में कोई है? क्या हमारी पूजा ग्रहण करने वाला कोई है? क्या सचमुच इस संसार का कोई नियन्ता है? अब ये ही विचार उसके मन में निरन्तर घूमने लगे। इस समय से देवी के पास तन्मय होकर बैठे हुए वह अपने दिन बिताने लगा। बीच २ में रामप्रसाद, कमलाकान्त इत्यादि भक्तों के भजन देवी को सुनाता था और प्रेम और भक्ति से विह्वल होकर अपनी देह की स्मृति भी उसे नहीं रहती थी। इसी समय से उसने गप्पें लगाना भी बिल्कुल बन्द कर दिया, और दोपहर के समय देवी के मन्दिर का दरवाज़ा बन्द होने पर सब लोगों से दूर * पंचवटी के समीप के जंगल में जाकर जगन्माता के चिन्तन में अपना सब समय व्यतीत करने लगा।

हृदय को अपने मामा का इस प्रकार उदासीन वर्ताव पसन्द नहीं आया, पर वह कर ही क्या सकता था? जो मन में आवे उसे निडर होकर उसके बेधड़क करने के स्वभाव से वह परिचित था इस कारण इसमें मेरा कोई उपाय नहीं चल सकता यह बात उसे पूर्ण रीति से मालूम थी। पर दिनों दिन उनके स्वभाव में अत्यधिक परिवर्तन होते देखकर एकाध बात कभी २ उनसे बिना बोले हृदय से रहा नहीं जाता था। रात के समय सब की नींद लग जाने बाद मामा उठकर कहीं निकल जाया करते थे; अतः उसे बड़ी चिन्ता मालूम होती थी। क्योंकि दिन-

---

* काली मन्दिर के अहाते में एक स्थान। वहां अश्वत्थ, बिल्व, वड़, अशोक और आंवला ये ५ पेड़ पास २ लगे हुए हैं।

भर पूजा इत्यादि का श्रम और रात का जागरण और आहार में भी कमी ! इन सब बातों को देखते हुए मामा के स्वास्थ्य बिगड़ने की पूरी शंका थी। हृदय इस का कोई उपाय ढूंढने में व्यग्र था।

पंचवटी के आसपास की ज़मीन आज के समान उस समय सपाट नहीं थी। उसमें जगह २ गड्ढे थे और सब जगह झाड़ी जंगल से ढंकी हुई थी। एक तो कब्रस्थान, उसमें भी चारों ओर जगह ऊंची नीची, और गड्ढे और झाड़ियों के कारण अधिक भयानक हो गई थी; इस कारण वहां दिन में भी कोई नहीं जाता था। कोई गया भी तो वह जंगल में नहीं जाता था। फिर रात की तो बात ही छोड़िये ? भूत प्रेतों के डर के मारे उधर जाने का कोई नाम भी नहीं लेता था। उस जंगल में आंवले का एक पेड़ था। उस आंवले के पेड़ के नीचे थोड़ी सी सपाट ज़मीन थी। उसके चारों ओर बहुत सी झाड़ी जंगल बढ़ जाने के कारण उस पेड़ के नीचे बैठने वाला मनुष्य जंगल के बाहर से किसी को दिख नहीं सकता था। गदाधर रात के समय इसी स्थान में बैठकर ध्यान, जप आदि करता था।

एक रात्रि को नित्य नियम के अनुसार इसी स्थान में जाने के लिये गदाधर निकला। हृदय भी उठा और उसको बिना जनाये उसके पीछे २ हो लिया। वहां पहुँचकर गदाधर के ध्यान करने के लिये बैठते ही उसको डराने के लिये बाहर से ही हृदय उस ओर ढेले पत्थर फेंकने लगा। बहुत समय हो चुका तौभी गदाधर बाहर नहीं निकला, इससे वह स्वयं थककर घर लौट आया। दूसरे दिन उसने पूछा, "मामा, रात को जंगल में जाकर आप क्या करते हैं ?" गदाधर ने उत्तर दिया, "वहां आंवले का एक पेड़ है। उसके नीचे बैठकर जप, ध्यान करता हूं। शास्त्र का वाक्य है कि आंवले के पेड़ के नीचे ध्यान करने से इच्छित फल प्राप्त होता है।" यह सुनकर हृदय चुप हो गया।

इसके बाद कुछ दिनों तक गदाधर के वहां जाकर बैठते ही ढेले पत्थर पड़ने शुरू हो जाते थे। इसे हृदय का ही काम जानकर गदाधर उस ओर ध्यान ही नहीं देता था। उसे डराने के प्रयत्न को सफल न होते देखकर हृदय

को अब आगे क्या करना चाहिये नहीं सूझा। एक दिन गदाधर के वहां पहुँचने के पूर्व ही हृदय जंगल में जाकर अपने मामा की राह देखता रहा। थोड़ी देर में गदाधर भी वहां आया और अपनी कमर की धोती और गले से जनेऊ अलग रखकर उसने ध्यान करना प्रारम्भ किया। यह देख हृदय को बड़ा विस्मय हुआ और तुरन्त ही उनके सामने जाकर कहने लगा—"मामा, यह क्या है? आप पागल तो नहीं हो गये? ध्यान करना है तो कीजिये, पर ऐसे नग्न न होइये!" दस पांच बार पुकारने पर गदाधर को अपनी देह का भान हुआ और हृदय के प्रश्न को सुनकर उसका उत्तर दिया, "तुझे क्या मालूम है? इसी तरह पाशमुक्त होकर ध्यान करने की विधि है। लज्जा, घृणा, भय, कुल, शील, जाति, मान, अभिमान इन अष्टपाशों से मनुष्य जन्म से ही बंधा रहता है। जनेऊ भी "मैं ब्राह्मण, मैं सब से श्रेष्ठ" इस अभिमान का द्योतक होने के कारण एक पाश ही है। जगन्माता के ध्यान के समय ये सब पाश अलग फेंककर ध्यान करना पड़ता है इसीलिये मैं ऐसा करता हूं। ध्यान समाप्त होने पर लौटते समय मैं पुनः धोती पहिन लूंगा और जनेऊ गले में डाल लूंगा।" यह विधि हृदय के सुनने में कहीं नहीं आई थी, पर वह इसके बाद कुछ नहीं बोल सका और अपने मामा को उपदेश की चार बातें सुनाने का सब इरादा उसके मन ही में रह गया।

यहां पर एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है। क्योंकि उसे जान लेने पर श्रीरामकृष्ण के अगले चरित्र की कई बातों का मर्म सहज ही समझ में आ जावेगा। उपरोक्त बातों से पाठकों के ध्यान में यह बात आ ही गई होगी कि अष्टपाशों का मन से त्याग करने का प्रयत्न वे कर रहे थे। यही नहीं शरीर से भी इनका त्याग करने का वे प्रयास करते थे। आगे भी कई प्रसंगों पर उनको यही मार्ग स्वीकार करते हुए आप देखेंगे।

अहंकार का नाश करके अपने में यथार्थ नम्रता लाने के लिये उन्होंने अत्यन्त मैले स्थान (शौचकूप इत्यादि) को भी अपने हाथों से झाड़कर साफ किया। "समलोष्टाश्मकांचन" हुए बिना शारीरिक सुख की ओर से हटकर मनुष्य का मन ईश्वर के चरणों में स्थिर नहीं हो सकता इस विचार से कुछ सिक्के और

ऐसे हाथ में लेकर सोने को मिट्टी और मिट्टी को सोना कहते हुए दोनों को वे गंगा जी की धारा में फेंक दिया करते थे।

"सभी जीव शिवस्वरूप हैं" यह भावना दृढ़ करने के लिये काली के मन्दिर में भिखारियों की पंगत उठने के बाद उनके झूठे अन्न को देव-प्रसाद मानकर वे अपने मस्तक पर धारण करते थे और इसीलिये वे थोड़ा सा खा भी लेते थे। तत्पश्चात्, सब पत्तलों को इकट्ठा करके सिर पर उठा कर वे स्वयं गंगा जी में डाल आते थे और पंगत की जगह को झाड़ बुहारकर गोबर पानी से लीप डालते थे तथा अपने इस नश्वर शरीर से इतनी तो शिवसेवा बन सकी इस भावना से अपने को धन्य मानते थे।

उनके सम्बन्ध में ऐसी बहुतेरी बातें कही जा सकती हैं। इन सब प्रसंगों से स्पष्ट दिखता है कि ईश्वरलाभ के मार्ग के प्रतिकूल विषयों का त्याग केवल मन से ही करके वे शान्त नहीं बैठते थे परन्तु स्थूल रूप से उन सब का त्याग वे पहिले ही कर देते थे अथवा अपनी इन्द्रियों और शरीर को उन विषयों से जितनी दूर हो सके उतनी दूर रखकर उनसे उनके विरुद्ध बर्ताव वे जान बूझ कर कराते थे। ऐसा दिखता है कि उनके इन कार्यों से उनके मन में से सभी पूर्वसंस्कार समूल नष्ट होकर उनके स्थान में उनके विपरीत संस्कार उत्पन्न होकर इतने सुदृढ़ हो जाते थे कि उनसे पुनः अपकार्य होना असम्भव हो जाता था।

हम लोग पूर्वसंस्कार नष्ट करने के सम्बन्ध में इतने उदासीन रहते हैं कि हमें श्रीरामकृष्ण की इन क्रियाओं की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। सम्भव है कोई यह कहे कि "अपवित्र स्थान को झाड़ू देना", "सुवर्ण को मिट्टी, मिट्टी को सुवर्ण कहते बैठना", "भिखारियों की झूठ खाना" इत्यादि व्यवहार उन्होंके मन का निकाला हुआ साधनमार्ग है और इस प्रकार के अश्रुतपूर्व उपायों के अवलम्बन द्वारा जो फल उन्हें प्राप्त हुआ क्या वह उन्हें इनकी अपेक्षा सरल उपायों से प्राप्त नहीं हो सकता था?" इसके सम्बन्ध में हमारा यही प्रश्न है कि "इस प्रकार के बाह्य अनुष्ठानों का अवलम्बन किये बिना केवल मन से ही

सभी विषयों का त्याग करके रूप रसादि विषयों से पूर्ण विमुख होकर आज तक कितने मनुष्यों ने अपने मन को सोलह आने ईश्वरचिन्तन में तन्मय करने में सफलता प्राप्त की है? मन यदि एक मार्ग से और शरीर उसके विपरीत दूसरे मार्ग से जाने लगे, तो किसी भी महत्त्व के काम में सिद्धिलाभ नहीं हो सकता; तो फिर ईश्वरलाभ कैसे सम्भव है? मनुष्य का मन विषय भोग के सुख का अभ्यासी हो जाने के कारण उसे इस बात का ज्ञान नहीं होता। यदि ज्ञान हो भी जावे तो तदनुसार कार्य नहीं हो सकता। अमुक एक विषय का त्याग करना चाहिये यह निश्चय बुद्धि द्वारा हो जाने पर भी मनुष्य पूर्वसंस्कार के अनुसार ही आचरण करता रहता है और शरीर द्वारा भी उस विषय को त्यागने का प्रयत्न नहीं करता, वरन् "ऊँह! शरीर द्वारा त्याग नहीं किया तो क्या हुआ? मैंने मन से तो उसका त्याग कर ही दिया है!" ऐसा कह कर स्वयं अपने को धोखा देता है। योग और भोग दोनों एक ही साथ ग्रहण कर सकूंगा यह उसकी भ्रमात्मक भावना है क्योंकि प्रकाश और अन्धकार के समान ही योग और भोग दोनों कभी भी एक साथ नहीं रह सकते। कामिनीकांचनमय संसार और ईश्वरसेवा दोनों ही एक ही समय रह सकें ऐसा सरल मार्ग आध्यात्मिक जगत में आज तक कोई भी नहीं निकाल सका। इसीलिये तो शास्त्रों में यह उपदेश है कि "जिस वस्तु का त्याग करना है उसे काया, वचन और मन से करना चाहिये; और जिसको ग्रहण करना है उसे भी काया, वचन और मन से करना चाहिये। तभी साधक ईश्वर-प्राप्ति का अधिकारी हो सकता है—नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।" अस्तु।

बड़े भाई की मृत्यु के अनन्तर गदाधर अधिक तन्मयता के साथ जगदम्बा के जप-ध्यान में निमग्न रहने लगा और उसके दर्शन के लिये जो कुछ भी करना उसे आवश्यक प्रतीत होता था वह सब तत्काल करने लगा। श्रीरामकृष्ण स्वयं कहा करते थे, "यथाविधि पूजा करने के बाद रामप्रसाद आदि भक्त साधकों के पद देवी को सुनाना मेरी पूजा विधि का एक अंग हो गया था। उनके पदों को गाते समय मेरा चित्त अपार उत्साह से पूर्ण हो जाता था और मुझे ऐसा लगता था कि रामप्रसाद आदि को तो माता का दर्शन हुआ था, तो फिर माता का दर्शन कर सकते हैं यह तो निश्चित है तब यह दर्शन मुझे ही क्यों नहीं मिलेगा?" ऐसा सोचकर मैं व्याकुल होकर कहता था, "मां! तूने रामप्रसाद को दर्शन दिया

और मुझे ही क्यों दर्शन नहीं देती ? मुझे धन नहीं चाहिये, मान नहीं चाहिये, भोग सुख नहीं चाहिये—कुछ नहीं चाहिये; मुझे चाहिये केवल तेरा दर्शन ! ”

इस तरह प्रार्थना करते समय उनकी आँखों से अश्रुधारा बहती थी और रोने से हृदय का भार कुछ हलका होने पर वे पुनः पद गाने लगते थे। इस प्रकार पूजा, ध्यान, जप, भजन—इन्हीं में उनके दिन बीतने लगे। साथ ही उनके अन्तःकरण की व्याकुलता भी अधिकाधिक बढ़ने लगी। दिन-ब-दिन पूजा में समय भी थोड़ा २ अधिक लगने लगा। पूजा करते समय कभी २ वे अपने ही मस्तक पर फूल चढ़ाकर दो दो घंटे निस्पंद होकर बैठे रहते थे या देवी नैवेद्य ग्रहण कर रही है इसी भावना से बहुत समय तक नैवेद्य लगाते ही बैठे रहते थे। प्रातःकाल उठकर सुन्दर २ फूल तोड़ लाते थे और स्वयं ही माला गूंथते थे। वे देवी को सजाने में कितना ही समय लगा देते थे। कभी तृतीय प्रहर में या आरती के बाद ऐसी तन्मयता के साथ पद गाते रहते थे कि बहुत सा समय निकल जाने का उन्हें बिलकुल भान नहीं रहता था और दूसरों के बारम्बार बताने पर उन्हें चेत होता था—इस प्रकार की अवस्था होने लगी।

ऐसी अद्भुत निष्ठा, भक्ति और व्याकुलता देखकर सब लोगों की दृष्टि गदाधर की ओर आकर्षित होने लगी। साधारण लोग जिस मार्ग से जाते हैं उसे छोड़कर यदि कोई भिन्न मार्ग ग्रहण करे तो पहिले पहिले लोग उसकी हँसी उड़ाते हैं, पर यदि बहुत दिनों के बाद भी उसके आचरण में अन्तर नहीं पड़ता और वह अपने ही मार्ग में शान्तिपूर्वक चलता दिखाई देता है, तब तो उसके प्रति लोगों के भाव भिन्न होने लगते हैं और उसके प्रति उनकी आदरबुद्धि उत्पन्न होने लगती है। गदाधर के सम्बन्ध में भी यही बात हुई। कुछ दिनों तक लोगों ने उसकी दिल्लगी उड़ाई पर बाद में उनका भाव बदल गया और बहुतों के मन में उसके प्रति आदर हो गया। कहते हैं गदाधर की पूजा और तन्मयता को देखकर मथुरबाबू को बड़ा आनन्द हुआ और उन्होंने रानी से कहा, “ हमें बड़ा अद्भुत पुजारी मिला है; देवी बहुत शीघ्र जागृत हो जावेगी। ”

इस प्रकार दिन के बाद दिन जाने लगे। गदाधर की व्याकुलता उत्तरोत्तर बढ़ने से उसका परिणाम उसके शरीर पर भी दिखने लगा। उसका आहार और निद्रा

कम हो गई; वक्षःस्थल सदा आरक्त दिखने लगा; आँखों से निरन्तर अश्रुधारा बहने लगी और पूजा को छोड़ अन्य समय मन की प्रचण्ड व्याकुलता से उसके शरीर में एक प्रकार की अशान्ति और चंचलता सदा दिखाई देने लगी।

हमने श्रीरामकृष्ण के मुँह से ऐसा सुना है कि लगभग इसी समय एक दिन वे रोज़ के समान तन्मयता से जगदम्बा के सामने गायन कर रहे थे। "मां! तुझे मैंने इतना पुकारा और मैंने तेरी इतनी विनती की पर यह सब क्या तुझे सुनाई नहीं देता? तूने रामप्रसाद को दर्शन दिया और मुझको तू दर्शन क्यों नहीं देती? तू ऐसा क्यों करती है?" इस प्रकार का सतत आक्रोश चल रहा था। वे कहते थे, "माता का दर्शन न होने से हृदय में तीव्र वेदना उत्पन्न हुई; किसी भिगोये हुए वस्त्र को निचोड़ने के समान मेरे हृदय को कोई ऐंठकर मानो निचोड़ रहा है ऐसा मालूम पड़ने लगा! क्या माता का दर्शन मुझे कभी भी नहीं होगा इस विचार से जी घबराने लगा और ऐसा मालूम पड़ा कि 'अब इस अवस्था में जीवित रहकर ही क्या करना है? बस अब तो देवी के चरणों में प्राण दे देना ही ठीक है।' इतने में हां वहीं जो एक तलवार लटक रही थी उस पर एकाएक मेरी दृष्टि पड़ी और उसके एक घाव से जिंदगी का फैसला कर देने के इरादे से उन्मत्त के समान उसकी ओर मैं झपटा और उस तलवार को हाथ में लेकर अब छाती में मार ही रहा था कि माता का अपूर्व अद्भुत दर्शन हुआ और देहभान भूलकर मैं बेसुध हो ज़मीन पर गिर पड़ा! तदुपरांत बाहर क्या हुआ और वह दिन और उसके बाद का दिन कैसे व्यतीत हुआ सो कुछ भी नहीं मालूम पड़ा! अन्तःकरण में केवल एक प्रकार का अननुभूत आनन्द का प्रवाह बहने लगा!"

किसी दूसरे अवसर पर इसी दिन का वर्णन उन्होंने ऐसा किया कि "घर, द्वार, मंदिर सब कहीं के कहीं विलीन हो गये; कुछ भी बाकी नहीं रहा; और फिर बचा क्या? केवल एक असीम अनन्त सचेतन ज्योतिःसमुद्र! जिस ओर देखो उसी ओर उसकी उज्ज्वल तरंगें महाध्वनि करते हुई मुझे प्लावित करने के लिये अत्यन्त वेग से बढ़ रही हैं। देखते २ वे समीप आ पहुँचीं और मेरे शरीर पर टकराकर मुझे न मालूम कहां ले जाकर डुबा दिया! मैं घबराकर धक्के खाते २ संज्ञाशून्य हो गया!"

इस दर्शन के पश्चात् श्री जगन्माता की चिन्मयी मूर्ति के सदा सर्वकाल अनवरत दर्शन के लिये वे ऐसी व्याकुलता से आक्रोश करते थे कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। सदा अन्तःकरण में प्रचंड उद्वेग हुआ करता था। उसकी वेदना में वे ज़मीन पर लोटते आकाश पाताल एक करते हुए रोते, " माता ! मुझ पर दया कर ! मुझको दर्शन दे ! " इस प्रकार ऐसा चिल्ला उठते कि वहां लोगों की भीड़ इकट्ठी हो जाती थी। लोग क्या कहेंगे इस ओर ध्यान कौन दे ? श्रीरामकृष्ण कहते थे, " चारों ओर लोग खड़े हुए हों तो भी वे मनुष्य नहीं, केवल छाया या चित्र के समान मालूम होते थे और इसी कारण लज्जा या संकोच थोड़ा भी नहीं होता था। इस प्रकार असह्य वेदना से बेहोश हो जाने पर माता की वह वराभयकरा, चिन्मयी, ज्योतिर्मयी मूर्ति दिखाई पड़ती थी ! उस समय ऐसा दिखता था कि माता हँस रही है, बोल रही है और नाना प्रकार की सान्त्वना दे रही है और शिक्षा भी दे रही है। "

१५—मथुरबाबू और श्रीरामकृष्ण ।

पहिला रसद्दार मथुरबाबू ।

"मैंने कहा, 'माता जो तूनें मेरी ऐसी अवस्था कर दी है, तो अब मेरी सभी इच्छाएँ तृप्त करने वाला कोई बड़ा आदमी मुझसे मिला दे।' इसी कारण तो उसने चौदह वर्ष मेरी सेवा की।"

"ब्राह्मणी उसे प्रताप रुद्र कहती थी।"

"माता ने उसे इस शरीर में न जाने क्या २ दिखाया ! क्या व्यर्थ ही उसने मेरी चौदह वर्ष सेवा की ?"

—श्रीरामकृष्ण ।

श्रीरामकृष्ण के साधनकाल में जिन दो व्यक्तियों ने उनकी अपूर्व सेवा की उन में से एक (हृदय) का वृत्तान्त ऊपर कहा जा चुका हैं। यहां दूसरे की—मथुरबाबू की—बातें बताकर उनका और श्रीरामकृष्ण का कितना अलौकिक सम्बन्ध था वह वर्णन इस प्रकार है।

हममें से किसी को मथुरबाबू के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। श्रीरामकृष्ण के ही बताने पर से यह मालूम पड़ता है कि उनके ऊपर मथुरबाबू की भक्ति और श्रद्धा ऐसी अद्भुत थी कि वैसी कहीं अन्यत्र दिखाई देना सम्भव नहीं है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की इतनी भक्ति कर सकता है, इतना प्रेम कर सकता है यह बात यदि श्रीरामकृष्ण और मथुरबाबू का सम्बन्ध हमें मालूम न रहता तो हमें या किसी को सम्भव न दिखती। इसके सिवाय बाहर से देखने

मथुरानाथ विश्वास

(मथुरबाबू)

पर श्रीरामकृष्ण एक यःकश्चित् सामान्य पुजारी थे और मथुरबाबू और रासमणि जाति के श्रेष्ठ न होते हुए भी धन में, मान में, विद्या में बुद्धि में कितने ही श्रेष्ठ थे। इसके सिवाय बचपन से श्रीरामकृष्ण का स्वभाव कैसा विचित्र था? जहां धन, मान, विद्या और पदवी आदि प्राप्त करने के लिये सर्वसाधारण लोग दीर्घोद्योग किया करते हैं वहां इनका (श्रीरामकृष्ण का) पूर्ण उदासीन भाव था! वे कहते थे, "ऊँची मीनार पर खड़े होकर नीचे देखने से चार चार मंजिल की हवेलियां, ऊँचे २ पेड़ और ज़मीन पर की घास सब एक समान दिखाई देते हैं!" समसुच ही उनका मन बचपन से सत्यनिष्ठा और ईश्वरानुराग के कारण सदा ऐसी उच्च अवस्था में रहता था कि वहां से हम जो धन, मान, विद्यादि का थोड़ा बहुत अंश प्राप्त करने की चेष्टा करते रहते हैं वह सब उन्हें एक ही मूल्य का दिखाई देता था! संसार की ओर उनकी दोषदृष्टि भी कैसी विलक्षण थी। पढ़ाई आरम्भ करने पर लोगों का ध्यान साधारण रूप से तर्कालंकार, न्यायरत्न, महामहोपाध्याय आदि पदवियों की ओर जाता है और इन्हीं को प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा हो जाती है, पर श्रीरामकृष्ण की दृष्टि विपरीत दिशा की ओर गई। उन्हें यही दिखा कि ऐसे पदवीधारी भी पेट की चिन्ता के कारण बड़ों २ की खुशामद करते हैं। विवाह करते समय सांसारिक सुख की ओर दृष्टि जाती है, पर इनकी दृष्टि गई संसार की क्षणभंगुरता और सुख की क्षणिकता की ओर। पैसा रहने पर संसार में अनेक प्रकार के सुखों की ओर दृष्टि जाती है, पर इनकी दृष्टि तो ईश्वरप्राप्ति के कार्य में पैसा कितना निरुपयोगी है, इस बात की ओर गई। संसारी लोग दुःखी गरीब लोगों पर दया करके दाता, परोपकारी आदि कहलाते हैं। इस ओर ध्यान न देकर उन्होंने देखा कि सारे जन्म भर परिश्रम करके क्या कमाया? तो दिखा कि दो चार धर्मार्थ अस्पताल और दो चार निःशुल्क पाठशालाएँ स्थापित कर दीं या २,४ धर्मशालाएँ बनवा दीं और मर गये। पर संसार की कमी ज्यों की त्यों बनी रही! इसी प्रकार उन्हें सभी बातें दिखाई दीं।

ऐसी मनोवृत्ति वाले मनुष्य को ठीक २ पहिचानना साधारण मनुष्य के लिये बहुत कठिन है; उस पर विद्याभिमानी या श्रीमान के लिये तो और भी कठिन है; क्योंकि उन्हें तो संसार में स्पष्ट उत्तर और खरी बातें सुनने को नहीं मिलतीं; इसीलिये वे ऐसी बातें सुनकर नहीं सह सकते। अतः स्पष्ट वक्ता और सरल व्यवहार

वाले श्रीरामकृष्ण के आशय को कई बार न समझकर यदि ये लोग इन्हें असभ्य, पागल, घमंडी, आदि मान भी लें तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी कारण रानी रासमणि और मथुरबाबू की इनके प्रति भक्ति और प्रेम को देख कर बड़ा अचरज लगता है। ऐसा मालूम होता है कि केवल ईश्वरकृपा के ही कारण इन दोनों का श्रीरामकृष्ण पर इतना दृढ़ प्रेम हो गया कि घटने के बदले वह उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हुआ, यहां तक कि उनके गुरुभाव का अनुभव उन्हें प्राप्त हुआ और वे उनके चरणों में सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण करने में समर्थ हो सके। जिस श्रीरामकृष्ण ने देवीप्रतिष्ठा के दिन अपने बड़े भाई के पुजारी रहने और देवी का प्रसाद उनके ग्रहण करने पर भी शूद्र का अन्न ग्रहण करना पड़ेगा यह सोचकर उपवास किया और बाद भी कुछ दिनों तक अपने ही हाथ से पकाकर खाया; मथुरबाबू के बारबार बुलाने पर उन्हें विषयी मनुष्य जानकर उनसे बोलना टरकाया; देवी का पूजकपद ग्रहण करने के लिये विनती करने पर भी न माना; उसी श्रीरामकृष्ण के प्रति रानी रासमणि और मथुरबाबू के मन में अकस्मात् ही प्रीति उत्पन्न हो और वह प्रीति दिनोंदिन बढ़ती जाए यह कोई कम अचरज की बात नहीं है।

मथुरबाबू के श्रीरामकृष्ण पर ऐसे अकपट भक्ति-विश्वास का हाल सुनकर हम ऐसे अविश्वासी तथा संशयी मनुष्यों के मन में यही आता है कि "मथुरबाबू एक पागल, भोलाभाला, सनकी (लहरी) आदमी था; नहीं तो एक मनुष्य का किसी दूसरे मनुष्य पर क्या इस तरह का भक्ति-विश्वास कहीं हो सकता है? उनके स्थान पर यदि हम होते तो देखते श्रीरामकृष्ण कैसे भक्ति-विश्वास पैदा करते!" मानों भक्ति-विश्वास उत्पन्न होना भी एक निंद्य बात है! श्रीरामकृष्ण के मुँह से और दूसरों से मथुरबाबू का वृत्तान्त सुनकर ऐसा कदापि नहीं मालूम होता कि वह पागल या भोलाभाला या लापरवाह था। वह हम आप से कम बुद्धिमान या संशयी नहीं था। उसने भी श्रीरामकृष्ण के अलौकिक चरित्र और कार्यकलाप के विषय में सन्देह कर, पद २ पर उनकी परीक्षा करके उन्हें कुछ कम नहीं सताया। पर परीक्षा करने से होता ही क्या था? श्रीरामकृष्ण की अदृष्टपूर्व विज्ञानवादिनी, प्रेमावर्तशालिनी, महा-ओजस्विनी भाव-मन्दाकिनी के गुरु-गम्भीर प्रवाह के वेग के सामने मथुरबाबू का सन्देहसिकता-सेतु कब तक

टिक सकता था। थोड़े समय में वह सन्देह नष्ट हो गया और मथुरबाबू अनन्य भाव से श्रीरामकृष्ण के चरणकमलों में शरणापन्न हो गये।

मथुरबाबू और श्रीरामकृष्ण का सम्बन्ध एक अत्यन्त विलक्षण बात थी। मथुर धनी तथा विषयी होते हुए भी भक्त था; बड़ा हठी और दृढ़ निश्चयी होकर भी बुद्धिमान था; वह क्रोधी किन्तु धैर्यवान था; अंग्रेज़ी पढ़ा हुआ था; एकाध बात बारीकी से समझाने पर उसे समझ लेने वाला था। वह आस्तिक और भक्त तो था, पर धर्म के नाम से कोई मनुष्य व्यर्थ कुछ ही कह दे तो उसे वह सहज ही मान लेने वाला नहीं था, चाहे ऐसी बात कहने वाले स्वयं श्रीरामकृष्ण ही हों या उनके गुरुजी हों या और भी कोई क्यों न हों। मथुरबाबू का स्वभाव उदार और सरल था पर वे किसी के फाँसे में आने वाले नहीं थे। रानी के अन्य जमाइयों के रहते हुए भी उसका सब कारोबार देखने और उचित प्रबन्ध करने में मथुरबाबू उसके दाहिने हाथ थे; और यह सास और दामाद दोनों की कुशलता का ही परिणाम था कि हर किसी के मुँह से रानी रासमणि का नाम सुन पड़ता था।

श्रीरामकृष्ण के सरल स्वभाव, मधुर भाषण और सुन्दर रूप से ही मथुरबाबू का मन पहिले पहल उनकी ओर आकृष्ट हुआ। पश्चात् साधना की प्रथम अवस्था में जब कभी उन्हें दिव्य उन्माद होने लगा, वे जब जगदम्बा की पूजा करते २ तन्मय होकर स्वयं अपने में उस मूर्ति का दर्शन प्राप्त करने लगे, कभी २ देवी के लिये लाये हुए फूल अपने ही ऊपर चढ़ाने लगे, जब अनुराग के प्रबल वेग से वैधी भक्ति की सीमा उल्लंघन करके साधारण लोगों की दृष्टि में विचित्र आचरण करने के कारण वे हँसी और लोकनिंदा के विषय होने लगे, तब तीक्ष्ण-बुद्धिसंपन्न मथुरबाबू ने यही निश्चय किया कि जिसे मैंने सर्वप्रथम दर्शन के समय 'सरल प्रकृति का मनुष्य' समझा था उसके विरुद्ध कोई कुछ ही कहे मैं उसकी स्वयं जाँच किये बिना उसका विश्वास नहीं करूंगा। इसी कारण मथुरबाबू बिना किसी को बताये स्वयं दक्षिणेश्वर आये और श्रीरामकृष्ण के व्यवहार का बारीकी से बारम्बार निरीक्षण किया जिससे उनका संशय दूर हो गया तथा उन्हें निश्चय हो गया कि "गदाधर अनुराग और सरलता की सजीव मूर्ति है और उसके

विचित्र व्यवहार का कारण उसकी अत्यन्त भक्ति और विश्वास है।" इसीलिये (बुद्धिमान परन्तु विषयी) मथुरवावू ने उन्हें समझाने की कोशिश की कि "जितना पचे उतना ही खाना चाहिये; भक्ति और विश्वास होना उचित है पर उनमें इतना उन्मत्त होने से कैसे बनेगा? ऐसा करने से संसार में निंदा होती है और चार भले मनुष्यों का कहना न मान कर अपने ही मन के अनुसार चलने से बुद्धिभ्रष्ट होकर पागल हो जाने का भी डर रहता है।" परन्तु ऊपर ही ऊपर से ऐसा कहते हुए मथुरवावू मन में यह भी सोचते थे कि "रामप्रसाद आदि पूर्वकालीन साधकों की भी भक्ति के प्रवाह में यही अवस्था होकर क्या उनके भी आचार पागल के समान नहीं होते थे? इनकी अवस्था और वर्ताव उन्हीं के समान नहीं है यह कैसे कहा जाय?" यह विचार मन में आते ही उन्होंने आगे क्या होता है उसे शान्त होकर ध्यानपूर्वक देखने का निश्चय किया। जब विषयी मालिक अपने एक साधारण नौकर के बारे में यह निश्चय करता है तब क्या यह कम आश्चर्य का विषय है।

भक्ति में एक प्रकार की संक्रामक शक्ति होती है। शारीरिक विकारों के समान मानसिक भावों का भी एक के पास से दूसरे के पास संक्रमण हुआ करता है। इसी कारण यदि एक के अन्तःकरण में भक्तिभाव जागृत होकर वह दूसरे के हृदय के निद्रित भक्तिभाव को जागृत कर दे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यही कारण है कि धर्मभाव के उद्दीपन करने के लिये सत्संग की महिमा शास्त्रों में वर्णित है। मथुरवावू के भाग्य में यही बात हुई। वे श्रीरामकृष्ण के कार्यों का जैसे २ निरीक्षण करते गये वैसे २ उनके हृदय का भक्तिभाव उन्हें बिना मालूम हुए जागृत होने लगा, पर विषयी मन का यही होता है कि अभी भक्ति-विश्वास का उदय हुआ और थोड़ी देर बाद पुनः संशय आने लगा। उसी प्रकार वारम्वार अनेक दिनों तक होते २ उनका विश्वास दृढ़ हो गया और उनके हृदय में श्रीरामकृष्ण के प्रति अटल श्रद्धा हो गई। इसी कारण ऐसा देखने में आता है कि श्रीरामकृष्ण का शुरू २ का आचरण अतिशय भक्ति के कारण विचित्र दिखता है यह निःसन्देह मान लेने पर भी इस आचरण की उत्तरोत्तर वृद्धि देखकर उनके बुद्धिभ्रंश होने की शंका भी बीच २ में मथुरवावू के मन में आने लगी। इस शंका से उनके मन में चिन्ता होती थी और वे बड़े २ नामी

वैद्यों को बुलवाकर श्रीरामकृष्ण की परीक्षा कराते तथा उन्हें योग्य औषधि दिलाने का प्रबन्ध भी करते थे।

अंग्रेज़ी विद्या में मथुरबाबू की कम योग्यता नहीं थी और उस विद्या के प्रभाव से एक प्रकार की स्वतंत्रता जो मनुष्य के विचार में आ जाती है उसकी भी कमी मथुरबाबू में नहीं थी। इसी कारण उन्होंने "ईश्वरप्रेम में बेहोश होने लायक तन्मय न होने" का उपदेश श्रीरामकृष्ण को दिया होगा। एक समय श्रीरामकृष्ण और मथुरबाबू में इसी तरह की बहस छिड़ गई:—

मथुरबाबू कहने लगे:—"ईश्वर को भी क़ायदे के अनुसार चलना पड़ता है। जो नियम उन्होंने एक बार बना दिया उसे रद्द करने का सामर्थ्य उन्हें भी नहीं रहता।" श्रीरामकृष्ण बतलाते थे कि मैं बोला:—"कैसे—पागल के समान तू बोल रहा है? अरे! जिसने क़ायदा बनाया वह अपना क़ायदा चाहे जब रद्द कर दे और उसके बदले दूसरे ही प्रकार का क़ायदा जारी कर दे! यह तो उसकी खुशी की बात है।"

पर यह बात मथुरबाबू को किसी प्रकार न जँची।

मथुरबाबू:—"लाल फूल के पेड़ में सदा लाल फूल ही लगेगा, क्योंकि यही क़ायदा उसने एक बार बना दिया है।"

मैं बोला:—"अरे भाई! उसके मन में जो आवेगा वही करेगा तब लाल और सफेद फूल की कौनसी बात है?" उसने यह बात न मानी।

उसके दूसरे ही दिन मैं झाऊतला * की ओर शौच के लिये गया तो मुझे दिखा कि लालजवा के पेड़ में एक ही डाली पर दो फूल फूले हैं—एक सुर्ख़

---

* दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर के अहाते का एक भाग। उस ओर उन दिनों जंगल था।

लाल और दूसरा शुभ्र श्वेत—उस दूसरे पर लाल रंग की आभा तक नहीं है। देखते ही मैंने वह पूरी डाली तोड़ ली तथा उसे लेकर मथुरबाबू के पास गया और उनके सामने उस डाली को फेंक कर मैं बोला, "तू नहीं नहीं करता था न? यह देख यहां!" मथुरबाबू ने बारीकी के साथ उसकी जाँच की और चकित होकर बोले, "हां बाबा! मैं हारा!"

इसी प्रकार कभी कुतूहल से; कभी श्रीरामकृष्ण की व्याकुलता को किसी रोग से उत्पन्न समझकर; कभी उनकी व्याकुलता को ईश्वर के अत्यन्त प्रेम और भक्ति से उत्पन्न जानकर आश्चर्य और भक्ति के साथ विषयी मथुरबाबू धीरे २ उनकी संगति में अधिकाधिक काल बिताने लगे और उन की ठीक २ व्यवस्था रखने में तत्पर रहने लगे। मथुरबाबू निश्चिन्त रहें भी कैसे? नवानुराग के प्रबल वेग के कारण श्रीरामकृष्ण तो नित्य प्रति नया ही रंग दिखाने लगे। आज क्या है? अपने अन्तर में अन्तर्यामी जगदम्बा का दर्शन हो जाने के कारण पूजा की सभी सामग्री उन्होंने अपने ही ऊपर चढ़ा ली! तो कल क्या है? देवी की संध्या आरती लगातार तीन घंटे करते हुए अन्य नौकर चाकरों को तंग कर डाला। परसों क्या है? जगदम्बा का दर्शन नहीं हुआ इस कारण जमीन पर लोट रहे हैं और इतना आक्रोश कर रहे हैं कि इन्हें आश्चर्य से देखने के लिये लोग चारों ओर से दौड़ पड़े हैं। इस प्रकार प्रत्येक दिन की अलग २ लीला हमें श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से सुनने का सौभाग्य हुआ है।

एक दिन श्रीरामकृष्ण शिव मन्दिर में जाकर महिम्न स्तोत्र से महादेव की स्तुति करने लगे। क्रमशः यह श्लोक आया—

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिंधुपात्रं।
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी॥
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं।
तदपि तव गुणानामीश! पारं न याति॥

इस श्लोक को कहते समय उनके हृदय में शिव की अपार महिमा की भावना अचानक जागृत हो गई। श्लोक का उच्चारण बीच में ही रुक गया और व्याकुलता से विह्वल होकर वे बड़े जोर २ से चिल्लाने लगे, "प्रभो! महादेव! तेरे गुणों का वर्णन मैं कैसे करूं?" उनकी आँखों की अश्रुधारा के अविच्छिन्न प्रवाह से उनका वक्षःस्थल और नीचे की भूमि भीग गई। उस आर्त नाद को सुनकर मन्दिर के दूसरे पुजारी तथा अन्य नौकर गण दौड़ आये और उनका वह पागल की तरह रोना और उन्मत्त का सा व्यवहार देख चकित हो गये। फिर इस रोने गाने के परिणाम को देखने के लिये वहीं पर तटस्थ हो खड़े रह गये। कोई २ कहने लगे, "अँः! छोटे भट्टाचार्य * की पागलपन की लहर है? हमने सोचा कुछ और बात है! आज तो महाशय बड़े रंग में दिख रहे हैं!" दूसरे कहने लगे, "देखो भला, सम्हालो, नहीं तो ये महादेव पर ही सवार होंगे! अरे! देखते क्या हो? निकालो हाथ पकड़कर बाहर!" ऐसा भी कहने लगे। चार मुंह चार बातें! जिसके मन में जो आया वह कहने लगा।

इधर बाहर क्या हो रहा है इसकी श्रीरामकृष्ण को खबर ही नहीं थी। शिवमहिमा के अनुभव में ही वे तन्मय थे, उनका मन बाह्य जगत से सम्बन्ध तोड़कर न जाने किस उच्च भूमिका में प्रविष्ट हो गया था, वहां फिर कहां संसार और कहां उसका कोलाहल?

उस दिन मथुरबाबू मन्दिर में आये हुए थे। यह सब गड़बड़ श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में होता हुआ सुनकर वे तुरन्त ही शिव मन्दिर में आये। नौकर लोग बड़ी हड़बड़ी के साथ अलग हो गये। भीतर जाकर श्रीरामकृष्ण की वह तन्मयता देखते ही मथुरबाबू का हृदय भक्ति और आदर से भर आया। इतने में ही किसी ने कहा कि क्या श्रीरामकृष्ण को खींच कर बाहर निकालें? वे यह सुनकर उस पर क्रुद्ध होकर बोल उठे, "ख़बरदार! यदि किसी ने उनके शरीर को हाथ लगाया तो…।" यह सुनकर डर के मारे कोई कुछ बोलने की हिम्मत न कर सका।

---

* नौकर चाकर लोग श्रीरामकृष्ण को छोटे भट्टाचार्य और रामकुमार को बड़े भट्टाचार्य कहते थे।

कुछ समय के बाद श्रीरामकृष्ण सचेत हुए और इतनी भीड़ और उस में मथुरबाबू को खड़े हुए देखकर एक छोटे बालक के समान उनसे पूछने लगे, "बेहोशी में मै कुछ अनुचित तो नहीं कर गया।" मथुरबाबू ने नमस्कार करते हुए कहा, "नहीं बाबा! आपने कुछ नहीं किया। आप स्तोत्र कह रहे थे, उसे बिना समझे आपको कोई व्यर्थ कष्ट न दे इसलिये मैं यहीं खड़ा हो गया था।"

श्रीरामकृष्ण की ज्वलन्त संगति से एक समय मथुरबाबू को बड़ा अद्भुत दर्शन प्राप्त हुआ जिससे श्रीरामकृष्ण पर उसका भक्ति-विश्वास सहस्र गुना बढ़ गया। यह बात हमने प्रत्यक्ष श्रीरामकृष्ण के मुँह से सुनी है। एक बार श्रीरामकृष्ण अपने ही विचारों में मग्न अपनी कोठरी के सामने के लम्बे बरामदे में इधर से उधर टहल रहे थे। मन्दिर और पंचवटी के बीच में एक अलग घर है-जिसे अब तक "बाबू का घर" कहते हैं—उसीके एक हिस्से में उस दिन मथुर-बाबू अकेले बैठे थे। वहां से श्रीरामकृष्ण का टहलना उन्हें स्पष्ट दिखता था। उस समय उनके मन में श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध के कुछ और अन्य काम काज के सम्बंन्ध के कुछ भिन्न २ विचार हो रहे थे। मथुरबाबू के वहां बैठे रहने की ओर श्रीरामकृष्ण का ध्यान बिल्कुल नहीं था।

देखते २ अकस्मात् मथुरबाबू चौंककर खड़े हो गये और दौड़ते हुए जाकर श्रीरामकृष्ण के चरणों में लोटने लगे। तत्पश्चात् उठे और उनके दोनों पैरों को जोर से पकड़कर रोने लगे। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "मैं बोला—'तू यह क्या कर रहा है! तू इतना बड़ा आदमी, रानी का दामाद, तू ही ऐसा करने लगा तो लोग क्या कहेंगे? शान्त हो, शान्त हो, उठ।' पर मेरा सुनता कौन है? बहुत देर के बाद वह कुछ शान्त हुआ और बोला, 'अद्भुत दर्शन हुआ! बाबा! आप टहलते समय सामने जाते थे तब ऐसा दिखता था कि आप नहीं हैं वरन् साक्षात् जगदम्बा ही सामने जा रही हैं। जब आप पीछे लौटने लगते थे तब आप साक्षात् महादेव ही दिखते थे। पहिले मैं समझा कि मुझे भ्रम हो गया पर आँखें मलकर देखा तोभी वही दृश्य! कितनी ही बार आँखों को मल २ कर देखा पर दिखाई दिया दृश्य वही!' ऐसा कह कर पुनः रोने लगा। मैं बोला, 'मै तो भाई इसे कुछ नहीं समझा।' पर सुने कौन? तब तो मुझे डर लगा

कि कोई यह बात जाकर रानी से कह दे तो वह क्या समझेगी ? उसका निश्चय ही यह भाव होगा कि मैंने ही इस पर कोई जादू टोना कर दिया है। इसलिये मैंने उसे पुनः बहुत समझाया तब कहीं वह शान्त हुआ। मथुर क्या योंही इतनी भक्ति और सेवा करता था ? माता ने उसे कितनी ही बातें यहां दिखाई और सुनाई। लोग यह कहते अवश्य हैं कि मथुर की जन्मपत्री में लिखा था कि उसके इष्टदेव की इतनी कृपादृष्टि उस पर रहेगी कि वह शरीर धारण करके उसके साथ २ घूमेगा और उसकी रक्षा करेगा।"

इस समय से मथुरबाबू का विश्वास और उसकी भक्ति बहुत दृढ़ हो गई क्योंकि अब उसे पूरा निश्चय हो गया कि सर्वप्रथम दर्शन के समय ही जिनके सम्बन्ध में मेरा अच्छा भाव हो गया था और दूसरे लोगों की दिल्लगी उड़ाने पर भी जिनके विचित्र आचरण का थोड़ा बहुत मर्म मैं समझता था, वे श्रीरामकृष्ण यथार्थ में कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हैं। श्रीरामकृष्ण के शरीर के आश्रय से साक्षात् जगदम्बा ही मुझ पर अपना अनुग्रह करने के लिये आई हैं और मेरी जन्मपत्रिका में बताया हुआ भविष्य सचमुच ठीक उतर रहा है।

यथार्थ में मथुरबाबू के भाग्य के बहुत बड़े होने में संशय नहीं है। शास्त्रों का वाक्य है कि जब तक शरीर है तब तक भले और बुरे दोनों प्रकार के कर्म मनुष्य द्वारा हुआ ही करेंगे। साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या, मुक्त पुरुषों का भी यही हाल है। साधारण मनुष्य अपने २ कर्मों का फल आप स्वयं ही भोगते हैं। पर मुक्त पुरुषों के शरीर से होने वाले पाप-पुण्यों का फल कौन भोगे ? वे स्वयं तो उसे भोगते ही नहीं क्योंकि अभिमान (अहंकार) ही सुख दुःख का भोगनेवाला होता है और मुक्त पुरुषों का अहंकार तो सदा के लिये समूल नष्ट हो जाता है। कर्म के साथ २ उसका फल लगा ही रहता है और मुक्त पुरुषों द्वारा भी कर्म होते ही रहते हैं—तब इन फलों को भोगेगा कौन ? यहां पर शास्त्र वाक्य है कि:—

तस्य पुत्रा दायमुपयंति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्।

वे. सू. ३ अ. पाद २६ सु. भाष्य।

"जो बद्ध पुरुष उन मुक्त पुरुषों की सेवा करते हैं, उन पर प्रीति करते हैं वे उनके शुभ कर्मों का फल भोगते है और जो पुरुष उनसे द्वेष करते हैं वे उनके अशुभ कर्मों का फल भोगते हैं।" साधारण मुक्त पुरुषों की सेवा से जब इस प्रकार का फल मिलता है तो ईश्वरावतारों की भक्तिप्रीतिपूर्ण सेवा का कितना फल मिलता होगा इसकी तो कल्पना ही करनी होगी।

श्रीरामकृष्ण के प्रति मथुरबाबू की भक्ति उत्तरोत्तर अधिक होने लगी और श्रीरामकृष्ण की सब इच्छा तत्काल तृप्त करना और उनकी हर तरह से निरन्तर सेवा करना वे अपना परम सौभाग्य समझने लगे। श्रीरामकृष्ण की शारीरिक प्रकृति के अनुसार उन्हें रोज़ शरबत पिलाना आवश्यक मालूम होने पर उसकी व्यवस्था उन्होंने कर दी। श्रीरामकृष्ण के स्वास्थ्य बिगड़ने पर उन्हें औषधि देने के लिये उन्होंने कलकत्ता के सुप्रसिद्ध वैद्य गंगाप्रसाद सेन और डॉक्टर महेन्द्रलाल सरकार को नियुक्त कर दिया। श्री जगन्माता को जैसे आभूषण पहिनाने की इच्छा श्रीरामकृष्ण की होती थी वैसे ही आभूषण मथुरबाबू तत्काल बनवाकर श्री देवी जी को अर्पण कर देते थे। वैष्णवतन्त्रोक्त सखीभाव का साधन करते समय श्रीरामकृष्ण को स्वयं अपना स्त्रीवेष बनाने की इच्छा होते ही मथुरबाबू ने तत्क्षण सब प्रकार के हीरा जड़े हुए अलंकार, बनारसी साड़ी, ओढ़नी इत्यादि ला दी। पानीहाटी का महोत्सव देखने की इच्छा श्रीरामकृष्ण को होते ही मथुरबाबू ने वहां जाने का प्रबन्ध कर दिया, इतना ही नहीं उन्हें भीड़ में कहीं चोट न लगे इस हेतु साथ में दो चार सिपाही लेकर बिना किसी को बताये स्वयं उनके संरक्षणार्थ वहां गये। इस प्रकार की अद्भुत सेवा के वृत्तान्त के साथ २ वेश्याओं के मेले में जाने से उनके मन में असद्भाव उत्पन्न होता है कि नहीं, देवी की अपार सम्पत्ति उनके नाम पर लिख देने की बात निकालने से उन्हें लोभ उत्पन्न होता है या नहीं इत्यादि अनेक प्रकार की परीक्षा लेने की उनकी बातें भी हमने श्रीरामकृष्ण के मुख से सुनी है। इससे पता लगता है कि मथुरबाबू का विश्वास धीरे २ ही दृढ़ हुआ। अनुमानतः सर्व परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के कारण जैसे २ वे विश्वास की कसौटी पर ठीक उतरने लगे और उत्तरोत्तर अधिक उज्ज्वल स्वरूप धारण करने लगे वैसे २ श्रीरामकृष्ण पर उसका प्रेम अधिक होता गया। मथुरबाबू ने देखा कि लाखों रुपयों का लोभ दिखाने से भी जिनके वैराग्य में लेशमात्र कमी

नहीं होती, सुन्दर स्त्रियां जिनके मन में विकार उत्पन्न नहीं कर सकतीं, सांसारिक मानपान से जिनके मन में कुछ भी अहंकार उत्पन्न नहीं होता; (कारण कि मनुष्य को भगवान जानकर पूजा करने से बढ़कर मान और कौनसा हो सकता है?) जो सब प्रकार के ऐहिक विषयों से सम्पूर्ण उदासीन हैं, जो मेरे जीवन के अनेक दोषों को देखकर भी मुझ पर इतना प्यार करते हैं, अनेक संकटों से मुझे उबारते हैं और सब प्रकार से मेरी कल्याण की कामना करते हैं, वे सचमुच में मनुष्य वेषधारी होते हुए भी—

न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः

ऐसे किसी दूरस्थ साम्राज्य के निवासी हैं।

एक और बात का प्रभाव मथुरबाबू के अन्तःकरण पर पड़ा। वह है इस अद्भुत चरित्र का माधुर्य। ऐसी अलौकिक ईश्वरी शक्ति का इनमें पूर्ण विकास होते हुए भी ये स्वयं बालक के बालक ही बने थे। थोड़ा भी अहंकार इनमें नहीं था! वाह रे चमत्कार! उनके अन्तःकरण में जो भी भाव उत्पन्न हो उसे पांच वर्ष के बालक के समान सरलता से कह देते थे—लेशमात्र छिपाने का प्रयत्न नहीं करते थे। जैसा भीतर वैसा बाहर। दूसरे को कदापि कष्ट नहीं देते थे। दूसरे का नुकसान होने लायक वे कभी नहीं बोलते थे चाहे उसके कारण स्वयं उन्हें कितना भी कष्ट क्यों न हो।

मथुरबाबू के हलधर नामक एक पुरोहित थे। श्रीरामकृष्ण पर बाबू जी की इतनी भक्ति देख कर उसे ईर्ष्या होने लगी। वह मन में कहता था, "इस मनुष्य ने जादू टोना करके हमारे बाबू को वश में कर लिया है। मैं आज कितने दिनों से अपना प्रभाव उन पर डालना चाहता हूं पर इसके कारण मैं कुछ कर हीं नहीं पाता। तिस पर भी बालक के समान स्वांग बनाता है। यदि इतना सरल है तो भला बतावे हमें अपनी वशीकरण विद्या। पर वैसा नहीं करेगा। मेरी सारी विद्या मैंने लगा दी थी और बाबू मेरे वश में आ ही रहे थे कि न मालूम कहां से

यह व्याधि आगई ? " इस तरह के विचारों से वह बड़ा अस्वस्थ रहता था और श्रीरामकृष्ण से इसकी कसर निकालने की संधि ढूंढ़ रहा था।

उसे यह अवसर शीघ्र ही मिल गया। मथुरबाबू के जानबाजार के बाड़े में एक दिन संध्या समय श्रीरामकृष्ण भगवच्चिंतन में तन्मय होकर अर्धबाह्य दशा में पड़े थे। पास में कोई नहीं था। श्रीरामकृष्ण की समाधि उतरकर वे धीरे २ सचेत हो रहे थे, ऐसे समय पर हलधर पुरोहित सहज ही वहां आया और श्रीरामकृष्ण को वहां अकेला देखकर उचित अवसर मिला जानकर उसे आनन्द हुआ। इधर उधर देखकर पास में किसी का न रहना निश्चय जानकर वह श्रीरामकृष्ण के समीप आया और उनको धक्के लगाता हुआ बोला, "क्यों रे भट्ट! बाबू को जादू करके वश कर लिया है नहीं? बोल न रे! अब क्यों चुप्पी साध ली है? क्यों रे ढोंग करता है?" अर्धसमाधि में रहने के कारण श्रीरामकृष्ण उस समय बोल ही नहीं सकते थे। श्रीरामकृष्ण को कुछ न बोलते देखकर उसने गुस्से ही गुस्से में "जा बेटे! नहीं बोलता तो मत बोल" ऐसा कहते हुए एक लात मारकर वहां से अपना मुँह काला किया। मथुरबाबू को मालूम होने पर ब्राह्मण का अनिष्ट न हो यह सोचकर निरभिमानी श्रीरामकृष्ण ने इसके बारे में जरा भी चर्चा नहीं की। इसके कुछ दिनों के बाद अन्य कारणों से मथुरबाबू हलधर पर नाराज़ हो गये जिससे हलधर नौकरी से अलग कर दिया गया! बाद में एक दिन मामूली बातों में श्रीरामकृष्ण ने उस दिन की बात मथुरबाबू को बताई उसे सुनकर मथुरबाबू क्रोध और दुःख से संतप्त हो उठे और बोलने लगे, "बाबा! यह बात मुझे पहिले मालूम हो जाती तो वह ब्राह्मण कदापि जीवित न बचता।"

मथुर का भक्ति-विश्वास ज्यों २ बढ़ने लगा त्यों २ वे श्रीरामकृष्ण की ही संगति में रहने तथा उनकी इससे भी अधिक सेवा करने का उपाय ढूंढ़ने लगे। उनके मेरे ही पास रहने से उनकी सेवा करने का अवसर मुझे अधिक मिलेगा यह सोचकर वे बीच २ में श्रीरामकृष्ण को अपने जानबाजार के बाड़े में रहने के लिये ले जाने लगे। तीसरे प्रहर में "चलिये बाबा घूमने चलें" कहकर उन्हें कलकत्ता के किसी उत्तम स्थान में अपने साथ घूमने ले जाया करते

थे। " बाबा के भोजन के लिये उन्होंने सोने चांदी के बर्तन विशेष रूप से बनवाये। उनके लिये सदा उत्तम २ वस्त्र खरीद देते थे और इतना होने पर भी कहते थे, " बाबा ! आप ही तो इस सब के मालिक हैं ! देखिये न, इस सोने की थाली और चांदी की कटोरी में आपका भोजन हो जाने के बाद आप उस ओर तो लौटकर देखते भी नहीं ! तब मुझको ही उन्हें माँज धोकर और पोंछकर ठीक हिफ़ाज़त से रखवाने का प्रबन्ध करना पड़ता है न ? "

लगभग इसी समय एक अत्यन्त मूल्यवान बनारसी दुशाले की दुर्दशा का वृत्तान्त हमने स्वयं श्रीरामकृष्ण के मुँह से सुना है। मथुरबाबू ने वह दुशाला एक हज़ार रुपये में खरीदा था। इतनी क़ीमती और सुन्दर वस्तु वे और किसे दें यह सोचकर उन्होंने आनन्द से उसे श्रीरामकृष्ण को समर्पण किया ! उस दुशाले को ओढ़ने से उन्हें बड़ा आनन्द हुआ; उसकी ओर वे बारम्बार देखने लगे; और बड़े शौक़ से इधर उधर टहलने लगे और मौज से डोलने लगे। उस दुशाले को वे हर किसी को दिखाने लगे और दिखलाते समय कहते, " देखो यह दुशाला मथुर ने १०००) खर्च करके मेरे लिये ला दिया है ! " पर बस ! एक छोटे बालक के समान थोड़ी ही देर में सब आनन्द चला गया और मन में दूसरे विचार आने लगे। " इस दुशाले में विशेष बात क्या है ? इसमें ऊन और ज़री के सिवाय तो और कुछ नहीं है; जिन पंचभूतों से सब चीज़ें तैयार होती हैं उन्हीं से यह दुशाला भी बना है। गुण यही है कि इससे ठंड से बचत होती है। (थोड़े विचार के बाद) पर यह काम तो कम्बल से भी होता है। फिर इसमें इतना अधिक क्या है ? और सब वस्तुओं के समान इससे भी सच्चिदानन्द की प्राप्ति तो नहीं होती वरन् उलटे इसे ओढ़ने से " मैं सब से श्रेष्ठ हूं " इस प्रकार केवल अहंकार उत्पन्न होकर मनुष्य ईश्वर से दूर हट जाता है, यह इसका बड़ा दोष है। " ऐसा सोचकर उन्होंने उस दुशाले को ज़मीन पर फेंक दिया और " इससे सच्चिदानन्द की प्राप्ति नहीं होती, थूः थूः ! " ऐसा कहते हुए उस पर थूकते हुए उसे पैरों से रौंद डाला। इतने से ही सन्तोष न मानकर उसे वे जलाने का प्रयत्न कर रहे थे, पर इतने ही में वहां कोई आ गया और श्रीरामकृष्ण के हाथ से उसने उस दुशाले को छुड़ा लिया। मथुर-बाबू को यह वृत्तान्त विदित होने पर वे बोले, " बाबा ने ठीक किया ! "

मथुरबाबू श्रीरामकृष्ण को नाना प्रकार के सुख भोग और आराम में रखने का प्रयत्न करते थे तथापि श्रीरामकृष्ण का मन कितने ऊँचे विचारों में मग्न रहता था यह ऊपर की घटना से स्पष्ट दिखता है। मथुरबाबू की पत्नी भी उन्हें साक्षात् ईश्वर समझती थीं। मथुर और उनकी स्त्री दोनों श्रीरामकृष्ण से कोई बात नहीं छिपाते थे। वे दोनों कहते थे, "बाबा कोई मनुष्य नहीं है। उनसे कोई बात छिपाना ठीक नहीं ? उन्हें सब बातें मालूम हो जाती हैं। मन की बात भी वे जान लेते है।" वे दोनों सिर्फ ऐसे बोला ही नहीं करते थे वरन् श्रीरामकृष्ण के साथ उनका व्यवहार भी उसी प्रकार था। वे अपना खान पान, उठना बैठना, सभी व्यवहार उनको साथ लेकर ही करते थे। इतना ही नहीं, उनका सोना कई दिनों एक ही स्थान में होता था। बाबा को किसी अवसर में वाड़े के किसी भाग में जाने की पूरी स्वतंत्रता थी। ऐसी स्वतंत्रता न देने से लाभ ही क्या था ? कहां क्या हो रहा है यह सब बाबा को मालूम हो जाने का उन्हें कई बार निश्चय हो चुका था। इसके सिवाय पुरुष को स्त्रियों में शामिल नहीं होने देने का मुख्य कारण है मानसिक विकार। परन्तु इस सम्बन्ध में तो बाबा को घर के किसी संगमरमर के पुतले के समान अचेतन समझने में कोई हर्ज नहीं था। किसी अपरिचित पुरुष को देखकर स्त्रियों के मन में जिस प्रकार लज्जा और संकोच उत्पन्न होता है उस प्रकार मथुरबाबू के यहां किसी स्त्री के मन में श्रीरामकृष्ण को देखकर नहीं होता था। उन्हें वे अपने में से ही एक या कोई पांच वर्ष के छोटे बालक के समान मालूम होते थे। सखीभाव से साधन करते समय वे स्त्रीवेष धारण करके इन स्त्रियों में मिल जाते थे। दुर्गा पूजा के समय इन स्त्रियों के साथ वे श्री जगदम्बा पर चँवर डुलाया करते थे। किसी स्त्री का पति आ जावे, तो ठाट बाट सजाकर पति के साथ बोलने की रीति आदि सिखाकर उसे पति के शयन मन्दिर में पहुँचाकर वापस आते थे—इत्यादि अनेक बातें स्वयं श्रीरामकृष्ण के मुँह से सुनकर इन सब स्त्रियों का इस कामगन्धहीन अद्भुत पुरुष श्रीरामकृष्ण से कैसा अपूर्व भक्ति-विश्वास का सम्बन्ध था इसे सोचकर मन आश्चर्यचकित हो जाता है और उनकी भक्ति, उनका विश्वास, और उनकी निःसंकोच वृत्ति के आचरण को धन्य है यही उद्गार हृदय से निकल पड़ता है।

१६—श्रीरामकृष्ण और मथुरबाबू। (चालू)

इस वर्ष मथुरबाबू के घर दुर्गा पूजा का उत्सव बड़े ठाट बाट से होने वाला था, क्योंकि कुछ दिनों से बाबा इन्हीं के घर में थे और उत्सव की समाप्ति तक वहीं रहने वाले थे। जैसे अपनी माता के पास छोटा बालक निर्भय होकर खेलता है, अनेक प्रकार के उपद्रव करता है, हठ करता है, मचलता है और विनोद करता है ठीक उसी प्रकार की अवस्था और आचरण निरन्तर भावावेश में मग्न रहने वाले बाबाजी का था। भास होता था कि मानो आजकल साक्षात् देवी की मूर्ति भी जागृत हो गई है! सारे घर के वातावरण में भी मानों पवित्रता और प्रसन्नता छा गई थी!

मथुरबाबू की भक्ति राजसी थी। उन्होंने अपने बाड़े को सजवाया था। देवी की मूर्ति का अति विचित्र रीति से शृंगार किया था। पत्र, पुष्प, फल, मूल आदि पूजाद्रव्यों की भरमार थी। रातदिन मंगलवाद्य बजते रहते थे; पूजा के किसी भी बाह्य उपचार में उन्होंने यत्किंचिदपि न्यूनता नहीं पड़ने दी। सभी प्रकार की व्यवस्था करने में व्यग्र होने के कारण मथुरबाबू और उनकी पत्नी दोनों को एक क्षण भर भी फुरसत नहीं मिलती थी।

संध्या हो गई। अब थोड़े ही समय में आरती होने वाली थी। आज सखीभाव में रहने के कारण बाबा अपना पुरुष होना बिल्कुल भूल गये थे। उनकी बोल चाल और अन्य सब व्यवहार बिल्कुल स्त्रियों के समान दिखते थे। मानो वे जन्म जन्मांतर में श्री जगदम्बा की दासी या सखी ही रहे हों! मानो जगदम्बा ही उनके प्राण, वही उनका मन, वही उनका सर्वस्व हो और उन्हीं की सेवा के लिये ही मानो उनका जन्म और उनका जीवन हो! उनके मुख-मंडल पर भावावेश से अपूर्व तेज झलक रहा था। उन्होंने स्त्रीवेष धारण किया था—कौन कह सकता था कि वे पुरुष हैं? श्रीरामकृष्ण का स्वरूप उस समय इतना सुन्दर था मानो सौन्दर्य भीतर न समाकर अंगों के बाहर फूटकर निकल रहा हो।

भाव के आवेश में शरीर का रंग और भी उज्ज्वल हो गया था। शरीर में से एक प्रकार की दिव्य ज्योति बाहर फैल रही थी। यह रूप जिसकी दृष्टि में पड़ जाता था उसकी दृष्टि वहीं अटक जाती थी और उसे ऐसी इच्छा होती थी कि वही रूप देखता रहे! श्री माता जी (श्रीरामकृष्ण की धर्म पत्नी) कहा करती थीं कि "उस समय उनके शरीर में जो स्वर्ण का इष्ट कवच सदा रहता था उसका रंग और उनके अंग का रंग बिल्कुल एक हो जाता था।" श्रीरामकृष्ण स्वयं कहते थे कि उस समय तो ऐसा रूप था कि लोग देखते ही रह जाते थे! वक्षःस्थल और मुख सदा लाल रहता था और शरीर से एक प्रकार की ज्योति बाहर निकला करती थी। देखने के लिये लोगों की लगातार भीड़ होने लगी; इस कारण एक बड़ी चादर से सब शरीर को ढांककर रखने लगे और माता से कहने लगे—"मां! यह अपना बाहर का रूप ले जाओ और मुझे भीतर का रूप दो।" अपने शरीर पर हाथ फेरते हुए मैं कहता था, "भीतर जा, भीतर जा।" पीछे बहुत दिनों के बाद बाह्यरूप ऐसा मलीन हो गया।

रूप की चर्चा के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण के साधनकाल की ही एक बात स्मरण हो आती है। उन दिनों श्रीरामकृष्ण प्रतिवर्ष वर्षाकाल में ३, ४ मास अपनी जन्म-भूमि कामारपुकुर में जाकर रहते थे। वहां रहते हुए वे कभी २ हृदय के ग्राम शिउड़ को भी जाते थे। उनकी ससुराल के जयरामवाटी ग्राम पर से शिउड़ का रास्ता होने के कारण जयरामवाटी के लोग भी उन्हें २,३ दिन आग्रह से रोक रखते थे। श्रीरामकृष्ण का भाँजा हृदय उनकी सेवा के लिये सब समय उनके साथ ही रहता था। कामारपुकुर में रहते समय उनके दर्शन के लिये और उनके मुख से चार शब्द सुनने के लिये प्रातःकाल से संध्यापर्यंत लोगों का लगातार तांता लगा रहता था। स्त्रियां सवेरे जल्दी २ अपने घर का सब काम निपटाकर स्नान के लिये और हलदारपुकुर से पानी लाने के लिये घड़ा लेकर जब निकलती थीं तो वे प्रथम श्रीरामकृष्ण के घर जाती थीं। वहां उनके दर्शन पाकर घन्टा आध घन्टा बातचीत करने के बाद फिर पानी लेने जाती थीं। इतने में ही रात को जिसके यहां पकान्न बना होता था वहां की स्त्रियां श्रीरामकृष्ण के लिये उसमें से अलग निकाला हुआ अग्रभाग ले आती थीं। ये स्त्रियां सवेरा होते न होते अपने घर आने लग जाती हैं। यह देखकर विनोद प्रिय श्रीरामकृष्ण कभी २ उनकी

दिल्लगी करते थे। वे कहा करते थे, "वृन्दावन में जब श्रीकृष्ण थे तब श्रीकृष्ण से गोपियों का अनेक प्रकार से और अनेक समय मिलन होता था। यमुना का पानी लाने के लिये जाते २ गोष्ठ-मिलन, सन्ध्या समय श्रीकृष्णचन्द्र के गाय चराकर लौटते समय गोधूलि-मिलन, तदनन्तर रात को रास-मिलन इत्यादि मिलन होते थे। क्या वैसा ही यह एक तुम्हारा स्नान-मिलन है देवियों?"

श्रीरामकृष्ण की बातें सुनकर वे हँसती २ लोटपोट हो जाती थीं। जैसे ही स्त्रियां अपने घर रसोई बनाने जाती थीं वैसे ही पुरुषों का जमाव हो जाता था और उनका वार्तालाप होने लगता था। तीसरे प्रहर स्त्रियां पुनः इकट्ठी हो जाती थीं और सन्ध्या समय कोई २ पुरुष भी आ जाते थे—यह दैनिक कार्यक्रम था।

एक दिन श्रीरामकृष्ण शिऊड़ जाने वाले थे। जाने की सब तैयारी हो चुकी थी। सदा सर्वकाल भावसमाधि में रहने के कारण श्रीरामकृष्ण का शरीर छोटे बालक के समान अत्यन्त कोमल और सुकुमार हो गया था। थोड़ी भी दूर जाने के लिए उन्हें गाड़ी या पालकी की आवश्यकता होती थी। आज के लिये भी पालकी की व्यवस्था की गई। हृदय उनके साथ जानेवाला था ही। श्रीरामकृष्ण लाल रेशमी वस्त्र पहने हुए थे। हाथ में स्वर्ण का इष्ट कवच धारण किये हुए थे। दोपहर का भोजन करके मुँह में पान दबाये हुए पालकी में बैठते समय चारों ओर स्त्री पुरुषों की बड़ी भीड़ लगी हुई उन्हें दिखाई दी। उसे देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ और वे हृदय से बोले, "हृदू, आज यह इतनी भीड़ किस लिये हो गई है रे?"

हृदय—"और किस लिये? आप आज गांव जा रहे हैं और कुछ दिनों तक आपका दर्शन नहीं मिलेगा इस कारण आपको देखने के लिये इतनी भीड़ हो गई है।"

श्रीरामकृष्ण—"मुझे तो ये सब लोग रोज़ देखते हैं फिर आज ही ऐसी नवीनता कौनसी है?"

हृदय—"आपने आज लाल रेशमी वस्त्र पहिना है और पान खाने से आपका मुँह कुछ रंग गया है इसीसे आपका रूप बहुत सुन्दर दिखता है-और क्या है? इसी कारण लोग जमा हो गये हैं।"

अपने सुन्दर रूप से इन सब लोगों को आकृष्ट होकर आने की बात सुनते ही श्रीरामकृष्ण के मन को धक्का लगा। वे सोचने लगे, "हाय! हाय! इस क्षणभंगुर बाह्य सौन्दर्य की ओर ही सब का ध्यान है। अन्तरात्मा की ओर कोई नहीं देखता।" पहिले से ही रूप के सम्बन्ध में उनका उदासीन भाव था, आज तो वह भाव सहस्त्रगुना बढ़ गया। वे बोले, "क्या? यःकश्चित् एक मनुष्य को देखने के लिये इतनी भीड़ है? तो क्या मैं जहां जाऊँगा वहां ऐसी ही भीड़ होगी? जा, आज मैं कहीं नहीं जाता।" यह कहकर श्रीरामकृष्ण अपनी कोठरी में जाकर दुःख से एक कोने में चुप बैठ गये। इसलिये उस दिन वे शिऊड़ नहीं गए। हृदय तथा अन्य लोगों ने उन्हें बहुत ही समझाया पर सब व्यर्थ हुआ। धन्य है इस अलौकिक पुरुष को! अपने शरीर के सम्बन्ध में ऐसी तुच्छ देह बुद्धि! नहीं तो हमारी ओर देखो! "रूप" "रूप" करते २ पागल बन गये हैं। शरीर सौन्दर्य भले ही न हो पर चश्मा, रिष्टवॉच, नेकटाई, कॉलर, हेयरकट आदि चीज़ों से सुन्दर बनाने के लिये हमें कितनी परेशानी हुआ करती है। अस्तु—

अब जगदम्बा की आरती शुरू होने का समय हो गया, परन्तु श्रीरामकृष्ण के सखीभाव के उपशम होने के चिन्ह बिलकुल नहीं दिख रहे थे। उनको वहां वैसे ही छोड़कर शेष लोगों को आरती के लिये ले चलना जगदम्बा दासी को ठीक नहीं जचता था। वह जानती थी कि आरती की गूंज कान में पड़ते ही ये एकदम उठकर उसी ओर दौड़ पड़ेंगे। इसके सिवाय भावावस्था में तो उन्हें देहभान भी नहीं रहता यह भी उसे मालूम था। ऐसी ही अवस्था में वे एक बार आग में गिर पड़े थे पर उसकी उन्हें चिन्ता नहीं हुई। उन घावों को आराम होने में काफी समय लगा था। अभी भी कुछ ऐसा ही हो जाय तो? ऐसे अनेकों विचार मन में आने के कारण उसे कुछ नहीं सूझता था। इतने ही में एकाएक उसे एक बात सूझ पड़ी और तुरन्त ही उसने अपने शरीर के अमूल्य गहने निकालकर श्रीरामकृष्ण के शरीर में पहिनाते हुए उनके कान के पास लगातार कहने लगी, "बाबा, चलिये न! अब आरती शुरू होगी, देवी पर आप चँवर डुलायेंगे न?"

भावावेश में श्रीरामकृष्ण कितना ही बाह्यसंज्ञा शून्य हो गये हों, या जिस मूर्ति के ध्यान से अथवा जिस भाव के आश्रय से उनका मन समाधिस्थ हो

जाता हो या उस मूर्ति को छोड़ सर्व जगत और भावों से इनका मन कितनी ही दूर चला गया हो, पर सदा यही देखने में आया कि उस मूर्ति का नाम या उस भाव के अनुकूल किसी बात का उच्चारण उनके कानों के पास बारम्बार करने से उनकी समाधि उतर जाती थी! पातञ्जली योगसूत्रों में उल्लेख है कि एकाग्र मन का यही गुणधर्म है। जिस किसी को दैवयोग से चित्त का एकाग्र करना थोड़ा बहुत सध गया है उसका भी यही अनुभव होगा। अस्तु—

जगदम्बा दासी की युक्ति सफल हुई। श्रीरामकृष्ण को क्रमशः देहभान हो आया। वे आनन्द से उसके साथ देवी की आरती के लिये चले। उनके वहां पहुँचते ही आरती भी शुरू हुई। श्रीरामकृष्ण देवी पर चँवर डुलाने लगे। दालान की एक ओर मथुर आदि पुरुष-समाज आरती देखता था। मथुरबाबू का ध्यान स्त्री मंडली की ओर जाते ही अपनी पत्नी के साथ कोई नवीन स्त्री देवी पर चँवर डुलाती हुई उन्हें दिखाई दी। उन्हें मालूम पड़ा कि अपनी स्त्री की पहिचान वाली ही कोई दूसरी स्त्री होगी?

आरती समाप्त हुई। श्रीरामकृष्ण ने अपना स्त्रीवेष उतारकर पुरुषवेष-धारण किया और बाहर दूसरे लोगों के साथ बातें करने बैठ गये। कुछ समय के बाद जब मथुर किसी काम से भीतर गये तब अपनी पत्नी से बोले, "उस वक्त आरती के समय तेरे साथ वह कौन स्त्री खड़ी थी?" जगदम्बा दासी ने हँसकर उत्तर दिया, "आपने नहीं पहिचाना? वे तो 'बाबा' थे!" यह कहकर उसने उस दिन का सारा हाल कह सुनाया। मथुर चकित होकर कहने लगे, "सामान्य बातों में उन्होंने समझने नहीं दिया तो उन्हें कौन जान सकता है? यही देखो मैं चौबीसों घंटे उनके साथ रहकर भी आज उन्हें नहीं पहिचान सका।" अस्तु—

सप्तमी, अष्टमी और नवमी बड़े आनन्द से बीतीं! आज विजया दशमी थी। पुरोहित जल्दी २ पूजा निपटाने लगे क्योंकि विसर्जन के पूर्व बहुत सी विधियां बाकी थीं और बाद संध्या समय विसर्जन होना था। सब को यह सोचकर बुरा लग रहा था कि देवी के घर चले जाने पर हमारे घर का आनन्द का बाज़ार उखड़ जावेगा।

यह बात मथुरबाबू के ध्यान में अभी तक नहीं आई थी। वे अपने ही आनन्द में मस्त थे। इतने में पुरोहित का संदेशा आया कि " अब विसर्जन होने के पहिले देवी को आकर प्रणाम कर लें। " पहिले तो यह बात उसके सिर में ही न घुसी। बहुत समय के बाद उसे आज विजया दशमी होने की याद आई। याद आते ही उसके हृदय को एक धक्का लगा। " क्या ? आज माता का विसर्जन करना है ? क्यों भला ? माता की और बाबा की कृपा से मुझे तो किसी बात की कमी नहीं है तब माता का विसर्जन क्यों किया जावे ? " ऐसा सोचते वह स्वस्थ बैठ गया। इधर समय होने लगा। पुरोहित ने पुनः समाचार भेजा कि " एक बार आकर प्रणाम कर लेवें। " उसी आदमी के द्वारा मथुरबाबू ने कहला भेजा कि " माता का विसर्जन नहीं किया जाएगा ! नौ दिनों तक जैसी पूजा हुई वैसी ही पूजा आगे भी चलेगी। मुझे बिना बताये कोई विसर्जन करेगा तो वह जाने। मुझे वह कार्य कदापि पसन्द नहीं होगा। " यह विचित्र सन्देशा सुनकर सभी लोग स्तब्ध हो गये।

मथुरबाबू जिन लोगों का मान करते थे उन सबों ने उन्हें समझाया पर सब निष्फल हुआ। मथुरबाबू अपने ही विचारों में मस्त रहे। उन्होंने उन सबों से यही कह दिया कि " मैं माता का विसर्जन नहीं करता। मैं उनकी नित्य पूजा करूंगा। माता की कृपा से मुझे उनकी नित्यपूजा करने का सामर्थ्य प्राप्त है, तो मैं विसर्जन क्यों करूं ? " सभी हार मान गये। पर अब आगे उपाय क्या है ? ऐसा करने से कैसे चल सकता है ? मथुरबाबू का हठी स्वभाव सब को अच्छी तरह मालूम था। उनकी सम्मति के विरुद्ध विसर्जन करना सम्भव नहीं था। अब अन्तिम प्रयत्न के लिये जगदम्बा दासी ' बाबा ' के पास गई और अपने पति को समझाने के लिये उनसे विनती की क्योंकि उसे संकट से छुड़ाने के लिये ' बाबा ' के सिवाय दूसरा कोई नहीं था।

श्रीरामकृष्ण ने जाकर देखा तो मथुरबाबू का मुख गम्भीर और आरक्त हो गया था। आँखें भी लाल २ थीं। वे किसी गहन विचार में मग्न दिखाई देते थे और मस्तक नीचा किये हुए अपने बैठक में टहल रहे थे। बाबा को देखते

ही मथुर उनके पास आये और बोले, "बाबा! चाहे कुछ भी हो मैं अपने जीवित रहते माता का विसर्जन नहीं करूँगा। मैंने अभी ही बता दिया है कि माता की नित्यपूजा होगी। माता को छोड़कर कैसे रह सकता हूं?" श्रीरामकृष्ण उसकी छाती पर हाथ फेरकर बोले, "ओः! इसी का तुम्हें डर है? तुम्हें माता को छोड़कर रहने के लिये कौन कहता है? और यदि तुमने विसर्जन भी कर दिया तो वह कहां जायगी? कहीं माता भी पुत्र को छोड़कर रहा करती है? अरे! तीन दिन माता ने तुम्हारे दालान में पूजा ग्रहण की, पर आज से उससे भी अधिक समीप रहकर—प्रत्यक्ष तुम्हारे हृदय में बैठकर-माता तुम्हारी पूजा ग्रहण करती जाएगी—तब तो ठीक है न?"

श्रीरामकृष्ण के अद्भुत स्पर्श और भाषण से मथुरबाबू को धीरे २ देहभान हुआ। इस प्रकार स्वस्थ होने के पूर्व उन्हें कोई दर्शन आदि हुआ या नहीं यह नहीं कह सकते। परन्तु मालूम होता है कि हुआ होगा। ऐसा भी दिखता है कि हृदय में माता का आविर्भाव हो जाने के कारण बाह्य प्रतिमा की नित्य पूजा का आग्रह आप ही आप दूर हो गया। थोड़े ही समय में प्रतिमा का यथाविधि विसर्जन हुआ। अस्तु—

श्रीरामकृष्ण के दिव्य सत्संग में निरन्तर रहते हुए उनकी भावसमाधि के असीम आनन्द को देखकर संसारी मथुरबाबू को भी एक बार यह इच्छा हुई कि यह है क्या बात? एक बार इसका अनुभव लेना ही चाहिये। उनकी दृढ़ धारणा थी कि "बाबा के मन में बात ला देने से वे चाहे जैसा कर सकते हैं।" सचमुच ही जिन २ को उनकी संगति का लाभ हुआ उन सब की ही यही दृढ़ धारणा रहा करती थी। मथुरबाबू के मन में यह बात आते ही उन्होंने श्रीरामकृष्ण के पास धरना दे दिया कि "बाबा, तुम मुझे भावसमाधि लगा दो।" ऐसे प्रसंगों पर श्रीरामकृष्ण का उत्तर निश्चित रहता था। उन्होंने कहा, "अरे बाबा! ऐसी जल्दी करने से कैसे बनेगा? समय आने पर सब कुछ होगा। क्या बीज बोते ही वृक्ष होकर उसका फल खाने को मिल जाता है? क्यों भाई! तेरा सब कुछ ठीक है, प्रपंच और परमार्थ दोनों ही चल रहे हैं। तू समाधि में रहने लगेगा तो फिर तेरा प्रपंच कैसे चलेगा? यदि तू समाधि में ही रहने लगा तो तेरा मन प्रपंच में

नहीं लग सकेगा। तो फिर तेरी सब सम्पत्ति की क्या दशा होगी? इसके लिये तूने क्या सोचा है?"

पर उस दिन यह सब कौन सुनता है! मथुरबाबू ने तो धरना ही दे रखा था। श्रीरामकृष्ण ने अपने इस दाँव को विफल होते देखकर दूसरा दाँव डाला। वे बोले, "भक्तों की इच्छा क्या ईश्वर को ऐश्वर्य रूप में देखने की होती है? उन्हें तो प्रत्यक्ष सेवा करने की इच्छा रहा करती है। देखने और सुनने से तो ईश्वर के ऐश्वर्य ज्ञान से भय उत्पन्न होता है जिससे प्रेम में कमी हो जाती है। सुनो—श्रीकृष्ण जी के मथुरा चले जाने बाद गोपियां विरह से व्याकुल हो उठीं। श्रीकृष्ण ने उद्धव को गोपियों के पास उन्हें समझाने के लिये भेजा। उद्धव थे बड़े ज्ञानी। उन्हें वृन्दावन का वात्सल्यभाव समझ में नहीं आता था। श्रीकृष्ण जी ने उनको इसी वात्सल्यभाव को समझने और शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजा था। उद्धव वृन्दावन में जाकर गोपियों को समझाने लगे, "तुम सब इस प्रकार "कृष्ण" "कृष्ण" क्यों कर रही हो? कृष्ण तो प्रत्यक्ष भगवान् हैं और सर्वव्यापी हैं यह बात तो तुम्हें मालूम है न? तो फिर वे मथुरा में ही हैं और वृन्दावन में नहीं हैं ऐसा क्यों समझती हो? इसलिये इस तरह हताश न होकर आँखें मूँदकर ध्यान करो तो तुम्हें दिख पड़ेगा कि साक्षात् तुम्हारे हृदय में ही नवनीरदश्याम, मुरलीधर वनमाली सर्वदा विराजमान हैं।"—आदि आदि। यह सुनकर गोपियाँ कहने लगीं, "उद्धव! तू कृष्ण का सखा और ज्ञानी होकर हमें यह क्या सिखा रहा है! हमने क्या उसे ध्यान और जप तप करके देखा है? अरे! हमने जिसे साक्षात् देखा, जिसको खिलाया पिलाया, जिसके साथ क्रीड़ा की और जिसका शृंगार किया, उसका क्या अब ध्यान करें? यह ध्यान और जप तप अब हम से नहीं बन सकता। अरे! जिस मन के द्वारा ध्यान इत्यादि करने को कह रहे हो उस मन के मालिक हम होतीं तो अलग बात थी। वह मन तो श्रीकृष्णचन्द्र जी के पादपद्मों में कभी का समर्पित हो चुका है। हमारे कहने योग्य क्या अब हमारे पास कुछ भी शेष रह गया है?" यह सब सुनकर उद्धव स्तम्भित हो गए और उन्हें मालूम हो गया कि गोपियों का कृष्ण-प्रेम क्या है, और उसका कितना गम्भीर स्वरूप है। उन गोपियों को गुरु मानकर उद्धव ने उनको प्रणाम किया और मथुरानगरी की

चाह ली। इसी पर से ज्ञात होता है कि जो सच्चा भक्त है वह क्या भगवान् को ऐश्वर्य रूप में देखना चाहता है? उसकी सेवा में ही उसे परमानन्द है। देखने सुनने में उसका इतना ध्यान नहीं रहता क्योंकि उससे उसके भाव की हानि होती है।

इस पर भी जब मथुरबाबू से पिण्ड नहीं छूटा तब उन्होंने एक नई युक्ति निकाली। वे बोले, "मैं तो भाई और अधिक नहीं समझता। माता को कहकर देखता हूं फिर उसको जो उचित दिखेगा वैसा वह करेगी।"

इस संवाद के कुछ दिनों के बाद मथुरबाबू को अकस्मात् भावसमाधि प्राप्त हो गई। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "मुझे बुलाने भेजा। मैं जाकर देखता हूं तो वह ऐसा दिखा मानो मनुष्य ही न हो! आँखें लाल थीं और उन में से लगातार अश्रुधारा बह रही थी। ईश्वर की बातें बोलते २ और रोते २ वह भीग गया था। उसका वक्षःस्थल थर थर कांप रहा था। मुझे देखते ही मेरे पैरों को ज़ोर से पकड़ कर छाती से लगा लिया और कहने लगा, "बाबा! बड़ा घात हुआ। आज तीन दिनों से यह अवस्था है! प्रयत्न करने पर भी संसार की ओर मन नहीं लगता। सब गोलमाल हो गया है। तुम्हारा भाव तुम्हीं को फले। मुझे तो यह सहन नहीं होता।" मैंने कहा, "क्यों भाई? अब कैसे? तू ने ही तो कहा था कि मुझे भाव चाहिये।" तब उसने कहा, "मैंने कहा था ज़रूर और मैं आनन्द में भी हूं। पर उस आनन्द का क्या करना है? इधर सब नाश हो रहा है न? बाबा! मुझे यह भाव नहीं चाहिये; अपना भाव आप ही वापस ले जाइये।" तब तो मुझे हँसी आई और मैंने कहा, "तुझको तो मैंने यह बात पहिले ही बतला दी थी?" उसने कहा, "बाबा! हाँ, सब सच है; पर उस वक्त ऐसा किसे मालूम था कि यह किसी भूत के समान सिर पर सवार हो जावेगा और जैसा नचायेगा वैसा चौबीसों घन्टे नाचना पड़ेगा? अब तो इच्छा होने पर भी कुछ करते नहीं बनता।" तदुपरान्त उसकी छाती पर कुछ देर हाथ फेरने से उसका वह भाव शान्त हुआ।

मथुरबाबू का श्रीरामकृष्ण के साथ कितना अनोखा तथा मधुर सम्बन्ध था। साधनकाल में उनको किसी वस्तु की आवश्यकता होने पर उनके यह

कहने की देर नहीं कि "मुझे अमुक वस्तु चाहिये" कि मथुरबाबू वह वस्तु उनके पास हाज़िर कर देते थे। समाधिकाल में अथवा और किसी समय उन्हें जो दर्शन होते थे या मन में जो भाव उत्पन्न होते थे उन सब की चर्चा वे प्रथम: मथुरबाबू के साथ किया करते थे और "यह ऐसा क्यों हुआ? इस सम्बन्ध में तुम्हारी क्या राय है?" इस प्रकार उनसे पूछते थे। उसकी सम्पत्ति का सद्व्यय कैसे होगा, देवता की सम्पत्ति देव-सेवा और साधु सन्तों की हो सेवा में लगकर मथुरबाबू को उसका पुण्य कैसे प्राप्त हो?-इस बात की ओर वे सदा लक्ष्य रखते थे। पुण्यवती रानी रासमणि और मथुरबाबू के स्वर्गवास होने पर कुछ दिनों तक हम श्रीरामकृष्ण के आश्रय में आये तब तक भी बीच बीच में उनका इस विषय की ओर ध्यान पाया जाता था।

मथुरबाबू के समय से ऐसा प्रबन्ध था कि श्री काली माता और राधा-गोविन्द जी के प्रसाद में से एक बड़ी थाली भर प्रसाद और एक थाली भर फल मूल मिठाई आदि प्रतिदिन श्रीरामकृष्ण के कमरे में उनके स्वतः के लिये और अन्य दर्शक जो उनके पास जावें उन्हें बाँटने के लिये भेजा जाता था। किसी दिन विशेष नैवेद्य चढ़ता तब उसका भी कुछ अंश इनके पास आता था।

फलहारिणी पूजा के दिन देवालय में बड़ा उत्सव होता था। एक समय उस उत्सव के दिन श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिये स्वामी योगानन्द आदि बहुत से भक्तगण आये हुए थे। आज श्रीरामकृष्ण बड़े आनन्द में थे। बीच बीच में उन्हें भावावेश होता था और कभी २ पांच वर्ष के बालक के समान बड़े आनन्द से माता का नाम स्मरण करते हुए नाचते थे। जगन्माता की पूजा समाप्त होते होते रात व्यतीत हो गयी और किंचित विश्राम लेते लेते भोर हो गया।

प्रातःकाल आठ नौ बज जाने पर भी उनके यहां पूर्व प्रबन्ध के अनुसार देवी के प्रसाद की थालियां नहीं आई थीं; काली घर के पुजारी (अपने भतीजे रामलाल) को उन्होंने पुकारा और इसका कारण पूछा, पर उसे कुछ नहीं मालूम था। उसने कहा, "सारा प्रसाद दफ्तर में खजानची बाबू के पास

भेज दिया गया है और वे नित्य के समान प्रत्येक को भेज भी रहे हैं, पर आप ही के यहां का अद्यापि क्यों नहीं आया कौन जाने ?" रामलाल का कथन सुनकर उन्हें और भी चिन्ता होने लगी। "दफ्तर से अभी तक प्रसाद क्यों नहीं आया" यही बात वे हर एक से पूछने लगे। और भी कुछ समय बीत गया, तोभी प्रसाद के आने के कुछ चिन्ह न दिखे तब स्वयं श्रीरामकृष्ण उठे और जूता पहनकर ख़ज़ानची बाबू के पास गये और उससे बोले, " बाबू जी (अपने कमरे की ओर इशारा करके) उस घर का नित्य का प्रसाद अभी तक आपने क्यों नहीं भिजवाया ? विस्मरण तो नहीं हो गया ? आज इतने दिनों तक प्रसाद भेजने की प्रथा है और यदि विस्मरण होकर इस प्रकार बन्द हो जाय तो बड़ा अन्याय होगा।" ख़ज़ानची बाबू कुछ विस्मित होकर बोले, "ऐं ! अभी तक आप के पास प्रसाद नहीं आया ? सचमुच अन्याय की बात हुई। मैं अभी भेज देता हूं।"

योगानन्द उस समय छोटे थे। उच्च सावर्ण चौधरी के कुल में जन्म लेने के कारण उन्हें बड़ा अभिमान था। पुजारी, ख़ज़ानची, नौकर आदि लोगों को वे तुच्छ मानते थे। वे कुछ ही दिनों से श्रीरामकृष्ण के पास आने लगे थे परन्तु इन लोगों से बोलने में उन्हें अपना अपमान मालूम होता था। अतः जब प्रसाद की थालियाँ नहीं आईं और श्रीरामकृष्ण ने इसकी पूछ ताछ की तब उन्होंने कह दिया कि "महाराज, अरे न आईं तो न सही। उसमें कौन बड़ी बात है। आप तो उसमें से कुछ छूते तक नहीं, तब इतनी पूछ ताछ किस लिये ?" थोड़े ही समय में जब श्रीरामकृष्ण ख़ज़ानची के पास स्वतः पूछने गए तब योगानन्द मन में कहने लगे, "आज ये ऐसे कःपदार्थ फल मूल मिष्टान्न के लिये इतनी चिन्ता में न जाने क्यों पड़ गये ? जिनके मन की शान्ति किसी भी अवसर में विचलित नहीं होती, उन्होंने आज यह क्या मचाया है ?" पर बहुत विचार करने पर भी जब इसका कारण ध्यान में नहीं आया तब उन्होंने यह सिद्धान्त निकाला कि "श्रीरामकृष्ण हों या और कोई हों, सभी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार चलते हैं यही सच मालूम होता है। इनका जन्म पुजारी ब्राह्मण के घर में हुआ है तब उस पेशे का कुछ न कुछ असर इनमें आना ही चाहिये, नहीं तो बड़े २ संकट के समय की शान्त वृत्ति कहां और इस यत्किंचित बात के लिये इतनी दौड़ धूप कहां ? क्योंकि यदि ऐसा न होता तो स्वयं तो प्रसाद का एक टुकड़ा

भी नहीं खाते तथापि उनके लिये इतनी खटपट करते फिर रहे हैं। यह वंशानुगत संस्कार के सिवाय और क्या हो सकता है?"

इस प्रकार योगानन्द मन में विचार कर रहे थे इतने में ही श्रीरामकृष्ण वहां आये और उसकी ओर देखकर बोले, "समझे नहीं! साधु सन्त, देवी देवता की ठीक २ सेवा होती रहे इसी उद्देश से रानी रासमणि ने इतनी सम्पति रख छोड़ी है। इस कमरे में जो प्रसाद आता है उसे सब भक्त समाज ही खाता है। ईश्वरदर्शन के लिये उत्सुक लोग ही इस प्रसाद को पाते हैं। इससे ही रानी की सम्पत्ति उचित कार्य में लगकर उसका दान सार्थक होता है। पर देवालय के अन्य ब्राह्मण जो प्रसाद ले जाते हैं उसका उचित उपयोग नहीं होता। उसे बेचकर वे पैसा बनाते हैं। किसी २ ने तो वेश्या रख ली है उसे वह प्रसाद ले जाकर खिलाते हैं। यहीं रोज़गार चलता है। इसलिये वैसा न होने पावे और रानी का दान अंशतः सार्थक होवे इसी हेतु से मैं यह झगड़ा कर रहा हूं।" श्रीरामकृष्ण की हड़बड़ी का यह गूढ़ अर्थ सुनकर योगानन्द चकित हो गये और उन्हें अपने विचारों के कारण लज्जा हुई।

श्रीरामकृष्ण का मथुरबाबू से कैसा अद्भुत सम्बन्ध था। मथुर का भक्ति-विश्वास बढ़ते २ अन्त में उसे बाबा प्राण से भी प्रिय मालूम पड़ने लगे। इसका मुख्य कारण केवल उसका उनके प्रति अहेतुक प्रेम और उनकी छोटे बालक के समान अवस्था ही थी। संसारिक सब विषयों से पूरे अनभिज्ञ छोटे बालक पर किसे प्रेम नहीं होता? वह यदि पास हो तो खेलते या उपद्रव करते उसे कोई किसी प्रकार चोट न लग जावे इस बात की सावधानी यथाशक्ति कौन नहीं करता और श्रीरामकृष्ण के बालभाव में कृत्रिमता या ढोंग लेश मात्र नहीं था। इस भाव में रहते हुए सचमुच वे एक बालक के समान आत्मरक्षा करने के लिये असमर्थ हैं ऐसा मालूम होता था; इसलिये तेजस्वी और बुद्धिमान मथुर के मन में सब बातों में उनकी रक्षा करने की भावना रहना स्वाभाविक ही था। अतः जैसे एक ओर श्रीरामकृष्ण की दैवी शक्ति पर उसे अत्यन्त दृढ़ विश्वास था वैसे ही दूसरी ओर बाबा को एक अनजान बालक समझकर उनकी रक्षा करने के लिये सदैव कमर कसकर तैयार रहता था। सर्वज्ञ गुरुभाव और अल्पज्ञ बालकभाव का ऐसा

विचित्र मिश्रण बाबा में देखकर मथुर की यह दृढ़ भावना हो गई कि सभी बातों में ही नहीं, वरन् प्रत्यक्ष देहरक्षा के भी कार्य में श्रीरामकृष्ण की रक्षा मुझे करनी चाहिये और मानवी शक्ति और बुद्धि से परे सूक्ष्म पारमार्थिक विषय में मेरी रक्षा बाबा करेंगे। सर्वज्ञ बाबा, मथुर के उपास्य देवता होते हुए भी, बालकभाव की सरलता और परावलम्बिता की मूर्ति बाबा को मथुरबाबू समझाया करता था और यह समझाने की शक्ति भी श्रीरामकृष्ण के प्रति अपार प्रेम होने के कारण उसमें उत्पन्न हुई थी।

मथुर के साथ गप्पें करते हुए एक दिन श्रीरामकृष्ण को शौच की इच्छा हुई और वे उठकर चले गये। वापस लौट आने पर उनका चेहरा बहुत चिन्ताक्रान्त दिखा। श्रीरामकृष्ण बोले, "अरे! आज क्या आपत्ति आ गई? कितना बड़ा कीड़ा गिरा। इतना बड़ा कीड़ा किसी को नहीं गिरता, तब फिर मुझे ही क्या हो गया?" अभी एक क्षणपूर्व, मथुरबाबू को भिन्न भिन्न आध्यात्मिक विषय समझाने वाले बाबा साधारण क्षुद्र सी बात के लिये छोटे बालक के समान चिन्तित होकर मथुर के पास समाधान के लिये आये थे! उनका कहना सुनते ही मथुर बोला, "वाह! यह तो बड़ा अच्छा हुआ। बाबा सभी के शरीर में कामकीट रहता है और वही उनके मन में अनेक कुविचार उत्पन्न करके उनसे कुकर्म कराता है! जगदम्बा की कृपा से आपके शरीर से कामकीट गिर पड़ा। क्या ही अच्छी बात हुई! उसके विषय में इतनी चिन्ता क्यों होनी चाहिये?" यह सुनकर किसी छोटे बालक के समान उनका समाधान हो गया और वे बोले, "वाह, ठीक बोले, अच्छा हुआ कि मैंने तुम्हें यह बात बता दी।"

बोलते २ एक दिन बाबा कहने लगे, "यह देख माता ने मेरी ओर इशारा करके समझाकर कहा कि जो तेरे अंतरंग भक्त हैं वे सब आवेंगे और तुझसे ईश्वरी विषय का उपदेश लेंगे, सुनेंगे और प्रत्यक्ष अनुभव करके प्रेम और भक्ति प्राप्त करेंगे। (अपनी ओर अंगुली दिखाकर) इस शरीर का आश्रय लेकर माता अनेक खेल खेलेगी, अनेकों परोपकार करेगी और इसीलिये इस देहरूपी पिंजड़े को अभी तक उसने नहीं तोड़ा है और यत्नपूर्वक कायम रखा है। तुम क्या कहते हो? यह सब भ्रम है या सच है—बताओ तो सही?"

मथुर बोला, " भ्रम क्यों होगा बाबा! माता ने आपको अभी तक कोई झूठ बात नहीं दिखाई तो यही झूठ कैसे होगी? यह भी सच ही होनी चाहिये। भला अभी तक आपके भक्त आते क्यों नहीं हैं? वे जल्दी २ आ जाएं तो हम सब मिलकर आनन्द करें।"

बस बाबा को बात जँच गई। वे बोले, " क्या कहूं भाई? वे सब कब आवेंगे? माता ने दिखाया और बताया इतना तो सत्य है! अब इसके उपरान्त उसकी मरजी।"

इसके बाद बहुत दिनों के पश्चात् एक दिन मथूरबाबू ने श्रीरामकृष्ण से पूछा, " बाबा, आपने तो कहा था कि यहां अंतरंग भक्त आनेवाले हैं, पर अभी तक कोई आया नहीं?"

श्रीरामकृष्णः—" वे कब आवेंगे कौन बतावे, पर वे आवेंगे जरूर। माता ने स्वयं ही मुझसे कहा है। उसकी बताई हुई बाकी सब बातें बिल्कुल सच होती गई तो फिर यही बात क्यों न होगी?" ऐसा कहकर माता की यह बात क्या झूठ हो जाएगी इस विचार से वे बड़े चिन्तित हो गये। उनका उतरा हुआ चेहरा देखकर मथुर को दुःख हुआ और अपने द्वारा इस बात का निकालना ठीक न हुआ समझकर उसे पश्चात्ताप होने लगा। अतः वह बालक स्वभाव वाले श्रीरामकृष्ण के समाधान के लिये बोला, " बाबा, वे आवें या न आवें मैं तो तुम्हारे चरणों का चिरकालीन भक्त बैठा हूं, फिर यह बात झूठ कैसे हुई? मैं अकेले ही क्या तुम्हारे सौ भक्तों के स्थान में नहीं हो सकता? इसी कारण माता ने कहा कि बहुत से भक्त आवेंगे।" इस वाक्य से श्रीरामकृष्ण का समाधान हो गया। वे बोले, " शायद तू कहता है वैसा ही हो तो कौन जान सकता है?"

रानी रासमणि को पुत्र नहीं था। उसकी केवल चार कन्यायें थीं। रासमणि की तीसरी पुत्री मथूरबाबू की प्रथम पत्नी थी। उसकी मृत्यु के बाद रानी ने अपनी कनिष्ठ कन्या से इसका विवाह कर दिया था। भविष्य में अपनी लड़कियों के बीच झगड़े न होने देने के विचार से दूरदर्शी रानी ने अपनी मृत्यु के पूर्व

ही अपनी सम्पत्ति का बटवारा कर दिया था। बटवारे के बाद एक दिन मथुर-बाबू की पत्नी अपनी बहिन के हिस्से के तालाब में स्नान करने गई। वहां से थोड़ी सी तरकारी तोड़कर लौटी। श्रीरामकृष्ण वहां उपस्थित थे। अतः सहज ही उनकी दृष्टि उस ओर पड़ गई और वे यह देखकर अपने मन ही मन अनेक विचार करने लगे—"सेजगिन्नी * बिना पूछे दूसरे की वस्तु ले चली यह तो बड़ा अन्याय हुआ। मालूम नहीं बिना पूछे दूसरे की वस्तु लेना चोरी करना कहलाता है यह बात उसके ध्यान में आई या नहीं। पर तोभी दूसरे की वस्तु इस प्रकार लेनी ही क्यों चाहिये? ये विचार उठ ही रहे थे कि उस तालाब की मालकिन भी वहां जा पहुंची। तुरन्त ही श्रीरामकृष्ण ने अपनी देखी हुई सब बात उसे पूरी २ बता दी। उसने सब सुन लिया और इतनी छोटी बात की ओर श्रीरामकृष्ण का ऐसा गंभीर भाव देखकर वह अपनी हँसी न रोक सकी और बोली, "सचमुच बाबा! सेज ने बड़ा अन्याय किया।" इतने में सेजगिन्नी भी वहां आ गई और अपनी बहिन के हँसने का कारण सुनकर बोली, "बाबा! यह बात भी आप ने इसको बता दी? यह देखने न पावे इसलिये कितना छिपकर मैंने वह भाजी तोड़ी और आप ने सारी बात इसे बताकर मेरी फजीहत कर दी। इतना कहकर दोनों बहिनें हँसने लगीं, तब श्रीरामकृष्ण बोले, "क्या कहूँ माई, सम्पत्ति का यदि यथार्थ बटवारा हो चुका है, तो बिना पूछे कोई चीज़ ले जाना अच्छा नहीं है। मुझे तो ऐसा ही लगा, इसलिये मेरे मुँह से बात निकल पड़ी। अब आगे तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो।" यह सुनकर उन दोनों बहिनों को और भी हँसी आई और मन में कहने लगीं कि बाबा का स्वभाव बड़ा सरल है।

एक ओर बाबा का बालक के समान इतना सरल स्वभाव और दूसरी ओर कर्तुमकर्तुम् समर्थ इतने शक्तिमान्!

मथुरबाबू का एक समय किसी दूसरे ज़मींदार से झगड़ा हो पड़ा और मथुरबाबू की आज्ञा से मारपीट भी हो गई। उसमें वह ज़मींदार मारा गया।

---

* मथुरबाबू की पत्नी को श्रीरामकृष्ण सेजगिन्नी और मथुर को सेजबाबू कहा करते थे।

मथुर ने इस संकट के समय श्रीरामकृष्ण की शरण ली और उनके पैर ज़ोर से पकड़कर बोला, "बाबा, अब मुझे बचाइये।" बाबा ने पहले उसकी बहुत भर्त्सना की। वे बोले, "मूर्ख कहीं का, रोज़ कुछ न कुछ झंझट लेकर आता था और कहता था बाबा मुझे बचाइये! रे मूर्ख! क्या चाहे जैसा कर सकने का सामर्थ्य मुझमें है? जा, अब किये का फल तू ही भोग। मेरे पास क्यों आया है?" परन्तु मथुर ने जब किसी तरह न छोड़ा, तब तो वे फिर बोले, "निकल यहां से, पुनः ऐसा मत करना। माता के मन में जो होगा वही होगा।" और सचमुच मथुर पर से वह संकट टल गया।

इस प्रकार दोनों तरह के भावों का मथुर को अनेक बार अनुभव होने के कारण उसका ऐसा दृढ़ विश्वास हो गया कि इस बहुरूपिया बाबा की कृपा से मेरा सारा धन कहिये, प्रताप कहिये टिका हुआ है। इसी कारण वह उन्हें ईश्वर का अवतार मानकर उनकी भक्ति करता था। अपने उपास्य के सम्बन्ध में जो खर्च किया जाता है उससे विषयी लोगों की भक्ति की मात्रा सहज ही अनुमान की जा सकती है। मथुर चतुर, हिसाबी, व्यवहार-कुशल और बुद्धिमान था। बाबा के लिये वह कितना मुक्त हस्त होकर पैसा पानी के समान बहाता था यह देखकर भी उसकी भक्ति का अंदाज लगा सकते हैं। जैसे के, नाटक में जब श्रीरामकृष्ण बैठे रहते थे तब वह उनके सामने दस २ रुपयों की पुड़ियां बांधकर अच्छे गवैये को पुरस्कार देने के लिये रख देता था। गाना सुनते २ यदि कोई गाना श्रीराम-कृष्ण को अत्यन्त प्रिय लगता था तो वे कभी २ सारी की सारी पुड़ियां एक-दम उसी गवैये को दे डालते थे। मथुर पर इसका कुछ भी असर नहीं होता था। बल्कि उल्टे "बाबा के सरीखे महान पुरुषों को महान पुरस्कार ही देना चाहिये" कहकर और भी पुड़ियां उनके सामने रख देता था। कभी किसी गाने में तबियत खुश हो जाती थी तो पुनः सभी पैसे उस गवैये को वे दे डालते थे। इतने से ही तुष्ट न होकर वे पास में देने लायक कुछ भी न रहने से एकाध बार अपने शरीर पर के बहुमूल्य वस्त्र को ही देकर आप समाधिमग्न हो जाते थे! इस प्रकार दी गई अपनी सम्पत्ति को सार्थक समझ मथुर आनन्दमग्न होकर उन्हें पंखा झलने लगते थे!

बाबा को साथ लेकर मथुर ने काशी, वृन्दावन आदि की यात्रा की। उस

समय बाबा से कहने से काशी में उसने "कल्पतरु" होकर दान किया और जिसको जो वस्तु चाहिये थी सो ही दी। उस समय बाबा को भी कुछ देने की इच्छा उसे हुई परन्तु बाबा को तो किसी भी वस्तु का अभाव नहीं दिखाई पड़ा। उसका अत्यन्त आग्रह देखकर बाबा बोले, "मुझे एक कमंडल दे।" बाबा का यह अलौकिक त्याग देखकर मथुर की आँखों में पानी आ गया।

तीर्थयात्रा करते हुए श्रीरामकृष्ण वैद्यनाथ के पास एक खेड़े में से जा रहे थे। वहां के लोगों का दारिद्र दुःख देखकर बाबा का हृदय पिघल गया। वे मथुर से बोले, "तू तो माता का कोठीवाल है। इन सब लोगों में से प्रत्येक को एक एक वस्त्र और एक बार सिर में लगाने के लायक तेल और पेट भर भोजन करा दे।" मथुर पहले कुड़कुड़ाने लगा और बोला, "बाबा! इस तीर्थ-यात्रा के काम में बहुत खर्च हो गया है और इन लोगों की संख्या भी बहुत है। इन सब को अन्न वस्त्र देने चलें तो और भी अधिक खर्च होगा। सो कैसा किया जावे?" पर श्रीरामकृष्ण ने उसकी एक न सुनी। गांव के लोगों के दारिद्र और दुःख को देखकर उनका अन्तःकरण भर आया था और आँखों से अश्रुधारा बह रही थी। वे बोले, "दूर हो मूर्ख! तेरी काशी को मैं नहीं चलता। चला जा, मैं इन्हीं के साथ रहूंगा। इनका कोई नहीं है, इनको छोड़कर मैं कहीं नहीं जाता।" यह कहकर एक छोटे बालक के समान गला फाड़कर वे उन्हीं लोगों में जाकर रोने लगे। यह हाल देखकर मथुर ने तुरन्त ही कलकत्ते से अनाज और कपड़ा मंगवाया और बाबा की इच्छा के अनुसार सब कार्य किया। उन दरिद्री लोगों के आनन्द को देखकर बाबा को भी आनन्द हुआ और उनसे विदा लेकर वे मथुरबाबू के साथ काशी गये। दूसरे किसी समय मथुरबाबू के साथ उसकी ज़मीन आदि देखने गये थे। उस समय भी वहां के लोगों की दरिद्रता को देखकर उन सब को उन्होंने अन्न वस्त्र दिलाया।

सभी समय भावावस्था में रहने वाले श्रीरामकृष्ण का मथुरबाबू से इस प्रकार का अद्भुत और मधुर सम्बन्ध था। साधनकाल में एक समय उन्होंने अपनी जगन्माता से ऐसी प्रार्थना की कि "माता, मुझे शुष्क साधु मत बना। मुझे रस में रख।" मथुर से उनका यह अद्भुत मधुर सम्बन्ध ही इस प्रार्थना

का फल है। इसी कारण से जगन्माता ने श्रीरामकृष्ण को बता दिया था कि तुम्हारी देहरक्षा आदि के लिये तुम्हारे साथ ही चार जन अंग रक्षक (Body guards) भी भेज दिये गये हैं। इन चारों में मथुर ही पहला और श्रेष्ठ था। ईश्वरी योजना के सिवाय ऐसा सम्बन्ध १४ वर्ष टिकना सम्भव नहीं है। हाय री पृथ्वी! इस प्रकार के विशुद्ध और मधुर सम्बन्ध तूने आज तक कितने देखे हैं और हे भोगवासने! धन्य है तुझे! मनुष्य के मन को तूने किस प्रकार फौलादी जंजीर से जकड़ रखा है। इस प्रकार के शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वभाव और अद्भुत प्रेम वात्सल्य की मूर्तिमयी प्रतिमा श्रीरामकृष्ण के दर्शन से और अद्भुत संगति का लाभ पाकर भी हमारा मन तुझे नहीं छोड़ता। अतः भोगवासने! तुझे धन्य है!

एक दिन श्रीरामकृष्ण के मुँह से मथुरबाबू की अनेक बातें सुनकर उसके अपूर्व भाग्य को सराहते हुए एक जन बोला, "महाराज (मृत्यु के बाद) मथुरबाबू का क्या हुआ? उसे निश्चय ही पुनः जन्म लेना नहीं पड़ा होगा।" श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "कहीं न कहीं राजा होकर उसने जन्म लिया होगा और क्या? उसकी भोगवासना नष्ट नहीं हुई थी।" ऐसा कहकर श्रीराम-कृष्ण ने दूसरी बातें निकालीं।

मथुरबाबू का चरित्र इस प्रकार का है। विशेषतः साधनकाल में श्रीरामकृष्ण के चरित्र से उनका कितना सम्बन्ध है यह बात उपरोक्त वर्णन से थोड़ी बहुत ध्यान में आ सकती है। इस प्रकार की सेवा, इस प्रकार की भक्ति, इस प्रकार का विश्वास और अपने आराध्य देवता के प्रति इस प्रकार का अत्यन्त प्रेममय, भक्तिमय और विश्वासमय, दिव्य और अलौकिक सम्बन्ध का वृत्तान्त हमने न कहीं पढ़ा है, न सुना है, न देखा ही है।

इस अलौकिक सम्बन्ध के बारे में जितना अधिक विचार किया जावे, मन उतना ही अधिक आश्चर्य में डूब जाता है। श्री जगदम्बा ने श्रीरामकृष्ण की दिव्य लीला में सहायता पहुँचाने के लिये ही मथुरबाबू को भेजा था ऐसा भाव निःसंदेह हो जाता है। देखिये तो सही, श्रीरामकृष्ण के साधन के प्रारम्भ में ही

मथुरबाबू का और उनका प्रथम सम्बन्ध हुआ और साधन को समाप्त कर श्रीराम-कृष्ण सदैव भावभूमि के अत्युच्च स्थान में सर्वदा अवस्थित रहने लगे और यथार्थ सद्गुरु पदवी पर आरूढ़ होकर अशेष लोककल्याण करने लगे उसी समय मथुरबाबू का देहावसान हुआ। उसका काम समाप्त हो गया परन्तु उसने अपना काम ऐसा कर रखा है कि आध्यात्मिक जगत में उसकी जोड़ का दूसरा काम नहीं दिखाई देता! धन्य है वह मथुर और धन्य हैं वे श्रीरामकृष्ण!

१७–साधना और दिव्योन्माद ।

" जिस समय ईश्वरप्रेम की प्रचण्ड तरंगें बिना किसी निमित्त मनुष्य के मन में उठने लगती हैं उस समय उन्हें हज़ार प्रयत्न करने पर भी पीछे नहीं हटा सकते । "

" उस समय माता का किसी न किसी रूप में दर्शन हो जाय तो ठीक; अन्यथा प्राण इतना व्याकुल हो जाता था कि मालूम पड़ता था कि प्राण अभी ही निकल रहा है !— और लोग कहते थे कि यह पागल हो गया है ! "

श्रीरामकृष्ण ।

जगदम्बा के प्रथम दर्शन के आनन्द में मग्न हो जाने के कारण श्रीरामकृष्ण के लिये कुछ दिनों तक कोई भी काम करना असम्भव हो गया । श्री देवी की पूजा आदि नित्य नैमित्तिक कर्म भी उनसे नहीं हो सकता था । मथुरबाबू की सम्मति से एक दूसरे ब्राह्मण की सहायता से हृदय वह काम करने लगा और मेरे मामा को कोई वायु रोग हो गया समझकर उसने उनके औषधोपचार की व्यवस्था की । हृदय का एक नामाङ्कित वैद्य से पूर्व परिचय था । उन्हीं की औषधि श्रीरामकृष्ण को देते हुए बहुत दिन बीत गये, पर कोई लाभ नहीं हुआ । तब उन्होंने श्रीरामकृष्ण के वायुरोग से पीड़ित होने का समाचार उनके घर कामारपुकूर में भेज दिया ।

श्री जगदम्बा के दर्शन के लिये अत्यन्त व्याकुल होकर श्रीरामकृष्ण जिस दिन बेहोश नहीं पड़े रहते थे, उस दिन नित्य के समान पूजा अर्चा आदि वे करते थे । पूजा और ध्यान आदि करते समय उनके मन में क्या हुआ करता था

और उन्हें क्या अनुभव होता था इसका थोड़ा सा दिग्दर्शन वे हमारे पास कभी २ कर देते थे। वे कहते थे, " श्री जगदम्बा के नाटमन्दिर (सभामंडप) में जो भैरव की एक ध्यानस्थ मूर्ति है उसे देखकर ध्यान करते समय मैं मन से कहता था, 'ऐसा ही शान्त और स्तब्ध बैठकर तुझे जगदम्बा का चिन्तन करना चाहिये।' ध्यान करने के लिये बैठते ही मुझे स्पष्ट सुन पड़ता था कि शरीर की सब सन्धियां पैर से ऊपर तक खट २ आवाज़ करती हुई बन्द हो रही हैं। मानो भीतर से कोई ताला ही लगा रहा हो। जब तक मैं ध्यानस्थ रहता था तब तक शरीर को थोड़ा भी हिलाने का अथवा आसन बदलने का या बीच में ही ध्यान को छोड़कर दूसरे किसी काम को करने का बिल्कुल सामर्थ्य नहीं रहता था। पहले के समान खट २ आवाज़ होकर—इस समय सिर से पैर तक—सन्धियों के खुलने तक मानो कोई बलात् मुझे एक ही स्थिति में बैठाल रखता हो। ध्यान के आरम्भ में खद्योत पुञ्ज के समान ज्योतिर्बिन्दु के पुञ्ज दिखाई देते थे। कभी २ कुहरे के समान ज्योति से सब दिशायें व्याप्त हुई प्रतीत होती थीं, और कभी २ चांदी के समुद्र के समान चमकता हुआ ज्योतिःसमुद्र सब दिशाओं में फैला हुआ दिखाई देता था। आँखें मूंदने पर ऐसा दिखाई देता था और कई बार आँखें बिल्कुल खुली रहने पर भी ऐसा दिखता था। मैं देख रहा हूं वह क्या है यह समझ में नहीं आता था और ऐसा दर्शन होना भला है या बुरा यह भी नहीं समझता था। अतएव व्याकुलतापूर्वक माता से मैं प्रार्थना करता था कि " माता! मुझे यह क्या होता है सो नहीं जान पड़ता। तेरी प्रार्थना करने के लिये मुझे मन्त्र तन्त्र का भी ज्ञान नहीं है। क्या करने से तेरा दर्शन होगा वह तू ही बता। तेरे सिवाय मेरा दूसरा और कौन है?" अत्यन्त व्याकुल चित्त से मैं ऐसी प्रार्थना करता था और रोने लगता था।"

इस समय श्रीरामकृष्ण की पूजा और ध्यान आदि कृत्यों ने कुछ विलक्षण स्वरूप धारण कर लिया था। वह अद्भुत तन्मय भाव दूसरे को समझाकर बतलाना कठिन है। उस भाव में श्री जगदम्बा का आश्रय लेने के कारण उनमें बालकों का सा विश्वास, सरलता, शरणागतभाव और माधुर्य सदा दिखाई देता था। गम्भीरता या देशकालपात्रानुसार विधिनिषेध मानते हुए चलना

अथवा भावी बातों का विचार करके दोनों हाथों में लड्डू प्राप्त करने का व्यवहार आदि बातों का उनमें पूर्ण अभाव दिखाई देता था। उन्हें देखते ही ऐसा मालूम होता था कि मानो इच्छामयी जगदम्बा की इच्छा में ही अपनी क्षुद्र इच्छा और अहंकार को डुबाकर " माता! तेरे इस अनन्य शरणागत बालक को जो कुछ कहना हो या करना हो सो तू ही कह और कर।" इस प्रकार अन्तःकरण से कहते हुए वे जगदम्बा के हाथ के यन्त्र बनकर सभी काम कर रहे हों। परन्तु इस प्रकार अत्यन्त निरहंकार वृत्ति से व्यवहार करने के कारण दूसरे लोगों के विश्वास और कामों से उनके व्यवहार का विरोध होता था। इससे भिन्न २ लोग पहले पहल आपस में और आगे चलकर स्पष्ट रूप से नाना प्रकार की बातें कहने लगे। परन्तु ऐसी स्थिति हो गई या लोग ऐसा करने लगे तथापि सब व्यर्थ हुआ। जगदम्बा का यह अलौकिक बालक सर्वतोपरि उसकी इच्छा के अनुसार व्यवहार करते रहने के कारण संसार का कोलाहल उसके कानों में प्रवेश ही नहीं करता था। वे इस समय संसार में रहते हुए भी न रहने के समान थे। बाह्य जगत उन्हें स्वप्नवत् भासता था और उसे पूर्ववत् सत्य मानना उनके लिये किसी प्रकार सम्भव नहीं था। " सत्य " यदि कहीं कुछ उन्हें इस समय दिखता था तो वह केवल श्री जगदम्बा की चिन्मयी आनन्दघन मूर्ति ही थी।

इसके पहले पूजा ध्यान आदि के समय उन्हें कभी माता का एक हाथ ही दिखाई देता था और कभी एक पैर ही अथवा मुखकमल ही, पर अब तो पूजा के सिवाय अन्य समय में भी उन्हें जगदम्बा का पूर्ण दर्शन होता था। उन्हें दिखता था कि मानो वह हँसती है, बोलती है, " यह कर और वह न कर " आदि बताती है और अपने साथ चलती फिरती है। नैवेद्य लगाते समय उन्हें पहले ऐसा दिखता था कि " माता के नेत्रों से एक दिव्य ज्योति बाहर निकलकर नैवेद्य के सब पदार्थों को स्पर्श करती हुई उनका सारभाग खींचकर पुनः नेत्रों में प्रवेश कर रही है। " अब उन्हें ऐसा दिखता था कि नैवेद्य लगाने के पूर्व ही वही माता अपने शरीर की दिव्य प्रभा से सारे मन्दिर को प्रकाशित करती हुई प्रत्यक्ष भोजन करने को बैठी है। हृदय कहता था कि " एक दिन श्रीरामकृष्ण की पूजा हो रही थी। इतने में मैं भी एकाएक वहां गया और देखा कि वे श्री जगदम्बा के पादपद्मों पर बिल्वार्घ्य अर्पण करने के लिये तन्मय होकर खड़े हैं। इतने ही में

एकाएक ' ठहर ! ठहर ! पहिले मंत्र कहता हूं तब खाना ' ऐसा ज़ोर से बोलते हुए उन्होंने पूजा वहीं छोड़कर प्रथम नैवेद्य ही लगाया । "

पहिले पूजा, ध्यान आदि करते समय उन्हें अपने सामने की पाषाणमूर्ति में श्री जगदम्बा का प्रत्यक्ष आविर्भाव दिखाई देता था । अब देवालय में वे जाकर देखते थे तो उन्हें पाषाणमूर्ति ही नहीं दिखती थी । उसके स्थान में मानो जीवित, जागृत चिन्मयी माता अभयदान देती हुई सदा दिखाई देती थी । श्रीरामकृष्ण कहते थे कि नाक पर हाथ लगाकर देखने से मालूम होता था कि मानो सचमुच माता श्वासोच्छ्वास ले रही हैं । बिलकुल आँखें फाड़ २ कर देखने पर भी रात को देवी के शरीर की छाया दीपक के प्रकाश के कारण दिवाल पर पड़ती हुई कहीं भी नहीं दिखाई देती थी । अपने कमरे में बैठे २ सुनने में आता था कि माता पैरों में पैंजन पहिनकर एक बालिका के समान बड़े आनन्द से झुनझुन २ शब्द करती सीढ़ी पर से ऊपर जा रही हैं । यह सत्य है या नहीं यह देखने के लिये बाहर आने पर यथार्थ में यही बात दिखती थी कि माता अपने केश खुले छोड़कर छज्जे पर खड़ी हैं और बीच २ में कलकत्ते की ओर या कभी गंगा की ओर देखती हैं ।

हृदय कहता था, " श्रीरामकृष्ण जब मन्दिर में रहते थे तो उस समय का कहना ही क्या था ? पर अन्य समय भी इन दिनों काली मन्दिर में प्रवेश करते ही शरीर रोमांचित हो जाता था । अतः श्रीरामकृष्ण के पूजा करते समय क्या २ होता है यह सब देखने का अवसर मैं कभी नहीं गमाता था । कई बार मैं अचानक वहां जा पहुँचता था और जो वहां दिखाई पड़ता था उससे उस समय यद्यपि मन भक्ति और आश्चर्य में डूब जाता था, पर बाहर आते ही संशय उत्पन्न होता था । मुझे ऐसा लगता था कि ' मामा सचमुच पागल तो नहीं हो गये हैं ? अन्यथा पूजा में इस प्रकार भ्रष्टाचार वे कैसे करते ? रानी और मथुरबाबू को यदि इसका पता लगेगा तो वे मालूम नहीं क्या करेंगे ? ' यह विचार मन में आते ही भय उत्पन्न होता था । पर इधर देखो तो मामा में इस बात की छाया तक न थी और उन्हें यह बात बताई जाय तो वे सुनते ही न थे । इसके सिवाय उन्हें कुछ अधिक कहते भी नहीं बनता था । पता नहीं ऐसा क्यों होता था । पर

एक प्रकार का भय और सङ्कोच मन में पैदा होकर मानो मुँह को ही किसी ने दबा रखा है ऐसा मालूम होता था। तब तो मन में यही आता था कि उनकी यथासाध्य सेवा करते रहना ही हमारा एक मात्र कार्य है। पर तोभी मन में यह बात आये बिना नहीं रहती थी कि एकाध दिन कोई अनिष्ट न हो जाय।"

मन्दिर में एकाएक जाने से श्रीरामकृष्ण के जिन व्यवहारों से हृदय के मन में भक्ति और भय दोनों विकार हुआ करते थे तत्सम्बन्ध में वे हमसे कहते थे, "एक दिन ऐसा देखा कि जौ-बिल्वार्घ्य तैयार करके मामा ने पहिले उससे अपने ही मस्तक, वक्ष, सर्व अंग को-इतना ही नहीं वरन् पाद को भी-स्पर्श किया और तत्पश्चात् उसे श्री जगदम्बा के चरणों में चढ़ाया।

एक दिन यह देखने में आया कि किसी मतवाले के समान उनके नेत्र और छाती अति आरक्त हो गई थीं। उसी अवस्था में पूजा के आसन पर से उठ कर झूमते हुए ही सिंहासन पर चढ़ गये और जगदम्बा की ठुड्डी पकड़कर उसे हाथ से सुहलाने लगे; बीच में ही गाना गाने लगे, हँसने लगे और बड़बड़ाने लगे तथा माता का हाथ पकड़कर नाचने लगे।

एक दिन श्री जगदम्बा को नैवेद्य लगाते समय मामा उठकर खड़े हो गये और थाल में से एक कौर उठाकर वे जल्दी २ सिंहासन पर चढ़ गये और वह कौर माता के मुख में डालते हुए कहने लगे—"खाओ! माता! खाओ! अच्छी तरह खाओ!" थोड़ी देर बाद बोले, "क्या कहती है? मैं पहिले खाऊँ? तो फिर ले मैं ही खाता हूं।" यह कहकर उसमें से कुछ अंश आप स्वयं खाकर पुनः वह कौर माता के मुख में डालते हुए बोले, "मैंने तो खा लिया, अब तू खा भला।"

एक दिन नैवेद्य लगाते समय एक बिल्ली म्याऊँ म्याऊँ करती वहां आगई, तब मामा ने "खाओ माता, खाओ भला।" कहते हुए वह सारा नैवेद्य बिल्ली को ही खिला दिया।

एक दिन रात के समय जगदम्बा को पलंग पर सुलाकर मामा एकदम

"मुझे अपने पास सोने को कहती हो ? अच्छा तो फिर सो जाता हूं माता!" कहकर जगदम्बा के उस रुपहरी पलंग पर कुछ समय तक सोये रहे।

पूजा करते समय वे इतनी तन्मयता के साथ ध्यान करते रहते थे कि बहुत समय उन्हें बाह्य जगत की स्मृति बिल्कुल नहीं रहती थी। ऐसा कई बार होता था।

सवेरे उठकर जगदम्बा के हार के लिये मामा स्वयं ही बगीचे में जब फूल तोड़ते थे उस समय भी ऐसा दिखता था की वे किसी से बोल रहे हैं, हँस रहे हैं और वार्तालाप कर रहे हैं।

सारी रात मामा को निद्रा नाम को नहीं आती थी। किसी भी समय उठकर देखो तो मामा भावावस्था में किसी से बोल रहे हैं अथवा गा रहे हैं या पंचवटी के नीचे ध्यानस्थ बैठे हैं।"

हृदय कहता था कि श्रीरामकृष्ण के इस कार्य को देखकर मन में नाना प्रकार की शंकाएँ होती थीं। तोभी दूसरों से यह बात बताने की मुझे हिम्मत नहीं पड़ती थी। क्योंकि डर लगता था कि सम्भव है वह दूसरा मनुष्य और अन्य लोगों के पास उसकी चर्चा करे और ऐसा होते २ बाबू के कान तक भी यह बात पहुँच जाय तो कोई अनिष्ट परिणाम न हो जावे। पर नित्यप्रति यदि ऐसा होने लगा तो वह छिपकर भी कब तक रहेगी ? यह बात दूसरों की दृष्टि में आई और इसका समाचार खज़ाँची बाबू के पास भी पहुँच गया। वे स्वयं एक दिन आकर सब हालचाल देख गये पर उस समय श्रीरामकृष्ण को किसी देवता चढ़े हुए मनुष्य के समान उग्र रूप में और निर्भय और निःसंकोच व्यवहार करते देखकर उन्हें कुछ कहने की हिम्मत नहीं हुई। दफ्तर में लौट जाने के बाद उनकी मण्डली में इस पर विचार होने लगा और अन्त में यह निश्चय हुआ कि छोटे भट्टाचार्य* या तो पागल हो गये हैं या उन्हें किसी भूत ने घेर लिया है। अन्यथा

---

*श्रीरामकृष्ण को देवालय के नौकर चाकर लोग "छोटे भट्टाचार्य" कहते थे।

पूजा के समय इस प्रकार शास्त्र विरुद्ध आचरण कभी न करते। चाहे जैसा भी हो इतना तो स्पष्ट है कि जगदम्बा की पूजा, अर्चा, आदि कुछ नहीं होती; भट्टाचार्य ने सब भ्रष्टाचार मचा रखा है और यह बात बाबू के कान में डाल ही देनी चाहिये।

मथुरबाबू को यह बात मालूम हुई तब उन्होंने कहा, "मैं स्वयं आकर सब बातें देखूंगा, तब तक भट्टाचार्य जी को वैसी ही पूजा करने दी जाय।" यह ज़ाहिर होते ही हर एक कहने लगा कि "अब भट्टाचार्य की नौकरी निश्चय ही छूट जावेगी। अपनी पूजा में देवी कितने दिनों तक भ्रष्टाचार सहन करेगी।" एक दिन बिना किसी को बताये पूजा के समय मथुरबाबू आकर बहुत समय तक श्रीरामकृष्ण के कार्यों को ध्यानपूर्वक देखते रहे। भाव में तन्मय रहने के कारण श्रीरामकृष्ण का ध्यान उधर नहीं गया। पूजा के समय पूर्ण लक्ष्य जगदम्बा की ओर ही रहने के कारण मन्दिर में कौन आया कौन गया इस बात का ध्यान उन्हें कभी नहीं रहता था। मथुर की समझ में यह बात थोड़े ही समय में आ गई। तत्पश्चात् जगदम्बा के साथ श्रीरामकृष्ण का बालक के समान व्यवहार देखकर सब का कारण उनकी प्रेमाभक्ति ही है यह उन्हें जँच गया। उन्हें यह मालूम पड़ा कि "इस प्रकार के निष्कपट भक्ति-विश्वास से यदि जगदम्बा प्रसन्न न होगी तो फिर होगी किस उपाय से?" पूजा करते समय श्रीरामकृष्ण की आँखों से बहती हुई अश्रुधारा, उनका अदम्य उत्साह, उनकी भावतन्मयता, उनका अन्य सब विषयों के प्रति पूर्ण दुर्लक्ष्य आदि को देखकर मथुर का हृदय आनन्द और भक्ति से भर आया। उन्हें भास होने लगा कि मन्दिर में मानों सचमुच दिव्य प्रकाश भरा हुआ है। उनके मन में निश्चय भी हो गया कि भट्टाचार्य को अवश्य ही देवी का दर्शन हो चुका है। थोड़ी देर के बाद वे बड़े भक्तियुक्त अन्तःकरण से और अश्रुपूर्ण नयनों से श्री जगदम्बा को और उसके उस अपूर्व पुजारी को दूर से ही बारम्बार प्रणाम करने लगे और यह कहते हुए कि "आज इतने दिनों में देवी की यथार्थ प्रतिष्ठा हुई है; इतने दिनों में उसकी सच्ची पूजा होने लगी है।" मथुरबाबू किसी से कुछ न बोलकर अपने बाड़े में वापस आ गये। दूसरे दिन मन्दिर के प्रधान कर्मचारी को उनका हुकम

मिला कि "भट्टाचार्य महाशय जैसी चाहें वैसी पूजा करें। उनसे कोई कुछ भी छेड़छाड़ न करे।"

उपरोक्त वृत्तान्त से शास्त्रज्ञ पाठक समझ सकेंगे कि श्रीरामकृष्ण के मन में इस समय बड़ी भारी क्रान्ति हो रही थी। वैधी भक्ति की सीमा को लाँघकर इस समय वे अहैतुकी प्रेमाभक्ति के उच्च मार्ग से बड़ी शीघ्रता के साथ आगे बढ़ रहे थे। यह क्रान्ति इतनी स्वाभाविक और सहज रीति से हो रही थी कि दूसरों की बात तो जाने दीजिये स्वयं उनको ही इसका स्पष्ट ज्ञान नहीं था। उन्हें उसका स्वरूप इतना ही समझ में आया था कि श्री जगदम्बा के प्रति अपार प्रेम के अखण्ड और उद्दाम प्रवाह में मैं आ पड़ा हूँ और वह प्रवाह जिधर ले जावे उधर ही मुझे जाना चाहिये। इसी कारण बीच २ में उन्हें शंका होती थी कि "मुझे ऐसा क्यों होता है, मैं उचित मार्ग ही से तो जा रहा हूं न?" इसीलिये वे व्याकुलता से माता से कहते थे, "माता! मुझे यह क्या होता है मै नहीं समझता, मैं सीधे मार्ग से जा रहा हूं या नहीं यह भी मैं नहीं जानता, इसलिये मुझे जो करना उचित हो सो ही तू करा, जो सिखाना हो सो ही तू सिखा और सदा मेरा हाथ पकड़कर चला।" काम, कञ्चन, मान, यश सब प्रकार के ऐहिक भोग और ऐश्वर्य से मन को हटाकर अन्तःकरण के अत्यन्त भीतरी भाग से वे श्री जगदम्बा से उपरोक्त प्रार्थना किया करते थे। करुणामयी ने अपने असहाय बालक का आक्रोश सुना और उसका हाथ पकड़कर सब ओर से उसकी रक्षा करती हुई उसकी इच्छा पूर्ण की। उनके साधन-काल में उन्हें जिन २ वस्तुओं अथवा जिस प्रकार के मनुष्यों की आवश्यकता थी वह सब आप ही उनके पास उन्होंने भेज दिये और उन्हें शुद्ध ज्ञान और शुद्ध भक्ति के अत्युच्च शिखर पर स्वाभाविक सहज भाव से ले जाकर बिठा दिया।

अनन्याश्चिन्तयंतो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

॥ गीता, अ. ९, श्लो. २२ ॥

गीता में भगवान ने जो इस प्रकार की प्रतिज्ञा की है और जो आश्वासन

दिया है उसका अक्षरशः पालन श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में उनके इस समय के चरित्र को ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट दिखाई देता है और मन स्तब्ध और आश्चर्य-चकित हो जाता है। "ईश्वर की प्राप्ति के लिये सर्वस्व त्याग करने वाले साधक को आवश्यक वस्तुओं का अभाव कभी नहीं रहता" यह बात बड़े २ साधकों ने सदा बतलाई है, तथापि संशयग्रस्त मनुष्यों ने इस विधान की सत्यता यदि आधुनिक काल में प्रत्यक्ष न देखी होती तो इस विधान पर उनका विश्वास कभी न होता। अतः इस शास्त्रीय विधान की सत्यता संशयी और दुष्ट मन को दिखाने के लिये श्रीरामकृष्ण का हाथ पकड़कर साक्षात् श्री जगदम्बा ने उनसे यह लीला-भिनय कराया!

श्रीरामकृष्ण कहते थे कि ईश्वरप्रेम की प्रचण्ड तरंगें बिना किसी निमित्त जब मनुष्य के मन में उमड़ने लगती हैं, तब हज़ार प्रयत्न करने पर भी उन्हें पीछे नहीं हटा सकते। इतना ही नहीं, वरन् कई बार उनके प्रबल वेग को धारण करने में असमर्थ होकर यह स्थूल जड़ शरीर जर्जर हो जाता है। इस तरह कई साधक मृत्यु को भी प्राप्त हो जाते हैं। पूर्ण ज्ञान या पूर्ण भक्ति के प्रचण्ड वेग को सहन करने योग्य शरीर का रहना अत्यन्त आवश्यक है। आज तक केवल अवतारी पुरुषों के शरीर ही इस प्रचण्ड वेग को सर्वदा सहन करने में समर्थ हुए हैं। इसी कारण भक्तिशास्त्र में अवतारी पुरुषों को बारम्बार "शुद्ध-सत्वविग्रहवान्" कहा गया है। भक्तिशास्त्र कहता है कि रजोगुण और तमोगुण जिनमें लेश मात्र भी नहीं हैं ऐसे शुद्ध सत्वगुण के उपादानों से बने हुए शरीर लेकर वे इस संसार में आते है। इसी कारण सब प्रकार के आध्यात्मिक भाव वे सहन कर सकते हैं। इस तरह का शरीर धारण करने पर भी ईश्वरी भाव के प्रबल वेग से कई बार उनको, विशेषतः भक्तिमार्ग से जानेवाले पुरुषों को, अत्यन्त कष्ट होता हुआ दिखाई देता है। भाव के प्रबल वेग के कारण ईसा मसीह और श्री चैतन्य देव के शरीर की सन्धियां शिथिल हो गई थीं और उनके शरीर के प्रत्येक रोमकूप से पसीने के समान बूंद बूंद रक्त बाहर निकलता था, इस पर से भी यह बात स्पष्ट समझ में आती है। इस प्रकार के शारीरिक विकार यद्यपि उन्हें अत्यन्त कष्ट देते थे, तथापि उन्हीं की सहायता से उनके शरीर को पूर्वोक्त असाधारण मानसिक वेग धारण करने की शक्ति प्राप्त होती गई और आगे

चलकर जब उनके शरीर को मानसिक वेग धारण करने का अभ्यास हो गया तब ये सब विकार उनके शरीर में पहले के समान सदा दिखाई नहीं देते थे।

भाव-भक्ति के प्रवल वेग से श्रीरामकृष्ण के शरीर में इसी समय से अनेक अद्भुत विकार उत्पन्न हुए। साधना प्रारम्भ करने के थोड़े ही दिनों में उनके शरीर में विलक्षण दाह उत्पन्न हुआ और वह जैसे २ बढ़ता चला वैसे २ उन्हें उसके कारण बहुत कष्ट भोगना पड़ा। इस गात्रदाह का कारण स्वयं श्रीरामकृष्ण हमें इस प्रकार बतलाते थे कि सन्ध्या, पूजा आदि करते समय शास्त्रीय विधान के अनुसार अपने हृदय के पाप पुरुष को दग्ध कर सकते हैं। साधनों के प्रारम्भ करते ही गात्रदाह उत्पन्न हुआ तब मैं मन में कहने लगा, "अब यह और कहां का रोग आ गया?" धीरे २ गात्रदाह बढ़ता ही गया और बिल्कुल असह्य हो गया। अनेक प्रकार के तेल से सिर पर मालिश करके देखा पर कोई लाभ न हुआ। पश्चात् एक दिन पञ्चवटी के नीचे मैं बैठा था, तब ऐसा दिखा कि (अपने शरीर की ओर अंगुली दिखाकर) इसमें से एक लाल २ आँखों वाला भयंकर स्वरूप का काला स्याह पुरुष शराबी के समान झूमते हुए बाहर निकलकर मेरे सामने खड़ा हो गया और उसीके पीछे पीछे गेरुवा वस्त्र पहने हुए हाथ में त्रिशूल धारण किये हुए एक अत्यन्त सौम्याकृति वाला पुरुष भी बाहर आया और उस काले पुरुष से युद्ध करके उसने उसे मार डाला। इस दर्शन के बाद कुछ दिनों के लिये गात्रदाह कम पड़ गया। इस पाप पुरुष के दग्ध होने के पूर्व छः महिने तक लगातार गात्रदाह से असह्य कष्ट हुआ।"

श्रीरामकृष्ण के मुख से हमने यह सुना है कि पाप पुरुष के नष्ट होने पर कुछ ही दिनों में उनका गात्रदाह कम हो गया, पर थोड़े ही दिनों में वह पुनः शुरु हुआ। उस समय श्रीरामकृष्ण वैधी भक्ति की सीमा को उलंघन करके प्रेमा-भक्ति से जगदम्बा की सेवा में तन्मय हो रहे थे। क्रमशः यह गात्रदाह इतना बढ़ा कि पानी में भिगोया हुआ वस्त्र सिर पर लगातार तीन घंटे पानी टपकते हुए रखने से भी वह दाह कम नहीं होता था। आगे चलकर भैरवी ब्राम्हणी ने आकर इस दाह को कितने सहज उपाय से दूर कर दिया इसका वर्णन आगे आएगा। इसके बाद एक समय और भी उन्हें असह्य गात्रदाह हुआ। उस समय

श्रीरामकृष्ण मधुरभाव की साधनाएँ कर रहे थे। हृदय कहता था, "किसी की छाती पर जलती हुई अंगार फैला देने से उसे जिस प्रकार क्लेश और वेदना होती है उसी तरह श्रीरामकृष्ण को उस समय हुआ करती थी। उसके सबब वे लगातार छटपटाते रहते थे।" यह गात्रदाह बहुत दिनों तक बना रहा। कई दिनों के बाद श्री कनाईलाल घोषाल से उनका परिचय हुआ। ये सज्जन उच्च श्रेणी के शक्ति-उपासक थे। उनके कहने से श्रीरामकृष्ण देवी का इष्ट कवच धारण करने लगे और उसी से उनका गात्रदाह दूर हुआ। अस्तु-

श्रीरामकृष्ण की इस प्रकार की अद्भुत पूजा देखकर अपने घर लौटने पर मथुरबाबू ने सारा वृत्तान्त रासमणि से कह दिया। भक्तिमती रानी को यह बात सुनकर बड़ा आनन्द हुआ। श्रीरामकृष्ण के मुख से भक्तिरसपूर्ण भजन सुनकर उनके प्रति पहले ही से उसका आदरभाव था। इसके सिवाय श्री गोविन्द जी की प्रतिमा भंग हुई उस समय भी उनके भक्तिपूर्ण हृदय का थोड़ा बहुत परिचय उसे हुआ ही था। इस बात से उसे भी जँच गया कि श्रीरामकृष्ण के समान सरल, पवित्र और भक्तिवाले पुरुष पर श्रीजगदंबा की कृपा होना स्वाभाविक ही है। उसने भी इस प्रकार के अद्भुत पुजारी का सर्व कार्यकलाप स्वयं देखने के लिये एक दिन दक्षिणेश्वर जाने का निश्चय किया।

आज रानी रासमणि श्री जगदम्बा के देवालय में स्वयं आई थी। अतः नौकर चाकरों में बड़ी हड़बड़ी मच गई थी। सदा के कामचोर लोग भी आज अपना २ काम बहुत दिल लगाकर कर रहे थे। घाट पर जाकर गंगास्नान करके रानी देवालय में आई। श्री जगदम्बा की पूजा उसी समय समाप्त हुई थी। श्री जगदम्बा को प्रणाम करके रानी मूर्ति के समीप बैठ गई और छोटे भट्टाचार्य को भी वहीं खड़े देखकर रानी ने उनसे श्री जगदम्बा के एक दो पद गाने के लिये कहा। श्रीरामकृष्ण भी शीघ्र ही रानी के पास बैठकर अत्यन्त तन्मयता के साथ रामप्रसाद, कमलाकान्त आदि साधकों के भक्तिपूर्ण पद गाने लगे। कुछ पद गाने के बाद श्रीरामकृष्ण ने अपना गाना एकाएक बन्द कर दिया और बड़े क्रोध से "यहां भी संसार के विचार! यहां भी संसार के विचार!" कहते हुए

अकस्मात् रानी को दो तमाचे लगा दिये। अपने अपत्य को गलती करते देख पिता जिस तरह क्रुद्ध होकर उसकी ताड़ना करता है, उसी तरह का श्रीरामकृष्ण का का यह आचरण था।

इस विपरीत कार्य को देखकर आसपास खड़े हुए नौकर चाकरों में बड़ी हलचल मच गई। कोई २ एकदम श्रीरामकृष्ण को पकड़ने के लिये दौड़ पड़े। देवालय में यह गड़बड़ देखकर बाहर के नौकर लोग भी दौड़ते हुए भीतर आने लगे। "स्वयं रानी को इस पागल पीर ने तमाचे लगा दिये, तब तो निश्चय ही इसके सौ वर्ष पूरे हो चुके" आदि २ बकवाद शुरू हो गई। परन्तु इस गड़बड़ के मुख्य कारण—श्रीरामकृष्ण और रानी रासमणि दोनों ही बिल्कुल शान्त बैठे रहे। इस सारे कोलाहल की ओर श्रीरामकृष्ण का ध्यान बिल्कुल नहीं था। वे तो अपने ही विचार में मग्न थे। मेरे मन में जो विचार उत्पन्न हो रहे थे उनका पता श्रीरामकृष्ण को कैसे लग गया इस बात का आश्चर्य रानी अपने मन में कर रही थीं। नौकर चाकरों की धूमधाम और कोलाहल अधिक बढ़ जाने पर रानी का ध्यान उस ओर गया और वह समझ गई कि ये लोग निरपराध श्रीरामकृष्ण को मारने से पीछे नहीं हटेंगे। अतः उसने गम्भीर स्वर में सब को आज्ञा दी कि "भट्टाचार्य का कोई अपराध नहीं है। तुम लोग कोई उन्हें किसी प्रकार का कष्ट मत दो।" बाद में मथुरबाबू के कान में भी यह बात पहुँची, तब उन्होंने भी रानी का ही हुक्म कायम रखा। इस घटना से वहाँ किसी २ को बड़ा दुःख हुआ, पर उसका उपाय ही क्या था? "बड़ों के झगड़ों में पड़ने की पंचायत हम गरीब लोगों को क्यों चाहिये?" यह विचार कर बेचारे सभी लोग शान्त बैठ गये। अस्तु—

श्री जगदम्बा के चिन्तन में ही सदैव निमग्न रहने के समय से ही श्रीरामकृष्ण के मन में भक्ति और आनन्दोल्लास की मात्रा इतनी अधिक हो गई थी कि श्री जगदम्बा की पूजा-अर्चा आदि नित्य नैमित्तिक कार्य किसी प्रकार निपटाना भी उनके लिये असम्भव हो गया था। आध्यात्मिक अवस्था की उन्नति के साथ २ वैधी कर्म किस तरह आप से आप छूटने लगते हैं इस विषय में श्रीरामकृष्ण एक अत्यन्त समर्पक दृष्टान्त देते थे। वे कहते थे—" जब तक बहू गर्भवती नहीं होती

तब तक उसकी सास उसे चाहे जो खाने को और सब प्रकार के काम करने को कहती है, पर उसके गर्भवती होते ही इन बातों की छानबीन शुरू हो जाती है और जैसे २ अधिक समय बीतने लगता है वैसे २ सास उसे कम काम देने लगती है। और जब प्रसूति का दिन समीप आने लगता है, तब तो गर्भ को कुछ हानि न पहुँच जाय इस डर से उससे कुछ काम करने के लिये भी नहीं कहती। प्रसूति के बाद उस स्त्री के पास काम केवल इतना ही रह जाता है कि वह अपने शिशु की सेवाशुश्रूषा में ही लगी रहे।" श्रीरामकृष्ण का भी स्वयं अपने सम्बन्ध में श्री जगदम्बा की बाह्य पूजा-अर्चा के विषय में बिल्कुल यही हाल हुआ। उन्हें अब पूजा-अर्चा आदि के बारे में समय इत्यादि का ध्यान नहीं रहता था। सदैव जगदम्बा के ही चिन्तन में तन्मय होकर जिस समय उसकी जैसी सेवा करने की लहर उन्हें लग जाती थी, उस समय वैसी ही सेवा करते थे। किसी समय पूजा आदि न करके प्रथम नैवेद्य ही अर्पण करते थे; कभी ध्यानमग्न होकर अपने पृथक् अस्तित्व को ही भूल जाते थे और श्री जगदम्बा की पूजा सामग्री से अपनी ही पूजा किया करते थे। भीतर बाहर सर्वत्र श्री जगदम्बा का निरन्तर दर्शन होते रहने के कारण इस प्रकार का आचरण उनसे हो जाया करता था यह बात हमने उन्हीं के मुँह से सुनी है। वे कहते थे, "इस तन्मयता में लेश मात्र कमी होकर यदि श्री जगदम्बा का दर्शन क्षण भर भी न हो, तो मन इतना व्याकुल हो जाता था कि उस विरह की असह्य वेदना से मैं ज़मीन पर इतस्ततः लोटने लगता था और अपना मुँह ज़मीन पर घिसकर, आक्रोश करते हुए रोते २ आकाश पाताल एक कर डालता था। ज़मीन पर लोटने से और पृथ्वी पर मुँह को घिस डालने के कारण सारा शरीर खून से लाल हो जाता था पर उधर मेरा ध्यान ही नहीं रहता था। पानी में पड़ा हूं, कि कीचड़ में गिरा हूं, या आग में गिर गया हूं, इसकी सुधि ही नहीं रहती थी। ऐसी असह्य वेदना में कुछ समय बीत जाने पर पुनः श्री जगदम्बा का दर्शन होता था और पुनः मन में आनन्द का समुद्र उमड़ने लगता था!"

श्रीरामकृष्ण के प्रति मथुरबाबू के मन में अत्यन्त भक्ति और आदर बुद्धि थी, तथापि जब उन्होंने रानी को भी मार दिया तब तो मथुर के मन में भी

शंका होने लगी और उन्हें वायुरोग हो जाने का निश्चय होने लगा। मथुरबाबू के मन में ऐसा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। क्योंकि मालूम पड़ता है कि मथुरबाबू कुछ भी हो, विषयबुद्धिसम्पन्न ही तो थे। सम्भव था कि उन्हें श्रीरामकृष्ण की उच्च आध्यात्मिक अवस्था का परिचय ठीक २ न होने से ही उनके उन्माद होने का अनुमान हुआ हो। श्रीरामकृष्ण को उन्माद हो गया यह सोचते ही उन्होंने कलकत्ते के सुप्रसिद्ध वैद्य गंगाप्रसाद सेन से श्रीरामकृष्ण की परीक्षा कराकर उनसे उन्हें औषधि दिलाना शुरू कर दिया। इतना ही करके मथुरबाबू शान्त नहीं हुए। " अपने मन को ठीक २ सम्हालकर रखना चाहिये और उसे अधिक भड़कने न देकर ही यथाशक्ति साधन करते जाना चाहिये " इस प्रकार तर्क युक्ति की सहायता से भी श्रीरामकृष्ण को निश्चय कराने का प्रयत्न उन्होंने अपनी ओर से किया। इस तर्क युक्ति का निश्चय श्रीरामकृष्ण को कराते समय मथुरबाबू की किस प्रकार फजीहत होती थी, वह इसके पूर्व बताये हुए लाल और सफेद फूल के विषय पर से पाठक समझ सकते हैं।

देवी की नित्य नियमित पूजा-अर्चा श्रीरामकृष्ण के द्वारा होना असम्भव जानकर मथुरबाबू ने उस कार्य के लिये दूसरा प्रबन्ध कर दिया। श्रीरामकृष्ण के चचेरे भाई रामतारक लगभग इसी समय काम ढूंढ़ते दक्षिणेश्वर आये हुए थे। उन्हींको मथुरबाबू ने श्रीरामकृष्ण के आराम होने तक उनके कार्य पर नियुक्त कर दिया। यह बात सन् १८५८ की है।

रामतारक को श्रीरामकृष्ण हलधारी कहा करते थे। उनके सम्बन्ध में हमसे श्रीरामकृष्ण कई बातें बताया करते थे। हलधारी बड़े अच्छे पंडित और निष्ठावान् साधक थे। श्रीमद्भागवत, अध्यात्मरामायण आदि ग्रंथ उनको बड़े प्रिय थे और उनका वे नित्य पाठ करते थे। श्री जगदम्बा की अपेक्षा श्री विष्णु भगवान् पर ही उनकी अधिक भक्ति थी तथापि देवी के प्रति उनके मन में अनादर नहीं था, और इसी कारण उन्होंने देवी के पुजारी का कार्य स्वीकार किया। काम पर नियुक्त होने के पूर्व उन्होंने अपने लिये प्रसाद के बदले रोज़ सीधा मिलने का प्रबन्ध मथुरबाबू से कहकर करा लिया था। मथुरबाबू ने प्रथम तो ऐसा प्रबन्ध करने से इन्कार किया। वे बोले, " क्यों ? प्रसाद लेने में तुम्हें क्या हानि है ?

तुम्हारे भाई गंदाधर और भाँजे हृदय तो रोज़ देवी का प्रसाद ग्रहण करते हैं। वे तो कभी सूखा अन्न लेकर हाथ से नहीं पकाते। " हलधारी ने उत्तर दिया, " मेरे भाई की आध्यात्मिक अवस्था बहुत उच्च है, वे कुछ भी करें तो भी उन्हें दोष नहीं लग सकता। स्वयं मेरी अवस्था उतनी ऊँची नहीं है, अतः यदि मैं वैसा करूं तो मुझे निष्ठाभंग करने का दोष लगेगा। " मथुरबाबू इस उत्तर से संतुष्ट हो गये और उन्हें सूखा अन्न लेकर रसोई बनाने की अनुमति दे दी। उस समय से हलधारी पंचवटी के नीचे रसोई बनाकर भोजन किया करते थे।

हलधारी का देवी के प्रति अनादर नहीं था, तथापि देवी को पशुबलि देना उन्हें पसन्द नहीं था। विशेष पर्वों में देवी को पशुबलि देने की प्रथा दक्षिणेश्वर में प्रचलित थी। अतः उन पर्वों के दिन रोज़ के समान आनन्द और उल्लास से देवी की पूजा वे नहीं कर सकते थे। ऐसा कहते हैं कि लगभग एक माह तक देवी की पूजा करने बाद एक दिन वे सन्ध्या कर रहे थे कि अचानक उनके सामने श्री जगदम्बा उग्र रूप धारण करके खड़ी हो गई और बोली, " चला जा तू यहां से। तेरी पूजा मैं ग्रहण नहीं करूँगी; तू मन से मेरी पूजा नहीं करता और इस अपराध के कारण तेरा लड़का शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होगा। " इसके बाद थोड़े ही दिनों में अपने पुत्र के मरने का समाचार उन्हें विदित हुआ; तब उन्होंने यह सब वृत्तान्त श्रीरामकृष्ण को बता दिया और श्री जगदम्बा के पुजारी का कार्य छोड़ दिया। इस समय से हृदय देवी की पूजा करने लगा और हलधारी उसके स्थान में श्री राधा गोविन्द जी की पूजा करने लगे।

१८—प्रथम चार वर्ष की अन्य घटनाएँ।

(१८५५—५८)
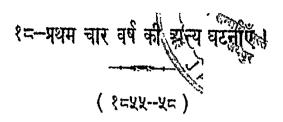
" मेरे जीवन में १२ वर्ष तक ईश्वरप्रेम का लगातार प्रचंड तूफान उमड़ा हुआ था ! माता को भिन्न २ रूपों में कैसे देखूँ—यही धुन सदा मुझ पर सवार थी ! "

" यहां (मेरी ओर से) सर्व प्रकार की साधनाएँ हो चुकीं ! ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग और हठयोग भी ! —आयुष्य बढ़ाने के लिये।— "

—श्रीरामकृष्ण।

श्रीरामकृष्ण के साधनकाल की बातें बताते समय, प्रथम स्वतः उन्होंने इस काल के बारे में जो बातें समय २ पर बताई हैं, उनका विचार करना चाहिये। तभी उस समय की वार्ता को ठीक ठीक बताना सरल होगा। स्वयं उनके मुँह से हमने यह सुना है कि कुल बारह वर्ष तक निरन्तर भिन्न २ साधनों मे वे निमग्न थे। दक्षिणेश्वर में श्री जगदम्बा की प्राणप्रतिष्ठा सन् १८५५ में ता. ३१ मई, बृहस्पतिवार के दिन हुई थी। उसी साल श्रीरामकृष्ण ने वहां पुजारी का पद ग्रहण किया और सन् १८५५ से सन् १८६६ तक, यही बारह वर्ष का समय उनका साधनकाल था ऐसा निश्चित होता है। यद्यपि स्थूल मान से यही समय निश्चित होता है तथापि इसके बाद भी तीर्थयात्रा में भिन्न २ तीर्थों में और वहां से लौटने पर कभी २ दक्षिणेश्वर में भी उनका साधना में मग्न रहना पाया जाता है।

स्थूल मान से इन बारह वर्षों के तीन भाग हो सकते हैं। पहला भाग सन् १८५५ से १८५८ तक के चार वर्षों का है। इस अवधि में जो मुख्य २ घटनाएँ हुईं उनका वर्णन हो चुका है। द्वितीय भाग सन् १८५९ से १८६२ तक के चार वर्षों का है। इसमें भैरवी ब्राह्मणी की संरक्षा में उन्होंने गोकल व्रत से आरम्भ करके मुख्य २ चौंसठ तंत्रों में वर्णित साधनों का यथाविधि अनुष्ठान किया। तृतीय भाग सन् १८६३ से १८६६ तक के चार वर्षों का है। इस अवधि में रामायत पंथ के जटाधारी नामक साधु से उन्होंने राम मन्त्र की दीक्षा ली और उसकी रामलाला की मूर्ति प्राप्त की। वैष्णव तन्त्रोक्त सखीभाव का लाभ उठाने के लिये उन्होंने ६ मास स्त्रीवेष में ही रहकर सखीभाव का साधन किया। श्रीमत् परमहंस तोतापुरी से संन्यास-दीक्षा लेकर उन्होंने वेदान्तोक्त निर्विकल्प समाधि का लाभ उठाया और अन्त में श्री गोविन्दराय से इस्लाम धर्म का उपदेश लेकर उस धर्म में बताये हुए साधन किये। इसके सिवाय इन बारह वर्षों की अवधि में ही उन्होंने वैष्णवतन्त्रोक्त सख्यभाव का साधन किया और कर्ताभजा, नवरसिक आदि वैष्णव मतों के अन्तर्गत पन्थों की भी जानकारी प्राप्त की।

प्रथम चार वर्षों की अवधि में उन्हें दूसरों से आध्यात्मिक विषय में यदि कोई सहायता प्राप्त हुई थी तो वह केवल श्रीयुत केनाराम भट्ट से ली हुई शक्ति मन्त्र की दीक्षा ही है। ईश्वरप्राप्ति के विषय में उनके अन्तःकरण में अत्यन्त व्याकुलता उत्पन्न हो गई थी और उसी की सहायता से उन्होंने ईश्वरदर्शन का लाभ उठाया। यह व्याकुलता उत्तरोत्तर अधिकाधिक वृद्धिगत होकर उससे उनके शरीर और मन का रूप इतना बदल गया कि उसकी उन्हें कल्पना तक न थी। उससे उनमें नये २ भाव उत्पन्न हुए। इसके सिवाय इसी व्याकुलता से ही उनके मन में अपने उपास्य देव के प्रति अत्यन्त प्रेम उत्पन्न हुआ और वैधी भक्ति के सर्व बाह्यनियमों का उल्लंघन करके वे प्रेमाभक्ति के अधिकारी बन गये जिससे उन्हें शीघ्र ही श्री जगदम्बा के दिव्य दर्शन की प्राप्ति हुई।

इस पर कोई सहज ही यह कहेगा कि "तब बाकी क्या बचा था? श्रीरामकृष्ण को यदि इस समय ईश्वर का दर्शन हो गया था तो फिर अब इसके

बाद साधन करने के लिये उन्हें कोई कारण ही शेष नहीं था।" इसका उत्तर यह है कि "एक दृष्टि से देखने में साधन की कोई आवश्यकता नहीं थी तथापि दूसरी दृष्टि से साधन की आवश्यकता थी ही। श्रीरामकृष्ण कहते थे—"वृक्ष, लता आदि का साधारण नियम यह है कि उनमें पहले फूल फिर फल निकलते हैं, परन्तु उनमें से कुछ ऐसे भी होते हैं जिनमें प्रथम फल तत्पश्चात् पुष्प निकलते हैं।" साधनों के विषय में श्रीरामकृष्ण के मन का विकास बिल्कुल उसी तरह का हुआ। इसी कारण उन्हें एक दृष्टि से इसके बाद साधन करने की आवश्यकता नहीं थी, यह सच है। परन्तु साधन-काल के प्रथम भाग में यद्यपि उन्हें भिन्न २ दर्शन प्राप्त हुए थे तथापि जब तक उन्होंने शास्त्रों में वर्णित साधकों के शास्त्रीय-साधन-पद्धति द्वारा उत्पन्न अनुभवों के साथ अपने स्वतः के अनुभवों का मिलान करके नहीं देख लिया, तथा जब तक अपने अनुभव की सचाई और झुठाई का निश्चय नहीं कर लिया तथा इस प्रकार के अनुभवों की चरम सीमा निर्धारित न हो गई तब तक उनका मन सदा शंकायुक्त ही बना रहता था। श्रीरामकृष्ण कहते थे-"श्री जगदम्बा के भिन्न २ रूप के दर्शन मुझे नित्यप्रति हुआ करते थे, पर ये दर्शन सत्य हैं या कि केवल मन के भ्रममात्र हैं वह संशय मुझे सदा हुआ करता था। इसी कारण मैं कहा करता था कि यदि अमुक बातें हो जावेंगी तो मैं इन दर्शनों को सत्य मानूंगा और सदा वही बातें हो जाया करती थीं।" ऐसी अवस्था रहने के कारण ईश्वरदर्शन के उपरान्त भी उन्हें साधन करना ज़रूरी हो गया। अतएव श्री जगदम्बा की कृपा से उन्होंने केवल अन्तःकरण की व्याकुलता से जो दर्शन और अनुभव प्राप्त किया था उन्हीं को पुनः एक बार शास्त्रोक्त मार्ग से और शास्त्रोक्त प्रणाली से साध करके प्राप्त कर लेना उनके लिये आवश्यक हो गया था। शास्त्रों का कथन है कि "गुरुमुख से सुने हुए अनुभव और शास्त्रों में वर्णित पूर्व कालीन साधकों के अनुभव-दोनों का तथा अपने को प्राप्त होने वाले दिव्य दर्शन और अपने अलौकिक अनुभवों का मिलान करके जब तक साधक उन सब की एकवाक्यता स्वयं प्रत्यक्ष नहीं देख लेता, तब तक वह सर्वथा संशय रहित नहीं हो सकता। इन तीनों अनुभवों—शास्त्रोक्त अनुभव, अन्यसाधकों के अनुभव और स्वानुभव—की एकवाक्यता जहां उसने एक बार देख ली तो फिर उसके सब संशय दूर हो जाते हैं और वह पूर्ण शान्ति का अधिकारी बन जाता है।"

उपरोक्त कारणों के सिवाय और भी एक गूढ़ कारण था जिसके सबब से श्रीरामकृष्ण ने ईश्वरदर्शन के उपरान्त भी पुनः साधनाएँ कीं। केवल अपने ही लिये शान्ति प्राप्त करना उनके साधनों का उद्देश नहीं था। श्री जगन्माता ने उन्हें संसार के कल्याण के लिये पृथ्वीतल पर भेजा था। अतः यथार्थ आचार्यपद पर आरूढ़ होने के लिये उन्हें सब प्रकार के धार्मिक मतों के अनुसार साधन करना आवश्यक था। उन धर्ममतों के अन्तिम ध्येय का प्रत्यक्ष अनुभव करके देखना भी आवश्यक था। इसीलिये उन्हें सब धर्मों और सभी पंथों के साधन करने का इतना महत्प्रयास करना पड़ा। इतना ही नहीं वरन् यह भी प्रतीत होता है कि उनके निरक्षर होने पर भी यथार्थ ईश्वरानुरागी मनुष्य के हृदय में शास्त्र वर्णित स्वयं उदित सभी अवस्थाओं का प्रत्यक्ष प्रदर्शन कराने के लिये तथा साथ ही साथ वेद, पुराण, बाइबिल, कुरान आदि सब धर्म-ग्रंथों की सत्यता को भी वर्तमान युग में पुनः स्थापित करने के लिये श्री जगदम्बा ने श्री-रामकृष्ण के द्वारा सभी साधनाएँ कराई होंगी। इसी कारण स्वयं शान्तिलाभ कर लेने के पश्चात् भी श्रीरामकृष्ण को साधनाएँ करनी पड़ीं। प्रत्येक धर्म के सिद्ध पुरुष को उचित समय पर श्रीरामकृष्ण के पास लाकर उनके द्वारा उनके धर्मों के तत्व और ध्येय की जानकारी उन्हें (श्रीरामकृष्ण को) प्राप्त करा देने और उन सभी धर्मों में श्रीरामकृष्ण को सिद्धि प्राप्त कराने में भी श्री जगन्माता का यही उद्देश रहा होगा। ज्यों २ उनके अद्भुत और अलौकिक चरित्र का मनन और चिन्तन किया जावे त्यों २ यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई देती है।

पहले ही कह चुके हैं कि प्रथम चार वर्षों में उन्हें अपने ही मन की तीव्र व्याकुलता से ईश्वरदर्शन के मार्ग में सहायता मिली। शास्त्रनिर्दिष्ट पंथ कौनसा है जिससे चलने पर ईश्वर का दर्शन होगा यह बताने वाला उन्हें उस समय कोई भी नहीं मिला था। अतः आन्तरिक अत्यन्त छटपटी ही उनके लिये उस समय मार्गप्रदर्शक बनी। केवल उसी छटपटी के आधार से उन्हें श्री जगदम्बा का दर्शन प्राप्त हुआ। इससे स्पष्ट है कि किसी की भी और किसी प्रकार की भी बाहरी सहायता न हो, तो भी साधक केवल आन्तरिक व्याकुलता के बल पर ईश्वरदर्शन का लाभ उठा सकता है। परन्तु केवल आन्तरिक

व्याकुलता की सहायता से ईश्वरप्राप्ति करना हो तो वह व्याकुलता कितनी प्रबल होनी चाहिये, इसे हम अनेक बार भूल जाया करते हैं। श्रीरामकृष्ण के उस समय के चरित्र को देखकर उस व्याकुलता की प्रबलता कितनी चाहिये सो स्पष्ट निश्चित हो जाती है। उस समय ईश्वरदर्शन के लिये अद्भुत व्याकुलता होने के कारण उनके आहार, निद्रा, लज्जा, भय आदि शारीरिक और मानसिक दृढ़ संस्कार न मालूम कहाँ भाग गये थे, उनका नाम तक नहीं था। शरीर के स्वास्थ्य की बात तो जाने दीजिये पर स्वयं अपने प्राणों की रक्षा की ओर भी उनका तनिक भी ध्यान नहीं था। श्रीरामकृष्ण कहते थे--"उस समय शरीर के संस्कारों की ओर कुछ भी ध्यान न रहने के कारण सिर के केश बहुत बढ़ गये थे, और धूलि, मिट्टी आदि लग जाने से आप ही आप उनकी जटा बन गई थी। ध्यान के लिये बैठे रहते समय मन की एकाग्रता के कारण शरीर किसी जड़ पदार्थ के समान स्थिर बन जाता था, यहां तक की पक्षी भी निर्भय होकर सिर पर बैठ जाते थे और अपनी चोंच से सिर की धूल में खाद्य पदार्थ ढूंढा करते थे। ईश्वर के विरह में अधीर होकर मैं कभी २ अपना मस्तक ज़मीन पर इतना घिस डालता था कि चमड़ा छिलकर (रक्तमय) लोहू लोहान हो जाता था। इस प्रकार ध्यान, भजन, प्रार्थना और आत्मनिवेदन में दिन के उदय और अस्त तक का भी ध्यान नहीं रहता था। परन्तु जब संध्या समय द्वादश शिवमन्दिर, श्री गोविन्द जी के मन्दिर और श्री जगदम्बा के मन्दिर में आरती शुरू होती थी और शंख, घंटा, झाँझ की एक साथ आवाज़ होती थी, तब मेरी वेदना का पार नहीं रहता था। ऐसा लगता था कि "हाय! हाय! और भी एक दिन व्यर्थ गया और श्री जगदम्बा का दर्शन आज भी नहीं हुआ!" इस विचार से प्राण इतना व्याकुल हो उठता था कि शान्त रहते नहीं बनता था। उस व्याकुलता के आवेश में मैं ज़मीन पर गिर पड़ता था और जोर २ से चिल्लाकर रोता था 'माता आज भी तूने दर्शन नहीं दिया' ऐसा कहकर इतना रोता पीटता था कि चारों ओर से लोग दौड़ पड़ते थे और मेरी वह अवस्था देखकर कहते थे कि 'अरे! बेचारे को पेट के शूल की पीड़ा से कितना कष्ट हो रहा है!' हमारे श्रीरामकृष्ण के चरणों के आश्रय में रहना आरम्भ करने पर ईश्वर के दर्शन के लिये मन में कितनी तीव्र व्याकुलता होनी चाहिये इस सम्बन्ध में हमें उपदेश देते हुए वे

स्वयं अपने साधनकाल की उपरोक्त बातें बताते और कहा करते थे कि "स्त्री पुत्र आदि की मृत्यु होने पर या द्रव्य के लिये, लोग आँखों से घड़ों पानी बहाते हैं, पर ईश्वर का दर्शन हमें नहीं हुआ कहकर क्या एक चुल्लू भर भी पानी कभी किसी की आँखों से निकला है ? उलटा कहते हैं–'क्या करें भाई ? इतनी एकनिष्ठा से भगवत्सेवा की पर फिर भी उन्होंने दर्शन नहीं दिया !' ईश्वर के दर्शन के लिये उसी व्याकुलता से एक बार भी आँखों से आंसू निकालो और देखो वह कैसे दर्शन नहीं देता।" उनके ये शब्द हमारे हृदय में भिद जाते थे और हमें मालूम पड़ता था कि स्वयं अपने साधनकाल में उन्होंने इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है इसी कारण वे निःशंक होकर अधिकारपूर्वक तथा दृढ़ता के साथ बोल सकते हैं।

साधनकाल के प्रथम विभाग में केवल श्री जगदम्बा का दर्शन प्राप्त करके ही श्रीरामकृष्ण शान्त नहीं हुए। श्रीजगदम्बा के दर्शन होने के बाद अपने कुल-देवता के दर्शन पाने की ओर उनके मन की सहज ही प्रवृत्ति हुई। महावीर हनुमान की सी भक्ति हो तभी श्री रामचन्द्र का दर्शन होगा, ऐसा सोचकर दास्यभक्ति में पूर्णता प्राप्त करने के लिये अपने को महावीर मानकर उन्होंने कुछ दिनों तक साधना की। श्रीरामकृष्ण कहते थे—"उन दिनों निरन्तर हनुमान का ही चिन्तन करते २ मैं इतना तन्मय हो जाता था कि अपने पृथक् अस्तित्व और व्यक्तित्व को भी कम से कम कुछ समय तक पूरी तरह भूल जाता था। उन दिनों आहार विहारादि सब कार्य हनुमान के समान ही होते थे। मैं जान बूझकर वैसा करता था सो बात नहीं है। आप ही आप वैसा हो जाता था। धोती को पूँछ के आकार की बनाकर उसे कमर में लपेट लेता था और कूदते हुए चलता था; फल मूल छोड़कर और कुछ नहीं खाता था। खाते समय इनके छिलके निकालने की प्रवृत्ति भी नहीं होती थी। दिन का बहुत सा भाग पेड़ पर बैठकर ही बिताता था और "रघुवीर ! रघुवीर !" की पुकार गम्भीर स्वर से किया करता था। उन दिनों आँखें भी वानर की आँखों के समान सदा चंचल रहा करती थीं और अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि पीठ की रीढ़ का अन्तिम भाग लगभग एक इंच भर बढ़ गया था !" इस विचित्र बात को सुनकर हमने पूछा, "क्या आप के

शरीर का यह भाग अब तक वैसा ही है ?" उन्होंने सरलता से उत्तर दिया, "नहीं तो; महावीर का भाव मन से दूर होते ही वह चढ़ा हुआ भाग भी धीरे २ कम होने लगा और अन्त में पूर्ववत् हो गया!"

दास्यभाव के साधन के समय श्रीरामकृष्ण को एक अद्भुत दर्शन प्राप्त हुआ। वे कहते थे, "उन दिनों एक दिन मैं योंही पंचवटी के नीचे बैठा था। उस समय मैं कोई विशेष ध्यान या चिन्तन करता था सो बात नहीं है; सहज ही बैठा हुआ था। इतने में वहाँ एक अनुपम ज्योतिर्मयी स्त्रीमूर्ति प्रगट हुई और उसके दिव्य तेज से वह स्थान प्रकाशित हो गया। उस समय केवल वह स्त्रीमूर्ति ही दिखती थी, इतना ही नहीं, वरन् वहां के वृक्ष, झाड़ियां, गंगा की धारा आदि सभी चीज़ें भी दिख रही थीं। मैंने यह देखा कि वह स्त्री कोई मानवी ही होगी, क्योंकि त्रिनयन आदि दैवी लक्षण उसमें नहीं थे। परन्तु प्रेम, दुःख, करुणा, सहिष्णुता आदि विकारों को स्पष्ट दिखाने वाला उसके समान तेजस्वी और गम्भीर मुखमण्डल मैंने कहीं नहीं देखा। वह मूर्ति मेरी ओर प्रसन्न दृष्टि से देखती हुई धीरे २ आगे बढ़ रही थी। मैं चकित होकर यह सोच रहा था कि 'अब यह कौन होगी?' इतने ही में कहीं से एक बड़ा भारी बन्दर "हूप! हूप!" करते आया और उसके चरणों के समीप बैठ गया। त्योंही मेरे मन में एका एक यह आया कि 'अरे यह तो सीता है: जन्मदुःखिनी, जनकराजनंदिनी, राममयजीविता सीता है!' मन में ऐसा निश्चय होते ही आगे बढ़कर उसके चरणों में मैं लोटने वाला ही था कि इतने में, वहीं पर वह इस (अपनी ओर अंगुलि दिखाकर) शरीर में प्रविष्ट हो गई और आनन्द और विस्मय के कारण मैं भी बाह्यज्ञानशून्य बन गया। ध्यान चिन्तन आदि कुछ भी न करते हुए इस प्रकार किसी का भी दर्शन उस समय तक नहीं हुआ था। सीता का ही दर्शन सर्व प्रथम हुआ। (किंचित् हँसकर) जन्मदुःखिनी सीता का ही इस प्रकार प्रथम दर्शन हुआ इसी कारण मैं समझता हूं, जन्म से लेकर मैं भी उसी के समान दुःख भोग रहा हूं!" अस्तु—

तपश्चर्या के योग्य पवित्र स्थान की आवश्यकता मालूम पड़ने पर श्रीरामकृष्ण ने एक नवीन पंचवटी स्थापित करने की इच्छा हृदय से प्रगट की। पंचवटी कैसी हो इसके विषय में स्कन्द पुराण में लिखा है कि—

अश्वत्थं विल्ववृक्षं च वटधात्रीं अशोककं ।
वटीपंचकमित्युक्तं स्थापयेत् पंच दिक्षु च ॥
अशोकं स्थापयेत्प्राचि बिल्वमुत्तर भागतः ।
वट पश्चिमभागे तु धात्रीं दक्षिणतः तथा ॥
अशोकं वन्हिदिक्स्थाप्यं तपस्यार्थं सुरेश्वरि ।
मध्ये वेदी चतुर्हस्तां सुंदरीं सुमनोहराम् ॥

हृदय कहता था—" लगभग उसी समय पंचवटी के आसपास की ऊँची नीची जमीन पीटकर समधरातल की गई थी जिससे वह आँवले का पेड़ जिसके नीचे बैठकर श्रीरामकृष्ण ध्यान जप आदि करते थे नष्टप्राय हो गया था। तब आजकल जहां साधु वैरागियों के ठहरने का स्थान है उसकी पश्चिम बाजू में श्रीरामकृष्ण ने स्वयं अपने हाथों से एक अश्वत्थ वृक्ष लगाया और हृदय से बेल, अशोक, वड़ और आँवले के पेड़ लगवाये और इन सब के चारों ओर तुलसी और अपराजिता के पौधे लगाये गये। थोड़े ही दिनों में ये सब पेड़, पौधे आदि अच्छे बढ़ गये और श्रीरामकृष्ण अपना बहुत सा समय इस पंचवटी में ध्यान धारणा आदि करने में बिताने लगे। तुलसी और अपराजिता के पौधे बहुत बढ़ गये पर उनके आसपास कोई घेरा न होने के कारण जानवर उन्हें कई बार नष्ट कर दिया करते थे। एक दिन श्रीरामकृष्ण पंचवटी में सचिन्त बैठे हुए गंगा की ओर देखकर सोच रहे थे कि अब उसके लिये क्या उपाय किया जाय, कि इतने में उन्हें गंगा की धारा में काँटों का एक बड़ा पुंज बहकर आता हुआ दिखाई दिया। उन्होंने तुरन्त भर्ताभारी नामक बाग के माली को पुकारा और उस पुंज को खींचकर किनारे पर लाने के लिये उससे कहा। श्रीरामकृष्ण पर भर्ताभारी की अत्यन्त निष्ठा थी और उनकी सेवा करने में उसे बड़ा आनन्द आता था। वह झट उस काँटे के पुंज को किनारे पर खींच लाया। श्रीरामकृष्ण देखते हैं तो उसमें घेरा बनाने लायक काँटे तो थे ही, परन्तु उस में रस्सी और कुल्हाड़ी आदि घेरा बनाने की सभी आवश्यक सामग्री भी थी। यह देखकर उन दोनों को ही बड़ा अचरज हुआ और इन पौधों की रक्षा के लिये ही श्री जगदम्बा ने यह सब सामान भेजा है ऐसा विश्वास हो गया। भर्ताभारी तुरन्त काम में लग गया और उसने शीघ्र ही घेरा बना डाला। तब श्रीरामकृष्ण निश्चिन्त

हुए। जानवरों से बचाने का प्रबन्ध हो जाने पर शीघ्र ही तुलसी और अपराजित के पौधे बढ़कर इतने घने हो गये कि पंचवटी में यदि कोई बैठा हो तो बाहर वाले मनुष्य को भीतर का कुछ नहीं दिखाई देता था। श्रीरामकृष्ण ने मथुरबाबू से भिन्न २ तीर्थों की पवित्र धूलि मंगाकर इस पंचवटी में बिछवा दी।

दक्षिणेश्वर में राणी रासमणि के विशाल काली मन्दिर बनवाने का समाचार बंगाल में सर्वत्र फैल जाने से गंगासागर, जगन्नाथ, आदि तीर्थों को जाते समय और वहां से लौटते हुए प्रायः सभी साधु, सन्यासी, वैरागी आदि वहीं कुछ दिनों तक ठहरने लगे। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि "इस समाज में सब प्रकार के, सर्व श्रेणी के साधक और सिद्ध पुरुष रहा करते थे। उन्हीं में से एक साधु से लगभग इसी समय उन्होंने हठयोग का साधन सीखा। हठयोग की सब क्रियाओं का स्वयं साधन कर चुकने पर, उनके फलाफल का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने पर भी वे हठयोग का साधन न करने का उपदेश हमें दिया करते थे। हममें से कोई २ हठयोग की कुछ बातें पूछा करते थे तब वे कहते थे, "सब साधन इस काल के लिये नहीं हैं। कलियुग में जीव अल्पायु और अन्नगतप्राण होता है। हठयोग का अभ्यास करके शरीर दृढ़ बना लेने के बाद फिर राजयोग का अभ्यास करने और ईश्वर की भक्ति करने के लिये इस युग में कहां समय है?" इसके सिवाय हठयोग का अभ्यास करने के लिये किसी अधिकारी गुरु के सहवास में बहुत सा समय निवास करके आहार, विहार, आदि सभी विषयों में उनके कहने के अनुसार विशेष कड़े नियमों के साथ चलना चाहिये। नियमों के पालन में थोड़ी भी भूल होने से साधक के शरीर में रोग उत्पन्न हो जाता है और साधक की मृत्यु होने की सम्भावना रहती है। इसीलिये इन सब के करने की कोई आवश्यकता नहीं है। एक बात और भी यह है कि प्राणायाम, कुंभक आदि के द्वारा वायु का निरोध करना पड़ता है यह सब मन के ही निरोध करने के लिये है? भक्ति-युक्त अन्तःकरण से यदि ईश्वर का ध्यान किया जावे तो मन और प्राण दोनों आप ही आप निरुद्ध हो जाते हैं। कलियुग में प्राणी अल्पायु और अल्प शक्तिवाले होते हैं, इस कारण भगवान् ने कृपा करके उनके लिये ईश्वरप्राप्ति

का मार्ग इतना सरल कर रखा है। स्त्री पुत्रादि के वियोग से प्राण जैसा व्याकुल हो उठता है और दसों दिशायें शून्य मालूम पड़ती हैं, वैसी ही व्याकुलता ईश्वर के लिये यदि किसी के मन में केवल २४ घन्टे तक टिक सके तो इस युग में उसे ईश्वर अवश्य ही दर्शन देंगे।"

पहिले ही बता चुके हैं कि हलधारी योग्य पंडित और निष्ठावान् वैष्णव था। राधा गोविन्द जी के पुजारी के पद पर नियुक्त होने के कुछ दिनों बाद वह तन्त्रोक्त वामाचार की साधना करने लगा। यह बात प्रगट होने पर लोग इस विषय में काना फूसी करने लगे परन्तु हलधारी को वाक्सिद्धि रहने के कारण उस के शाप के डर से कोई भी यह बात उसके सामने कहने की हिम्मत नहीं करता था। धीरे २ श्रीरामकृष्ण के कान में यह बात पहुँची। श्रीरामकृष्ण स्पष्टवक्ता थे। उनके पास भीतर एक और बाहर दूसरा यह कभी नहीं था। उन्होंने हलधारी से एक दिन कह दिया कि "तुम तन्त्रोक्त साधन करते हो, अतः लोग तुम पर हँसते हैं।" यह सुनकर हलधारी बिगड़ पड़ा और बोला, "तू मुझसे छोटा होकर मेरी ऐसी अवज्ञा करता है। तेरे मुँह से खून गिरेगा।" "मैंने तुम्हारी अवज्ञा करने के लिये नहीं कहा; केवल लोगों का कहना तुम्हें मालूम कराने के हेतु से मै बोला था" ऐसी बहुत सी बातें कहकर श्रीरामकृष्ण उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करने लगे परन्तु उस समय हलधारी ने उनकी एक भी नहीं सुनी।

इस घटना के बाद एक दिन रात को ८-९ बजे के लगभग श्रीरामकृष्ण के तालु से सचमुच खून निकलकर मुखमार्ग से लगातार बाहर गिरने लगा। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि "उस खून का रंग बिल्कुल काला था और खून इतना गाढ़ा था कि कुछ तो मुख से बाहर गिरा और कुछ दांतों के सिरे पर चिपककर बड़ की रेषा के समान बाहर झूलने लगा। मुँह में रूई या कपड़े की पोटली रखकर रक्त को दबाने का प्रयत्न किया, पर वह निष्फल हुआ; तब मुझे डर लगा। यह वार्ता सब ओर फैल जाने से लोग जमा हो गये। हलधारी उस समय मन्दिर में सायं पूजा आदि समाप्त कर रहा था। यह बात सुनकर उसे भी डर लगा और वह तुरन्त दौड़ा आया। उसे देखते ही मेरी आँखें डबडबा गई और मैं

बोला, " भैया ! शाप देकर तुमने मेरी कैसी दशा कर दी देखो भला ? " मेरी यह अवस्था देखकर वह भी रो पड़ा।

उस दिन काली मन्दिर में एक अच्छे साधु आये हुए थे। सब समाचार जानकर वे भी वहां आये और रक्त के रंग तथा रक्त निकलने के स्थान की परीक्षा करके बोले, " डरो मत। रक्त बाहर निकल गया यह बहुत अच्छा हुआ। मालूम होता है तुम योग साधना करते हो। इस साधना के प्रभाव से सुषुम्ना का मुख खुलकर शरीर का रक्त सिर की ओर चढ़ रहा था सो सिर में न पहुँचकर बीच ही में मुँह से बाहर निकल गया। यह सचमुच अच्छा हुआ। यह खून अगर मस्तक में चढ़ जाता, तो तुम्हें जड़समाधि प्राप्त हो जाती और वह समाधि कुछ भी करने से भंग न होती। प्रतीत होता है कि तुम्हारे द्वारा श्री जगदम्बा का कुछ विशेष कार्य होना है। इसीलिये उसने इस संकट से तुम्हें बचाया है। " जब उस साधु ने इस प्रकार समझाया तब मुझे धीरज आया। इस तरह हलधारी का शाप उलटा वर दान बनकर श्रीरामकृष्ण के लिये उपयोगी हुआ।

हलधारी के साथ श्रीरामकृष्ण का व्यवहार बड़ा मधुर था। पहिले कह आये हैं कि हलधारी श्रीरामकृष्ण के चचेरे भाई थे और उनसे उम्र में कुछ बड़े थे। सन् १८५८ के लगभग वे दक्षिणेश्वर आये और उस समय से सन् १८६५ तक श्री राधा गोविंद जी के पुजारी का कार्य करते रहे। अर्थात् श्रीरामकृष्ण के साधनकाल के लगभग ७॥ वर्ष तक वे वहां थे और उस समय की सारी घटनाएँ उनकी आँखों के सामने हुईं। श्रीरामकृष्ण के मुँह से हमने ऐसा सुना है कि वे श्रीयुत तोतापुरी के साथ अध्यात्मरामायण आदि वेदान्त शास्त्र के ग्रंथों पर चर्चा किया करते थे। तो भी ऐसा दिखता है कि उन्हें श्रीरामकृष्ण की उच्च आध्यात्मिक अवस्था का अच्छा परिचय प्राप्त नहीं हुआ था। हलधारी बड़े निष्ठावान् और आचार वाले थे, इसी कारण भावावेश में आकर श्रीरामकृष्ण का अपनी धोती, जनेऊ आदि फेंक देना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। उन्हें मालूम पड़ता था कि हमारा छोटा भाई स्वेच्छाचारी या पागल हो गया है। हृदय कहता था, " उन्होंने कभी २ मुझे कहा भी कि—' हृदू ! अरे ! यह इस तरह जनेऊ निकाल डालता है,

धोती खोल डालता है, यह तो बहुत बुरी बात है। अनेक जन्मों के पुण्य से कहीं ब्राह्मण का शरीर मिलता है पर इसे देखो तो सभी आचरण विपरीत हैं। इसे तो अपना ब्राह्मणत्व भी छोड़ने की इच्छा होती है। ऐसी इसकी कौनसी उच्च अवस्था है जिससे यह इस प्रकार स्वेच्छाचार करता है? हृदू! देख रे भाई! यह तेरा ही कुछ थोड़ा बहुत सुनेगा। तू ही इसे इस विषय में कुछ समझा दे और यह इस प्रकार की चालें न चले इसका तुझे ध्यान रखना चाहिये। इतना ही नहीं, यदि बने और उसे बाँधकर रखना कुछ उपयोगी सिद्ध हो तो वैसा उपाय भी तुझे करना चाहिये।"

पूजा के समय के उनके तन्मय भाव, उनकी प्रेमाश्रुधारा, भगवद्गुणश्रवण में उनका उल्लास आदि बातें देखकर हलधारी को बड़ा अचरज मालूम होता था और वे मन मे सोचते थे कि हमारे छोटे भाई की ऐसी अवस्था ईश्वरी भावावेश के कारण ही होनी चाहिये, क्योंकि अन्य किसी की ऐसी अवस्था नहीं होती। इसी प्रकार उन पर हृदय की भी ऐसी निष्ठा देख वे चकित होकर कहते थे, "हृदू! तू कुछ भी कह। तुझको उसके बारे में कुछ साक्षात्कार अवश्य हुआ है, अन्यथा तू उसकी इस प्रकार सेवा कभी नहीं करता।"

इस प्रकार हलधारी के मन में श्रीरामकृष्ण की उच्चावस्था के सम्बन्ध में सदा दुविधा रहा करती थी। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "जब मैं काली मन्दिर में पूजा करता था उस समय मेरा तन्मय भाव देख हलधारी मुग्ध होकर कई बार कहते थे—'रामकृष्ण! अब मैंने तुझे निश्चित रूप से पहिचान लिया।' यह सुनकर मैं कभी २ हँसी में कह देता था, 'देखिये! नहीं तो फिर और गोलमाल हो जायगा!" वे कहते थे, 'अब मैं तुझे नहीं भूल सकता; तुझे धोखा नहीं दे सकता; तुझमें निश्चय ही ईश्वरी आवेश है; अब मुझे तुम्हारा पूरा परिचय मिल गया।" यह सुनकर मैं कहता था, "चलो, देखा जावेगा।" तत्पश्चात् हलधारी मन्दिर की पूजा समाप्त करके एक चुटकी भर नस सूँघ लेते और जब अध्यात्मरामायण या भागवत या गीता पढ़ने बैठते, तब तो अपनी विद्वत्ता के अभिमान से मानों एक बिल्कुल ही भिन्न पुरुष बन जाते थे। उस समय मैं उनके पास जाता और कहता, "दादा! तुमने जो कुछ शास्त्र में पढ़ा है उन सभी अव-

स्थाओं का अनुभव मैंने स्वयं किया है और इन सब बातों को मैं समझता भी हूं।" यह सुनते ही वे बोल उठते थे, "वाह रे मूर्ख! तू क्या इन सब बातों को समझता है?" तब मैं स्वयं अपनी ओर अंगुली दिखाकर कहता था कि "सच कहता हूं; इस शरीर में जो एक व्यक्ति है वह इन सब बातों को मुझे समझाया करता है! तुमने अभी ही कहा था, कि तुझ में ईश्वरी आवेश है और वही ये सब बातें समझा देता है।" यह सुनकर वे और भी क्रुद्ध होते थे और कहते थे, "चल, चल, मूर्ख कहीं का! कलियुग में कल्कि के सिवाय ईश्वरी अवतार होने की बात शास्त्र में और कहां पर है? तुझे उन्माद हो गया है इसी कारण तेरी यह भ्रमात्मक कल्पना हो गई है।" तब मैं हँसकर बोलता, "पर तुम तो अभी ही कहते थे कि अब मैं धोखा नहीं खा सकता?" पर यह कौन सुने? ऐसी बातें एक बार नहीं, दो बार नहीं, अनेकों बार होती थीं। फिर एक दिन उन्होंने मुझे पंचवटी के वड़ की एक शाखा पर बैठकर लघुशंका करते हुए देखा। उस दिन से उनकी पक्की धारणा हो गई कि मुझे ब्रह्मराक्षस लग गया है।"

हलधारी के पुत्र की मृत्यु का उल्लेख ऊपर हो ही चुका है। उस दिन से उनकी यह भावना हो गई कि श्री काली तमोगुणमयी या तामसी हैं—एक दिन बोलते २ वे श्रीरामकृष्ण से कह भी गये कि "तामसी मूर्ति की उपासना करने से क्या कभी आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है? ऐसी देवी की तू इतनी आराधना क्यों करता है?" श्रीरामकृष्ण ने उनका कहना सुन लिया और उस समय कोई उत्तर नहीं दिया परन्तु उन्हें अपने इष्ट देवता की निन्दा सुनकर बहुत बुरा लगा। वे वैसे ही श्री काली मन्दिर में चले गये और रोते २ श्री जगदम्बा से बोले—"माता! हलधारी बड़े शास्त्रज्ञ पण्डित हैं; वे तुझे तमोगुणमयी कहते हैं; क्या तू सचमुच ही वैसी है?" तदनन्तर श्री जगदम्बा के मुख से इस विषय का यथार्थ तत्त्व समझते ही अत्यन्त उल्लास और उत्साह से वे हलधारी के पास दौड़ गये और एकदम उसके कँधे पर बैठकर उन्मत्त के समान उन से बार २ कहने लगे, "क्यों तुम माता को तामसी कहते हो? क्या माता तामसी है? मेरी माता तो सब कुछ है—त्रिगुणमयी और शुद्ध सत्त्वगुणमयी है।" श्रीरामकृष्ण उस समय भावाविष्ट थे। उनके बोलने से और स्पर्श से उस

समय हलधारी की आँखें खुल गईं। उस समय वे (हलधारी) आसन पर बैठे हुए पूजा कर रहे थे। श्रीरामकृष्ण की यह बात उन्हें जँच गई और इनमें (श्रीरामकृष्ण में) श्री जगदम्बा का आविर्भाव होना उन्हें पूर्ण निश्चय हो गया। अपने समीप रखी हुई पूजा की सामग्री में से चंदन, फूल लेकर उन्होंने बड़ी भक्ति के साथ उनके (श्रीरामकृष्ण के) चरणों में समर्पण किया। तत्पश्चात् उसी समय हृदय भी वहां आ गया और हलधारी से बोला—"मामा, आप कहा करते है कि रामकृष्ण को भूत लगा है? तब फिर आपने उनकी पूजा क्यों की?" हलधारी बोले, "क्या कहूँ हृदू! उसने काली मन्दिर से लौटकर मेरी कैसी अवस्था कर दी! अब तो मैं सब भूल गया। मुझे उसमें सचमुच साक्षात् ईश्वरी-आवेश दिखाई दिया! हृदू! जब २ मैं काली मन्दिर में जाता हूं तब २ वह मेरी इसी प्रकार विलक्षण अवस्था कर देता है। मुझे तो यह सब बड़ा चमत्कार मालूम पड़ता है। मैं इसे किसी प्रकार हल नहीं कर सकता।"

इस प्रकार हलधारी श्रीरामकृष्ण में ईश्वरी प्रकाश का अस्तित्व बारम्बार अनुभव करते हुए भी जब कभी नास की चुटकी लेकर शास्त्र विचार करने लगते तब अपने पाण्डित्य के अभिमान में भूलकर पुनः अपनी पुरानी धारणा पर लौट आते थे। इससे यह स्पष्ट दिखता है कि काम कंचनासक्ति नष्ट हुए बिना केवल बाह्य शौचाचार और शास्त्रज्ञान के द्वारा बहुत कुछ कार्य नहीं सधता और मनुष्य सत्यतत्त्व की धारणा नहीं कर सकता। एक दिन काली मन्दिर में भिखारियों का भोजन हुआ। श्रीरामकृष्ण ने इन सब दरिद्र भिखारी लोगों को नारायण मानकर उन लोगों का उच्छिष्ट उस समय भक्षण किया। यह देखकर हलधारी क्रुद्ध होकर श्रीरामकृष्ण से बोले, "मूर्ख! तू तो भ्रष्ट हो गया! तेरी लड़कियाँ होने पर उनका विवाह कैसे होगा सो मैं देखूंगा।" वेदान्तज्ञान का अभिमान रखने वाले हलधारी की यह बात सुन श्रीरामकृष्ण भी संतप्त होकर कहने लगे, "अरे दादा! वाह रे अरण्य पण्डित! तुम्ही तो कहते हो कि 'शास्त्र जगत को मिथ्या कहते हैं और सर्व भूतों में ब्रह्म दृष्टि रखनी चाहिये।' क्या तुम समझते हो कि मैं भी तुम्हारे समान 'जगत को मिथ्या' कहूंगा और लड़के बच्चे भी मुझे होते रहेंगे? धिक्कार है तुम्हारे इस शास्त्रज्ञान को!"

कभी २ हलधारी के पाण्डित्य में फँसकर बालस्वभाव वाले श्रीरामकृष्ण किंकर्तव्य विमूढ़ हो जाते थे और श्री जगदम्बा की सम्मति लेने के लिये उसके पास दौड़ जाया करते थे। एक दिन हलधारी उनसे बोले, "शास्त्र कहते हैं कि ईश्वर भावाभाव के परे हैं, तब तू भावावस्था में जो ईश्वर के रूप आदि देखता है, वे सब मिथ्या हैं।" यह सुनकर श्रीरामकृष्ण के मन में भ्रम हो गया। इससे उनको कुछ भी नहीं सूझने लगा। वे कहते थे—"तब मुझे मालूम होने लगा कि भावावेश में मुझे जो दर्शन हुए और जो बातें मैंने सुनीं वे सभी झूठ हैं? क्या माता ने मुझे ठग लिया?" इस विचार से मेरा मन अत्यन्त व्याकुल हो उठा और मैं रोते रोते कहने लगा—"माता! क्या किसी निरक्षर मूर्ख को इस प्रकार ठगती हो?" रोने का वेग उस समय कुछ भी करने से नहीं रुकता था। कुछ समय के बाद मेरे वहां बैठकर रोने से उस जगह से धुआँ निकलने लगा और उस धुएँ से आसपास की सब जगह व्याप्त हो गई। थोड़ी देर में उस धूम्र समूह में एक सुन्दर गौर वर्ण की मुखाकृति दिखाई देने लगी। वह मूर्ति कुछ समय तक मेरी ओर एकटक देखती रही, फिर गम्भीर स्वर से त्रिवार बोली, "अरे! तू भावमुखी रह।" इतना कह कुछ समय के उपरान्त वह मूर्ति उसी धुएँ में मिलकर अदृश्य हो गई। वह धुआँ भी क्षणभर में लोप गया। तब मुझे उस समय इन शब्दों को सुनकर बड़ी शान्ति प्राप्त हुई।"

श्रीरामकृष्ण के साधनकाल के जीवन पर जितना ही विचार किया जावे उतना ही स्पष्ट दिखता है कि यद्यपि काली मन्दिर में बहुतों की यह धारणा थी कि उन्हें उन्माद हो गया है, पर निश्चय ही यह उन्माद मस्तिष्क के विकार या किसी रोग के कारण उत्पन्न नहीं हुआ था। यह उन्माद नहीं था, दिव्योन्माद था। यह तो उनके ईश्वर दर्शन के लिये अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाली प्रचण्ड व्याकुलता थी। इसी व्याकुलता के प्रबल वेग से वे उस समय अपने आपको सम्हाल नहीं सकते थे तथा किसी उन्मत्त के समान स्वैर बर्ताव करते थे। ईश्वर दर्शन के लिये उनके हृदय में निरन्तर प्रचण्ड ज्वाला जला करती थी। इसी कारण वे साधारण लोगों से साधारण सांसारिक वार्तालाप नहीं करते थे। बस इसी-लिये सब लोग उन्हें उन्माद ग्रस्त कहा करते थे। हम सांसारिक लोगों की भी किसी मामूली बात के लिये ऐसी ही अवस्था हो जाती है। यदि ऐसी बातों के

लिये अपनी व्याकुलता बढ़ जावे और चिन्ता के कारण सहनशक्ति की मर्यादा के बाहर चली जावे, तो अपना भी वर्ताव बदल जाता है और मन में एक, और कार्य में दूसरा, रखने का सदा का स्वभाव भी बदल जाता है। इस पर यदि कोई कदाचित् यह कहे कि "सहनशक्ति की सीमा भी तो सब में एक सी नहीं होती। कोई थोड़े से ही सुख दुःख में बिल्कुल अशान्त हो उठता है तो कोई बड़े से बड़े सुख दुःख में भी सदा पर्वत के समान अचल रहता है। अतः श्रीरामकृष्ण की सहनशक्ति कितनी थी यह कैसे समझ पड़े? इसका उत्तर यही है कि उनके जीवन की कई बातों का विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें सहनशक्ति असाधारण थी। देखो—वे साधनकाल में पूरे बारह वर्ष तक आधा पेट खाने पर या उपवास करने पर और अनिद्रावस्था आदि विलक्षण स्थिति में भी एक समान स्थिर रह सकते थे—बारम्बार अतुल सम्पत्ति उनके चरणों के समीप आ जाने पर भी उन्होंने उसे "ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में महान् बाधक" समझकर पैर से ठुकरा दिया—इन सब बातों से उनके शरीर और मन में अत्यन्त बल और असाधारण शक्ति का होना स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है।

इसके सिवाय उस काल के उनके जीवन का विचार करने से मालूम होता है कि घोर विषयासक्त लोग ही उन्हें उन्माद ग्रस्त समझते थे। एक मथुरबाबू की बात छोड़ दें तो उनकी अवस्था की तर्कयुक्ति द्वारा परीक्षा करने वाला कोई अन्य मनुष्य उस समय दक्षिणेश्वर में नहीं था। श्रीयुत केनाराम भट्ट श्रीरामकृष्ण को मंत्रदीक्षा देकर कहीं अन्यत्र चले गये थे और लौटे ही नहीं। उनके बारे में हृदय से या और किसी दूसरे से कोई भी समाचार नहीं मिला। काली मंदिर के लोभी और अशिक्षित नौकर चाकरों के लिये श्रीरामकृष्ण की उच्च अवस्था का समझना असम्भव था। तब तो उस समय श्रीरामकृष्ण की उच्च अवस्था के सम्बन्ध में वहां आने वाले साधुसंतों के मत को ही ग्राह्य मानना होगा। हृदय तथा अन्य लोग और स्वयं श्रीरामकृष्ण के कहने के अनुसार तो यही दिखता है कि उन्माद कहना तो दूर रहा बरन् श्रीरामकृष्ण की अवस्था बहुत उच्च श्रेणी की थी। उन सभों का मत यही था।

इसके बाद की अवधि की घटनाओं पर विचार करने से दिखता है कि ईश्वर दर्शन की प्रबल व्याकुलता से जब वे बेहोश हो जाया करते थे, उस समय

शारीरिक कल्याण के लिये उन्हें जो भी उपाय बताया जाता था वे तुरन्त उसे करने लगते थे। फिर वे इस सम्बन्ध में अपना ही हठ नहीं रखते थे। यदि चार लोगों ने कह दिया कि इसे रोग हो गया है, वैद्य की सलाह लेनी चाहिये तो वे इस बात को मान लेते थे। किसी ने कह दिया कि इन्हें कामारपुकूर अपनी माता के पास ले जाना चाहिये वे उसे भी मान गये। किसी ने कहा विवाह करने से इनका उन्माद दूर होगा, तो इसे भी उन्होंने अस्वीकार नहीं किया। तब ऐसी स्थिति में उन्हें उन्माद हुआ था यह कैसे कह सकते हैं?

इसके सिवाय ऐसा दिखता है कि विषयी लोगों से और सांसारिक व्यवहार की बातें करने वालों से सदा दूर रहने का प्रयत्न करते रहने पर भी जहां कहीं बहुत से लोग एकत्रीत होकर ईश्वर-पूजा, कीर्तन, भजन आदि करते हों वहां वे अवश्य जाते थे। वराह नगर के दशमहाविद्या के स्थान, कालीघाट के श्री जगदम्बा के स्थान, पानीहाटी के महोत्सव आदि में वे बारम्बार जाते थे इससे उपरोक्त बात स्पष्ट होती है। इन स्थानों में भी भिन्न २ साधकों के साथ उनकी भेंट, मुलाकात और वार्तालाप हुआ करता था और इसके सम्बन्ध में जो कुछ थोड़ा बहुत हमें मालूम है उस पर से भी साधक शास्त्रज्ञ लोग उन्हें उच्च श्रेणी के पुरुष समझते थे ऐसा ही दिखता है। जब वे पानीहाटी महोत्सव में सन् १८५८ में गये हुए थे तब वहां सुप्रसिद्ध वैष्णवचरण ने उन्हें देखते ही उनके असामान्य कोटि के महापुरुष होने के लक्षणों को पहिचान लिया और श्री वैष्णवचरण ने वह दिन उन्हीं के सहवास में बिताया। उनके खाने पीने का सब प्रबन्ध भी स्वयं उन्होंने किया। इसके बाद तीन चार वर्षों में उनकी और श्रीरामकृष्ण की पुनः भेंट हुई और उन दोनों में बड़ा स्नेह हो गया। इसका वृत्तान्त आगे है।

इन्हीं प्रथम चार वर्षों की अवधि में कामकंचनासक्ति को पूर्ण रीति से नष्ट करने के लिये श्रीरामकृष्ण ने बहुत से अद्भुत साधन किये और उन्होंने इन सब शत्रुओं पर पूर्ण विजय भी प्राप्त की। ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में कंचनासक्ति को बहुत बड़ा विघ्न जानकर उन्होंने उस आसक्ति को दूर करने के लिये नीचे बताया हुआ साधन किया:—

एक हाथ में मिट्टी और दूसरे हाथ में कुछ सिक्के लेकर वे गंगा जी के किनारे बैठ जाते थे और कहते थे—"अरे मन! इसको पैसा कहते हैं; इससे अनेक प्रकार के सांसारिक सुख प्राप्त हो सकते हैं। गाड़ी घोड़े, दास दासी, कपड़े लत्ते; रंग २ के खाने पीने के पदार्थ और सब प्रकार के ऐश आराम के सामान इस पैसे से मिल सकते हैं; पर संसार के आधे से अधिक झगड़े भी इसी पैसे के कारण ही हुआ करते हैं। इस पैसे को प्राप्त करने के लिये कष्ट उठाना पड़ता है, इसकी रक्षा करने के लिये भी श्रम करना पड़ता है। इसके नाश होने से दुःख होता है तथा इसकि पास रहने से अभिमान उत्पन्न होता है। इससे कुछ परोपकार तो हो सकता है, पर इसके द्वारा ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सक्ती। अरे मन! जिस वस्तु में इतने दोष हैं और जिससे ईश्वर लाभ होना तो दूर रहा वरन् ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में भी विघ्न उत्पन्न होता है, ऐसी वस्तु रखने से क्या लाभ? उसका मूल्य और इस मिट्टी का मूल्य एक समान है; अब इस पैसे को ही मिट्टी क्यों न कहा जावे?" ऐसा कहते हुए वे अपने हाथ की उन चीज़ों की अदल बदल किया करते थे और "पैसा मिट्टी, मिट्टी पैसा" इस प्रकार लगातार कहते हुए ईश्वर-लाभ की दृष्टि से दोनों का मूल्य एक समान मानकर, अपने मन में पूर्ण निश्चय करके, मिट्टी और पैसे को मिलाकर सब गंगा जी में फेंक देते थे।

इस अद्भुत साधना के पश्चात् कंचनासक्ति पर उन्हें काया, वचन और मन से ऐसी पूर्ण विजय प्राप्त हुई जैसी आज तक किसी दूसरे को नहीं हुई होगी। पैसे की बात भी उन्हें सहन नहीं होती थी। मथुरबाबू, लक्ष्मीनारायण मारवाड़ी आदि ने उनके चरणों में अपार सम्पत्ति लाकर समर्पण कर दी पर उसकी ओर उन्होंने देखा तक नहीं। इतना ही नहीं वरन् एक बार मथुरबाबू ने बहुत बड़ी रक़म लेने के लिये उनसे आग्रह किया तब "मुझे विषयासक्त करना चाहता है?" कहते हुए उसे मारने को दौड़े! केवल मन से ही कंचनासक्ति का विचार दूर कर दिया था सो नहीं, शरीर से भी उन्होंने उसका पूर्ण त्याग कर दिया था। जैसे पैसे का विचार उनके मन को सहन नहीं होता था उसी प्रकार पैसे का स्पर्श भी उनके शरीर को सहन नहीं होता था। स्पर्श हो जाने पर उनके हाथ पैर वायुरोग से पीड़ित होने के समान टेढ़े हो जाते थे और उनका

श्वासोच्छ्वास बन्द हो जाता था। एक दिन स्वामी विवेकानन्द आदि सन्यासी भक्तों को त्याग की महिमा समझाते हुए वे बोले, " त्याग काया, वचन और मन से होना चाहिये। " स्वामी विवेकानन्द बड़े खोजी स्वभाव के होने के कारण उन्होंने अपने गुरु जी की परीक्षा करने की ठानी। थोड़ी देर बाद अपने बिस्तर पर से उठकर श्रीरामकृष्ण बाहर गये। स्वामी जी ने झट उनके बिस्तर के नीचे एक रुपया डाल दिया और इसका परिणाम बड़ी उत्सुकता से देखने के लिये बैठ गये। ज्योंही श्रीरामकृष्ण लौटकर अपने बिस्तर पर बैठे त्योंही शरीर में कुछ टोंचता हुआ सा जान पड़ा और वे चिल्लाकर बिस्तर से अलग खड़े हो गये। उनके सर्वांग में पीड़ा होने लगी थी। विवेकानन्द के सिवाय असली बात किसी को मालूम न होने के कारण सब लोग उनके बिस्तर में सूई, अल्पिन, काँटा, बिच्छू आदि देखने लगे। बिस्तर के कपड़े झाड़ने पर एक रुपया " खन " से आवाज़ करता हुआ नीचे गिर पड़ा। उसे देखते ही श्रीरामकृष्ण सब बात समझ गये। इस खोज-ढूँढ़ में विवेकानन्द भाग न लेते हुए चोर के समान एक ओर अलग खड़े थे उनकी ओर श्रीरामकृष्ण की दृष्टि गई और उन्हें अपने शिष्य का बड़ा कौतुक मालूम हुआ। वे सदा सब से यही कहते थे कि " कोई बात मैं कहता हूं इसीलिये उस पर विश्वास न किया करो; जब तुम्हारे अनुभव में वह बात आवे और जँचे तभी तुम उस पर विश्वास करो। " वे यह भी कहा करते थे, " साधु की परीक्षा दिन में करो, रात में करो और तभी उस पर विश्वास करो। "

अन्तिम दिनों में उनका यह कंचनत्याग उनके शरीर में ऐसा भिद गया था कि पैसे की तो बात ही दूर रहे, किसी धातु के बर्तन का भी स्पर्श नहीं कर सकते थे। भूलकर भी यदि धातु के बर्तन का स्पर्श हो जावे तो बिच्छू के डंक मारने के समान उन्हें शारीरिक पीड़ा होती थी। इसी कारण वे मिट्टी के बर्तन ही उपयोग में लाते थे। यदि धातु का बर्तन हाथ में लेना ही पड़ता तो कपड़े से लपेटकर हाथ में लेते थे। कंचनासक्ति का मन से त्याग हो जाने पर वह त्याग वृत्ति उनके अस्थिमाँस में भी विलक्षण रीति से प्रविष्ट हो गई थी।

कामासक्ति पर विजय प्राप्त करने के लिये वे बहुत दिनों तक स्वयं ही

स्त्रीवेष में रहे। उन दिनों उनकी बोल चाल आदि सब व्यवहार स्त्रियों के समान हुआ करते थे। स्त्री जाति की ओर मातृभाव को छोड़ अन्य भाव से देखना उनके लिये असम्भव हो गया था। इस सम्बन्ध के और वृत्तान्त आगे मधुर-भाव-साधन के अध्याय में मिलेंगे।

अभिमान दूर करने के लिये भी उन्होंने अलौकिक साधनाएँ कीं। हाथ में झाड़ू लेकर वे मन्दिर के अहाते को स्वयं झाड़ते थे। उनके बाल उन दिनों बहुत सुन्दर और लम्बे २ थे उन बालों से रास्ते चौक आदि को झाड़कर साफ करते थे। वे झाड़ते समय कहते थे, "माता! मेरा सब अभिमान नष्ट कर दे। भंगी से भी मैं श्रेष्ठ हूं यह अभिमान मेरे मन में न आने दे।" अपने को सब से नीच जानकर भिखारियों की पंगत उठने पर वे उस स्थान को स्वयं साफ़ करते थे तथा भिखारियों को नारायण रूप जान उनके उच्छिष्ट को प्रसाद मानकर ग्रहण करते थे। कुछ दिनों तक तो वे बिल्कुल सबेरे सब से पहले उठ जाते थे और आस पास के पाखानों को झाड़कर साफ कर देते थे और झाड़ते समय कहते थे, "माता! मेरा सब अभिमान बिल्कुल नष्ट कर दे।"

ऐसी अलौकिक साधनाओं से उनका अहंकार समूल नष्ट हो गया। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि मैं कोई स्वतंत्र व्यक्ति नहीं हूं केवल माता जगदम्बा के हाथों की पुतली हूं। इन सब साधनाओं से उस समय उनके हृदय में ईश्वर प्राप्ति के लिये कितनी तीव्र व्याकुलता थी और किसी कार्य के करने का निश्चय होते ही उसे मनसा-वाचा-कर्मणा सिद्ध करने के लिये कितना प्रयत्न करते थे वह स्पष्ट दिखेगा। साथ ही साथ यह भी ध्यान में आ जावेगा कि किसी दूसरे से बिना विशेष सहायता पाये केवल अपने हृदय की व्याकुलता के बल पर ही उन्होंने श्री जगदम्बा का दर्शन प्राप्त किया था। जब इस प्रकार वे साधनाओं का प्रत्यक्ष फल प्राप्त कर चुके तब बाद में वे अपने अनुभव की गुरुवाक्य और शास्त्र-वाक्य से एकता सिद्ध करने के उद्योग में लगे।

श्रीरामकृष्ण कहते थे--"त्याग और संयम के पूर्ण अभ्यास द्वारा मन और इन्द्रियों को वश कर लेने पर जब साधक का अन्तःकरण शुद्ध और पवित्र हो

जाता है तब उसका मन ही गुरु बन जाता है। उसके उस शुद्ध मन में उस समय उत्पन्न भावतरंग उसे कभी भी मार्ग भूलने नहीं देतीं और उसे शीघ्र ही उसके ध्येय की ओर ले जाती हैं।" प्रथम चार वर्ष की अवधि में स्वयं श्रीरामकृष्ण के मन का यही हाल था। वह तो उनके गुरु के स्थान में होकर उन्हें क्या करना और क्या नहीं करना चाहिए इतना ही बताकर शान्त नहीं हो जाता था वरन् कभी तो वह भिन्न देह धारण करके उनके शरीर से बाहर निकलकर किसी अन्य व्यक्ति के समान उनके सामने खड़ा हो जाता था और उन्हें साधना करते रहने के लिये उत्साहित करता था, या कभी उन्हें डर दिखाकर साधना में लगाता था। वह अमुक साधन के करने का कारण भी कभी समझा देता था अथवा कभी अमुक साधन से भविष्य में होने वाले अमुक फल को भी पहिले से ही बता देता था। योंही एक दिन उनके ध्यान करते समय उन्हें अपने शरीर से बाहर निकला हुआ, लाल २ त्रिशूल धारण किए हुआ, एक सन्यासी दिख पड़ा। उनके सामने खड़ा होकर वह बोला, " मन से अन्य सब विषयों का विचार दूर करके तू केवल अपने इष्ट देव का ही स्मरण और चिन्तन कर, यदि ऐसा न करेगा तो यह त्रिशूल तेरी छाती में भोंक दूंगा।" और एक समय तो उन्हें ऐसा दिखा कि अपने शरीर का भोगवासनामय पापपुरुष बाहर निकला और उसके पीछे पीछे उस तरुण संन्यासी ने भी बाहर आकर उसे मार डाला। एक समय उन्होंने यह देखा कि अपने शरीर में रहने वाले उस तरुण सन्यासी को भिन्न २ देवी देवताओं के दर्शन करने की और भजन कीर्तन सुनने की बड़ी लालसा हुई, तब वह दिव्य रूप धरकर बाहर आया और देवों का दर्शन कर तथा भजन सुनकर कुछ समय तक आनन्द करके पुनः अपने देह में प्रविष्ट हो गया। इस तरह के नाना प्रकार के दर्शनों की बातें हमने स्वयं श्रीरामकृष्ण के मुँह से सुनी हैं।

साधनकाल के लगभग आरम्भ से ही इस तरुण सन्यासी का श्रीरामकृष्ण को बारम्बार दर्शन होने लगा और कोई महत्व का कार्य करने के पूर्व श्रीरामकृष्ण उससे परामर्श कर लेते थे। साधनकाल के इन अपूर्व दर्शनादिकों की चर्चा करते हुए एक दिन श्रीरामकृष्ण हम लोगों से बोले, " स्वरूप में मेरे ही समान एक तरुण सन्यासी कभी २ इस (अपनी ओर अंगुली दिखाकर) देह से बाहर निकलकर मुझे सभी विषयों का उपदेश देता था। वह जब इस प्रकार

बाहर आता था, तब कभी २ मुझे कुछ थोड़ा बहुत होश रहता था और कभी २ बाह्यज्ञान शून्य होकर मैं निश्चेष्ट हो जाता था; परन्तु निश्चेष्ट रहते हुए भी मुझे उसकी हलचल स्पष्ट दिखाई देती थी और उसका भाषण भी स्पष्ट सुनाई देता था। उसके पुनः इस देह में प्रविष्ट हो जाने पर मुझे पूर्ण बाह्यज्ञान प्राप्त हो जाता था। उसके मुँह से मैंने जो सुन लिया था, उसी का उपदेश न्यांगटा * और ब्राह्मणी ने आकर पुनः एक बार किया। जो मैंने एक बार सुन लिया था उसी को उन्होंने फिर दुबारा मुझे सुनाया। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि वेद-शास्त्रोक्त मर्यादा की रक्षा के लिये ही उनको गुरु स्थान में मानकर मुझे उनसे पुनः उपदेश लेना पड़ा। अन्यथा यदि सब बातें पहिले से ही मालूम होतीं तो पुनः उनको बताने के लिये न्यांगटा आदि के गुरु रूप से आने का कोई विशेष कारण नहीं दिखाई देता है।"

साधनकाल के इस विभाग के अन्त में श्रीरामकृष्ण जब कामारपुकूर गये, तब उन्हें और भी एक विचित्र दर्शन प्राप्त हुआ। एक दिन १८५८ में वे पालकी में बैठकर कामारपुकूर से हृदय के गांव शिऊड़ को जा रहे थे उस समय का दृश्य अत्यन्त मनोहर था। विस्तृत मैदान के बीच २ में हरे भरे धान के खेत थे; ऐसा मालूम होता था कि इन सब दृश्यों के ऊपर स्वच्छ नीलाकाश की कटोरी मानो ढांक दी गई थी; स्वच्छ हवा मन्द गति से बह रही थी; उस विस्तीर्ण मैदान में रास्ते पर बीच २ में निर्मल पानी के झरने बह रहे थे; रास्ते के दोनों ओर बड़, पीपल आदि सघन और सुशीतल छाया वाले वृक्ष प्यासे थके यात्रियों को विश्राम लेने के लिये प्रेमपूर्वक बुला रहे थे। ऐसे परम मनोहर दृश्यों को देखते हुए श्रीरामकृष्ण बड़े आनन्द से जा रहे थे कि उन्हें अपने शरीर से दो छोटे २ बालक बाहर निकलते दिखाई पड़े। उन बालकों का रूप अत्यन्त सुन्दर था। बाहर आते ही वे नाना प्रकार के खेल खेलने लगे—कभी छुवौवल खेलें, तो कभी आसपास के सुन्दर फूल तोड़ें, कभी दौड़ते २ खूब दूर जाकर पालकी की ओर फिर लौटें, बीच में ही हँस पड़ें और परस्पर बातें करें—

---

* श्री तोतापुरी को श्रीरामकृष्ण न्यांगटा कहते थे।

इस तरह बहुत समय तक आनन्द करके वे दोनों बालक श्रीरामकृष्ण की देह में अन्तर्हित हो गये। इस विचित्र दर्शन के लगभग डेढ़ वर्ष बाद जब विदुषी ब्राह्मणी दक्षिणेश्वर में आई तब श्रीरामकृष्ण के मुँह से वह वार्ता सुनकर उसे कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ और वह बोली, "बाबा! फिर इसमें अचरज किस बात का है? तूने देखा सो ठीक ही है। इस समय नित्यानन्द के शरीर में श्री चैतन्य का आविर्भाव हुआ है—श्री नित्यानन्द और श्री चैतन्य इस समय एकत्र अवतार लेकर आये हैं और तुझ में ही रहते हैं!" हृदय कहता था—"ऐसा कह-कर ब्राह्मणी ने चैतन्य भागवत का निम्नलिखित श्लोक कहाः—

> अद्वैतेर गला धरि कहेन बार बार।
> पुनः ये करिबे[1] लीला मोरे[2] चमत्कार।
> कीर्तने आनन्दरूप हइबे[3] आमार[4]॥
> अद्यावधि गौरलीला करेन गौरराय।
> कोन कोन भाग्यवाने देखिबारे[5] पाय॥

हमारे श्रीरामकृष्ण के चरणों के आश्रय में रहते समय एक दिन चर्चा निकल पड़ने पर श्रीरामकृष्ण उपरोक्त वृत्तान्त का उल्लेख करते हुए बोले—"इस प्रकार का दर्शन हुआ सो सत्य है और मेरे मुँह से सुनकर ब्राह्मणी भी इस तरह बोली वह भी सच है परन्तु इसका यथार्थ मतलब क्या है यह मैं कैसे कहूं?" अस्तु—

ईश्वर दर्शन के लिये श्रीरामकृष्ण की व्याकुलता को अधिकाधिक बढ़ते देखकर इन्हीं चार वर्षों की अवधि में किसी समय मथुरबाबू को ऐसा मालूम पड़ने लगा कि अखंड ब्रह्मचर्य धारण के कारण ही इनके मस्तिष्क में कोई विकार उत्पन्न हो गया है और उसी विकार का यह ईश्वर दर्शन की व्याकुलता बाहरी स्वरूप है। उन पर मथुरनाथ असीम भक्ति और प्रेम रखते थे और उनके सुख के

---

१ कहूंगा, २ मेरा, ३ होओगे, ४ मेरे, ५ देखने को मिलेगा।

लिये वे अपनी समझ के अनुसार सभी कुछ करने के लिये सदा तत्पर रहते थे। इस समय उन्हें मालूम पड़ा कि इनका ब्रह्मचर्य भंग होने से इनका स्वास्थ्य पूर्ववत् हो जावेगा। इसी कारण उन्होंने लक्ष्मी बाई आदि वेश्याओं को पहिले दक्षिणेश्वर में लाकर, और पीछे श्रीरामकृष्ण को ही कलकत्ते में उनके घर ले जाकर उनके द्वारा श्रीरामकृष्ण के मन को मोहित कराने का प्रयत्न किया। श्रीरामकृष्ण स्वयं कहते थे कि "उन वेश्याओं में साक्षात् श्री जगदम्बा के दर्शन होकर "माता!" "माता!" कहते हुए मैं एकदम समाधिमग्न हो गया।" ऐसा कहते हैं कि उनकी अवस्था देखकर तथा समाधि उतरने पर उनके एक बालक के समान सरल और खुले दिल व्यवहार को देखकर उन वेश्याओं के मन में वात्सल्य भाव उत्पन्न हो गया। तदनन्तर ऐसे पुण्यात्मा पुरुष को मोह में डालने का प्रयत्न करने में हम से अत्यन्त घोर अपराध हुआ, इस पश्चात्ताप की भावना से उन्होंने श्रीरामकृष्ण को बारम्बार प्रणाम किया और उनसे अपने अपराधों की क्षमा माँगी।

१६—विवाह और पुनरागमन।

(१८५९—६०)

(पत्तल में से थोड़ी सी चटनी लेकर बलराम को दिखाते हुए)—" यह देख, इसके लिये विवाह हुआ, नहीं तो दूसरा कौन भला ऐसा बनाकर परोसता। " " ब्राह्मण शरीर के दस संस्कार होते हैं। विवाह भी उन्हींमें से एक संस्कार है। ये दसों संस्कार होने पर ही ' आचार्य ' बन सकते हैं। "

" जो परमहंस होते हैं...वे बिल्कुल झाड़ू वाले से लगाकर सार्वभौम सम्राट तक सभी अवस्थाओं को देखकर उनका उपभोग करके आये होते हैं। "

" मैं जब सोलह नाच नाचूंगा तब कहीं तुम एकाध सीखोगे तो सीखोगे ! "

—श्रीरामकृष्ण।

जब श्रीरामकृष्ण के पुजारी के कार्य छोड़ने का समाचार कामारपुकूर में उनकी माता और भाई को मिला, तब उनके मन में बड़ी चिन्ता उत्पन्न हुई कि अब क्या करना चाहिये। रामकुमार की मृत्यु के बाद दो वर्ष ही बीते थे कि गदाधर को भी वायुरोग हो जाने का हाल सुनकर उनकी वृद्धा माता और बड़े भाई की क्या दशा हुई होगी, यह कल्पना नहीं की जा सकती है। लोग कहा करते हैं

कि " विपत्ति कभी अकेली नहीं आती।" इस उक्ति का अनुभव उन्हें इस समय पूर्ण रीति से प्राप्त हुआ। गदाधर पर चन्द्रामणि की अत्यन्त प्रीति होने के कारण यह समाचार सुनकर उससे नहीं रहा गया। उसने श्रीरामकृष्ण को दक्षिणेश्वर से अपने गाँव में बुलवा लिया। परन्तु वहां आने पर भी श्रीरामकृष्ण का उदासीन और व्याकुलभाव कायम ही रहा। " माता " " माता " का घोष रात दिन एक समान जारी था। भगवत्दर्शन की व्याकुलता से एक छोटे बालक के समान रोना भी जारी ही था। यह सब देखकर इस दशा से सुधारने के लिये माता ने औषधि, मंत्रतंत्र, टोटका, शान्ति आदि नाना प्रकार के उपचार शुरू किये। यह बात सन् १८५८ के आश्विन या कार्तिक मास की होगी।

घर लौटने पर, श्रीरामकृष्ण अपना बहुत सा समय पहिले के ही समान बिताते थे, तथापि बीच २ में ईश्वर दर्शन की उत्कण्ठा से व्याकुल हो उठते थे। उसी तरह कभी २ गात्रदाह के कारण उन्हें बहुत कष्ट भी होता था। इस प्रकार एक ओर उनके सरल व्यवहार, देवभक्ति, मातृभक्ति, सुहृत्प्रेम आदि सर्व गुणों को पूर्ववत् वर्तमान देखकर और दूसरी ओर विशेष प्रसंगों में सब विषयों के सम्बन्ध में उनके उदासीन भाव, लज्जा, भय और घृणा का अभाव, ईश्वर दर्शन के लिये उनकी तीव्र व्याकुलता और अपने ध्येय की प्राप्ति के मार्ग से विघ्नों को दूर करने के अपार परिश्रम को देखकर लोगों के मन में उनके प्रति एक विलक्षण आदरभाव उत्पन्न होता था। लोगों को ऐसा मालूम पड़ता था कि इनके शरीर में किसी देवता का भाव आता है।

श्रीरामकृष्ण की माता बेचारी चन्द्रादेवी अति सरल स्वभाव वाली थीं। उसके मन में भी कभी २ यही विचार आता था और दूसरों के मुँह से भी यही बात सुनकर उसने किसी मांत्रिक को बुलाने का निश्चय किया। श्रीरामकृष्ण कहते थे, " एक दिन हमारे यहां एक मांत्रिक आये। उन्होंने कुछ जड़ी बूटी को अभिमंत्रित करके जलाया और उसकी राख मुझे सूंघने के लिये देकर कहा, 'तू यदि कोई भूत है, तो इस पेड़ को छोड़कर चला जा।' पर वहां क्या था! कुछ नहीं हुआ। इसके बाद और भी एक दो मांत्रिक एक रात को आये और पूजा बलिदान आदि होने के बाद उनमें से एक के अंग में देव आये तब उसने कहा,

' उसको (मुझे) न भूत लगा है न कोई रोग ही हुआ है।' कुछ समय के बाद सब के सामने मुझ से उसने कहा, ' क्यों जी गदाधर! तुमको जब साधु होना है तो फिर तुम इतनी सुपारी क्यों खाते हो? सुपारी से तो काम विकार बढ़ता है।। सचमुच ही इसके पूर्व मुझे सुपारी खाना बड़ा अच्छा लगता था परन्तु उस दिन से मैंने सुपारी खाना छोड़ दिया।"

उस समय श्रीरामकृष्ण का तेईसवां वर्ष शुरू था। कामारपुकूर आने के बाद कुछ महीनों में उनकी व्याकुलता बहुत कम पड़ गई। इसका कारण यह है कि यहां आने के बाद उन्हें बारम्बार श्री जगदम्बा के अद्भुत दर्शन हुआ करते थे। उन्हीं के सम्बन्धियों से सुनी हुई उस समय की कुछ बातें नीचे दी जाती हैं।

कामारपुकूर के पश्चिम और ईशान में दो स्मशान हैं। उनमें से किसी एक में, दिन को या रात को, समय मिलने पर श्रीरामकृष्ण अकेले ही जाकर बैठे रहते थे। उनमें कोई विलक्षण शक्ति होने का निश्चय उनके रिश्तेदारों को उसी समय हुआ। उन लोगों से ऐसा सुना है कि श्रीरामकृष्ण स्मशान के सियार भूत, प्रेत आदि को देने के लिये नये पात्र में फलमूल मिष्टान्न आदि रखकर स्मशान को अपने साथ ले जाया करते थे। श्रीरामकृष्ण उनसे कहा करते थे कि भूतों को उस पात्र का खाद्य देने पर वह पात्र भुर्र से आकाश में उड़कर अदृश्य हो जाता था और कभी २ ये भूत प्रेत भी मुझे प्रत्यक्ष दीख पड़ते थे। कभी २ रात को १२। १ बज जाते थे पर श्रीरामकृष्ण का पता नहीं रहता था। तब बेचारे रामेश्वर स्मशान की ओर जाकर दूर से श्रीरामकृष्ण को पुकारते थे। श्रीराम-कृष्ण पुकार सुनकर उत्तर देते थे और वहीं से कहते थे, " आया! दादा! आया! तुम वहीं ठहर जाओ; आगे मत बढ़ो; नहीं तो ये भूत तुम्हें कुछ कष्ट देंगे।" इन में से एक स्मशान में श्रीरामकृष्ण ने बेल की एक कलम लगाई थी। उसी स्मशना में एक पुराने पीपल के वृक्ष के नीचे बैठकर वे बहुत सा समय जप ध्यान में बिताते थे। उनके रिश्तेदारों के बतलाये हुए इन सब वृत्तान्तों से ऐसा दिखता है कि उन्हें इस समय कुछ अपूर्व दर्शन और साक्षात्कार हो जाने से श्री जगदम्बा के दर्शन के लिये उनके अन्तःकरण की तीव्र व्याकुलता बहुत ही कम हो गई थी। इस से यह अनुमान होता है कि इन दिनों उन्हें श्री जगदम्बा का दर्शन बारम्बार

होता होगा, और प्रत्येक महत्व के विषय में उसके (श्री जगदम्बा के) आदेशानुसार ही कार्य करना उन्होंने इसी समय से आरम्भ किया होगा। श्री जगदम्बा के वारम्वार दर्शन होते रहने से सम्भवतः इसी समय उन्हें यह भी निश्चय हो गया होगा कि श्री जगदम्बा का अवोध और पूर्ण दर्शन भी मुझे शीघ्र ही प्राप्त होगा। पर यह कौन कह सकता है ? अस्तु—

श्रीरामकृष्ण के इस समय के व्यवहार और बोल चाल को देखकर उनके घर के लोगों को ऐसा मालूम पड़ने लगा कि उन्हें जो अकस्मात् वायुरोग हो गया था वह अब बहुत कम पड़ गया है क्योंकि वे अब पहिले के समान व्याकुल होकर रोते हुए नहीं दिखते थे। उनका खान पान नियमित और समय पर होता था, तथा उनके अन्य व्यवहार भी दूसरे मनुष्यों के समान ही होते थे। उन्हें यही बड़े आश्चर्य की बात मालूम पड़ती थी कि वे स्मशान में जाकर बहुत समय तक बैठते हैं; कभी २ पहिना हुआ कपड़ा फेंककर निर्लज्जता से ध्यान पूजा आदि करने लगते हैं; उनकी इच्छानुसार पूजा, ध्यान जप आदि करने में किसी के कष्ट देने से वे बड़े सन्तप्त हो उठते हैं और किसी का कुछ न सुनकर सदा सर्वकाल देव, ध्यान, पूजा, जप इन्हीं में निमग्न रहते हैं। परन्तु उन्हें ऐसा लगता था कि इसमें कोई विशेष शोचनीय बात नहीं है—उनका यह स्वभाव तो बालपन से ही है। उन लोगों को सच्ची चिन्ता थी तो वह उनकी सांसारिक विषयों के प्रति पूर्ण उदासीनता की। उन्हें मालूम होता था कि जब तक इनका ध्यान संसार में नहीं लगता और इनकी उदासीनता कम नहीं होती, तब तक इनके वायुरोग के पुनः उलटने की सम्भावना है। इसी कारण इनका ध्यान संसार की ओर किसी प्रकार खींचने की चिन्ता में इनकी स्नेहमयी माता और ज्येष्ठ बन्धु रहा करते थे। अन्त में सब दृष्टि से विचार कर लेने के बाद दोनों ने यही निश्चय किया कि "अब गदाधर का विवाह ही कर देना चाहिये; इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है। सुशीला और रूपवती पत्नी पा जाने पर उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होकर, इसका मन इस प्रकार इतस्ततः भटकता नहीं रहेगा। अब इसकी उम्र भी २३-२४ वर्ष की हो गई है, तो भी यह प्रत्येक बात में किसी छोटे बालक के समान अपने भाई और माता के मुँह की ओर ताकता रहता है, और अपनी सांसारिक स्थिति को सुधारने के उपाय ढूंढने के विचार इसके मन में नहीं

आते। इसका विवाह किये बिना और इसके सिर पर स्त्री पुत्रादिकों का पालन पोषण का भार पड़े बिना, इसके ये विचार जावें भी कैसे ? "

उन दोनों ने यह विचार निश्चित करके कन्या ढूँढ़ना शुरू किया। गदाधर को यह निश्चय विदित हो जाने पर सम्भवतः वह उसमें कोई बाधा डालेगा, इसलिये यह सब विचार उन्होंने बिना किसी को बतलाए ही किया था। तो भी तीक्ष्ण-बुद्धि वाले श्रीरामकृष्ण के ध्यान में यह बात आये बिना नहीं रही। तत्पश्चात् यद्यपि विवाह की पक्की बात उनके कानों में पड़ी, तो भी उन्होंने उस सम्बन्ध में अपनी अनिच्छा बिल्कुल नहीं प्रकट की वरन् घर में कोई कार्य होने पर छोटे २ बालक जैसे आनन्द और चैन मनाते हैं उसी प्रकार का आचरण श्रीरामकृष्ण भी करने लगे। श्री जगदम्बा के कान में यह बात डालकर और इस विषय में अपने कर्तव्य को जानकर वे ऐसा आचरण करते हों; या कि बालकों को जैसे अपनी जिम्मेदारी की कल्पना नहीं रहने से भावी बातों के सम्बन्ध में वे जैसे निश्चिन्त रहा करते हैं, वही दशा श्रीरामकृष्ण की रही हो; या कि विवाह के सम्बन्ध में पूर्णतः निश्चिन्त रहने में उनका कोई भिन्न उद्देश रहा हो; पर श्रीरामकृष्ण के जीवन में उनका यह विवाह एक अत्यन्त महत्व की घटना होने के कारण उसका सांगोपांग विवरण यहां दिया जाता है।

श्रीरामकृष्ण के चरित्र का विचार करते हुए मन में सहज ही यह प्रश्न उठता है कि श्रीरामकृष्ण ने विवाह ही क्यों किया ? स्त्री सहवास की निरी कल्पना भी जिनके मन में कभी नहीं आई, उन्होंने विवाह किस लिये किया ? यह सचमुच एक गूढ़ विषय है। शायद कोई कहे कि " युवावस्था प्राप्त होने पर वे सदा 'भगवान्' 'भगवान्' रटने लगे और पागल के समान आचरण करने लगे इसलिये उनके घर के लोगों ने, उनकी कुछ न सुनते हुए, उनकी इच्छा के विरुद्ध जान बूझकर उनका विवाह कर दिया। " पर यह बात सम्भव नहीं दिखाई देती। अत्यन्त बालपन से ही उनकी इच्छा के विरुद्ध उनसे एक छोटी सी भी बात कोई कभी नहीं करा सका, बल्कि उनके मन में कोई बात आ जाने पर उसे किये बिना वे कभी नहीं रहते थे। छुटपन की ही एक बात को लीजिये। धनी लोहा-

रिन को उन्होंने कह दिया था कि "तुझे भिक्षामाता बनाऊंगा।" सो किसी के कहने की परवाह न करते हुए उन्होंने अपना कहना सिद्ध कर दिखाया और वह भी किस स्थान में ? कलकत्ता ऐसे धर्मबन्धन शिथिल रहने वाले शहर में नहीं वरन् कामारपुकूर ऐसे पुराणमताभिमानी और धर्मकर्मपरायण ग्राम में! ऐसे स्थान में यदि कोई मनुष्य यह कहे कि "मैं जैसा चाहूं वैसा कर लूंगा" तो समाज उसे चलने नहीं देगा। भला, घर के लोग ही कम स्वधर्मनिष्ठ हों सो भी नहीं। कुल की रूढ़ि को देखो तो उसके अनुसार भिक्षामाता होने वाली स्त्री ब्राह्मणी ही आवश्यक थी। इस सब बातों के प्रतिकूल रहते हुये भी सब की इच्छा के विरुद्ध उन्होंने उस अल्प वय में भी अपना कहना सत्य कर दिखाया। "दाल रोटी कमाने की विद्या मैं नहीं सीखता" यह निश्चय कर लेने पर उन्होंने किसी का नहीं सुना। वैसे ही उनके मन में जब तक नहीं जँचा तब तक पुजारी-पद स्वीकार करने के लिये मथुरानाथ के सभी प्रयत्न व्यर्थ हुए! और भी इसी तरह की अन्य बातों से स्पष्ट दिखता है कि उन्होंने अपनी इच्छा के अनुसार दूसरों की इच्छा को परिवर्तित कर दिया। तब विवाह सरीखे जीवन के महत्त्वपूर्ण विषय में उन्होंने दूसरों की इच्छा के अनुसार आचरण किया यह कहना कहां तक ठीक होगा?

या कदाचित् कोई यह कहे कि "ईश्वर प्रेम के कारण बचपन से ही उनके मन में सर्वस्वत्याग का भाव मानने की क्या आवश्यकता है? इस बात को न मानकर केवल इतना ही कहना बस होगा कि अन्य लोगों के समान विवाह आदि करके संसार सुखोपभोग की भावना पहिले श्रीरामकृष्ण के मन में थी ; परन्तु युवावस्था प्राप्त होने पर थोड़े ही दिनों में उनके विचारों में विचित्र क्रान्ति हुई और ईश्वर प्रेम की इतनी प्रबल तरंग उनके अन्तःकरण में उमड़ पड़ी कि उनके सभी पूर्व विचारों में परिवर्तन हो गया। 'इस परिवर्तन के पूर्व श्रीरामकृष्ण का विवाह हो चुका था' इतना कह देने से सब विवाद मिट जाता है।" यह उक्ति दिखती तो बहुत सुन्दर है पर यह यथार्थ बात के बिल्कुल विपरीत है। ईश्वर प्रेम के कारण सर्वस्वत्याग का भाव उनके मन में बचपन से ही था या नहीं यह उनके बाल्यजीवन की ओर दृष्टि डालने से स्पष्ट दिख जावेगा। फिर उनका विवाह २३ वें या २४ वें वर्ष में हुआ था। उसके पहिले तीन चार

वर्षों से उनके अन्तःकरण में ईश्वर प्रेम के लिये घोर खलबली मची हुई थी। इसके सिवाय जिन्होंने अपने लिये किसी को कभी थोड़ा सा भी कष्ट नहीं होने दिया, क्या यह जानते हुए कि अपने कारण एक गरीब बालिका को जन्म भर दुःख भोगना पड़ेगा उन्होंने अपना विवाह कर लिया होगा? यह बात तो बिल्कुल असम्भव दिखाई देती है। साथ ही साथ श्रीरामकृष्ण के जीवन में कोई भी घटना निरर्थक नहीं हुई और यह बात उनके चरित्र पर अधिकाधिक विचार करने में स्पष्ट दिखाई देती है। अन्तिम बात यह भी है कि उन्होंने निश्चित रूप से अपनी ही इच्छा से विवाह किया। क्योंकि उन्होंने कन्या देखने की बातचीत शुरू होते ही हृदय और घर के अन्य लोगों के पास ऐसा बता दिया था कि "जयराम बाटी में रहने वाले रामचन्द्र मुखोपाध्याय की कन्या से मेरा विवाह होगा यह कभी का निश्चित है।" इसे पढ़कर पाठकों को आश्चर्य होगा और कदाचित् उन्हें इस पर विश्वास भी न हो। वे कहेंगे—"ऐसी बातें २० वीं सदी में नहीं चल सकतीं; ऐसी भविष्यद्वाणी पर कौन विश्वास करेगा?" इस पर हम यही कहते हैं कि "उपरोक्त बात पर आप विश्वास करें या न करें, परन्तु श्रीरामकृष्ण ने तो वैसा कहा था इसमें कोई संशय ही नहीं। इस बात की सत्यता को प्रमाणित कर सकने वाले मनुष्य सौभाग्य से आज * जीवित हैं। उनसे ही स्वयं पूछ लीजिये और आपको निश्चय हो जावेगा।" कन्या देखते २ बहुत दिन बीत गये पर उनके घर के लोगों को एक भी कन्या पसन्द नहीं आई। तब श्रीरामकृष्ण ने स्वयं उन लोगों से कहा कि "अमुक गांव में अमुक लड़की मेरे लिये अलग रख दी गई है उसे जाकर देख लो।" इस पर से यह स्पष्ट है कि श्रीरामकृष्ण को मालूम था कि मेरा विवाह होने वाला है और वह अमुक लड़की से ही होगा। यह भी प्रकट है कि उन्होंने विवाह के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं की। सम्भवतः ये बातें उन्हें भावसमाधि में ही मालूम हो गई होंगी। तब फिर श्रीरामकृष्ण के विवाह का अर्थ क्या है?

कोई शास्त्रज्ञ पाठक शायद यह कहें कि "शास्त्रों का कहना है कि ईश्वर दर्शन या पूर्ण ज्ञान हो जाने पर जीव के संचित और भावी कर्मों का नाश हो जाता

---

* सन् १९१४-१५ में।

है परन्तु ज्ञान प्राप्त होने पर भी प्रारब्ध कर्म का भोग उसे इस शरीर में ही करना पड़ता है:-

प्रारब्धं बलवत्तरं खलु विदां भोगेन तस्य क्षयः।
सम्यग्ज्ञानहुताशनेन विलयः प्राक् संचितागामिनाम् ॥

कल्पना कीजिये कि किसी पारधी की पीठ में तर्कश है जिसमें बहुत से बाण हैं। एक पक्षी को मारने के लिये उसने एक बाण अभी ही छोड़ा है और दूसरा बाण हाथ में लिया है। एकाएक उसके मन में वैराग्य का उदय होता है और वह हिंसा नहीं करने का निश्चय करता है। तुरन्त ही वह अपने हाथ का बाण नीचे डाल देता है तथा पीठ पर से तर्कश भी निकालकर फेंक देता है; पर उसने जो बाण अभी ही छोड़ा है उसका क्या करेगा? उसे तो वह फेर नहीं सकता? उसी तरह पीठ पर का तर्कश यानी जीव के जन्म जन्मान्तर के संचित कर्म, और हाथ का बाण यानी भावीकर्म अर्थात् वह कर्म जो अब होने वाला है—इन दोनों कर्मों का ज्ञान से नाश हो जावेगा, परन्तु उसके हाथ से अभी ही छोड़े हुए बाण के समान अपने प्रारब्ध कर्मों का फल तो उसे भोगना ही पड़ेगा। श्रीरामकृष्ण जैसे महापुरुष केवल अपने प्रारब्ध कर्मों को ही इस शरीर में भोगते हैं। इस भोग से वे छूट नहीं सकते।"

इस पर हमारा उत्तर इतना ही है कि "शास्त्रों से दिखता है कि यथार्थ ज्ञानी पुरुषों को अपने प्रारब्ध कर्मों का भी फल नहीं भोगना पड़ता। क्योंकि असल में सुख दुःखों का भोग करने वाला कौन है? वह मन ही तो है। जब उस मन को उन्होंने सदा के लिये ईश्वर को समर्पण कर दिया है, तब फिर सुख दुःखों के रहने के लिये स्थान ही कहां रहा?" इस पर कोई यह कहेगा कि प्रारब्ध कर्म का भोग तो उनके शरीर के द्वारा होता है। पर यह भी कैसे होगा? क्योंकि उनका ध्यान तो शरीर की ओर रहता ही नहीं। उनके अहंकार का ही जब समूल नाश हो जाता है और देह का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, तब उनके शरीर से प्रारब्ध कर्म का भोग होने का कोई अर्थ नहीं रहता। एक बात और भी है। श्रीरामकृष्णदेव के खुद के अनुभवों पर यदि विश्वास करना है, तो यह नहीं कह सकते कि वे केवल "ज्ञानी पुरुष" थे। उनकी श्रेणी इससे

भी ऊँची माननी पड़ेगी। क्योंकि उनके मुँह से हमने बारम्बार सुना है कि "जो राम हुआ था और कृष्ण हुआ था, वही अब रामकृष्ण हुआ है" अर्थात् पूर्वकाल में जिन्होंने श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्णचन्द्र का अवतार लिया था वही इस समय श्रीरामकृष्ण के शरीर में बसते हुए अपूर्व लीला कर रहे हैं। यदि उनके इस उद्गार पर विश्वास है तो उन्हें नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव ईश्वरावतार ही कहना होगा और ऐसा मानने के बाद यह कहना ठीक नहीं कि उन्हें भी प्रारब्ध कर्मों का फल भोगना पड़ा था। अतः श्रीरामकृष्ण के विवाह की मीमांसा अन्य रीति से करनी पड़ेगी।

हम लोगों के पास विवाह की बात निकालकर श्रीरामकृष्ण कभी २ बड़ा मधुर विनोद किया करते थे। एक दिन दोपहर के समय दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण भोजन करने के लिये बैठे थे। पास ही श्री बलराम वसु और अन्य भक्तगण बैठे थे। उनसे वे अनेक प्रकार की बातें कर रहे थे। श्रीरामकृष्ण के भतीजे रामलाल के विवाह के लिये उसी दिन माता जी (श्रीरामकृष्ण की पत्नी) कामारपुकुर को गई थीं।

श्रीरामकृष्ण—(बलराम से) भला, बताओ तो सही, मेरा विवाह क्यों हुआ? मेरा विवाह हो तो गया, पर उसका क्या उपयोग है? यहां तो कमर की धोती का ध्यान नहीं रहता। जब यह अवस्था है तब स्त्री क्यों चाहिये?" यह सुनकर बलराम थोड़ा हँसा और फिर चुप बैठा रहा।

श्रीरामकृष्ण—"हां! अब आया ध्यान में! (पत्तल में से थोड़ी सी चटनी उठाकर बलराम को दिखाते हुए) यह देख—इसके लिये विवाह हुआ। यदि विवाह न होता तो फिर ऐसी चीजें कौन बनाकर देता? (बलराम और अन्य लोग हँसते हैं।) हां! सच पूछता हूं। दूसरा कौन खाने पीने के लिये इस प्रकार की व्यवस्था करता? वह तो आज निकल गई! (कौन निकल गई यह लोगों के ध्यान में नहीं आया यह देखकर) अरे! वह रामलाल की काकी! रामलाल का तो विवाह है न अब; इसलिये वह कामारपुकुर को चली गई! मैं तो अपना खड़ा होकर देख रहा था, पर मन में कुछ भी नहीं आया। बिल्कुल सच कहता हूं। मन में इतना ही आया कि कोई एक निकलकर जा रहा है। पर बाद में ऐसा लगने लगा कि

कौन अब खाने के लिये देगा ? ऐसा क्यों मालूम पड़ा, बताऊँ ? प्रत्येक वस्तु पेट में सहन नहीं होती, और खाने की सुधि भी सदा रहती हो सो भी नहीं है। क्या सहता है, क्या नहीं सहता यह सब उसे मालूम है। वही स्वयं कुछ न कुछ बनाकर देती रहती है, इसीलिये मुझे ऐसा लगा कि अब खाने के लिये कौन बनाकर देगा ?"

और भी एक बार दक्षिणेश्वर में विवाह की बात निकलने पर श्रीरामकृष्ण बोले, "विवाह क्यों करते है जानते हो ? ब्राह्मण शरीर के लिये कुल दस प्रकार के संस्कार हैं। विवाह भी उन्हीं में से एक संस्कार है। ये दसों संस्कार होने पर ही वह 'आचार्य' बन सकता है।" वे यह भी कहते थे, "जो परमहंस होते हैं, पूर्ण ज्ञानी होते हैं, वे बिल्कुल झाड़ूवाले से लेकर सार्वभौम बादशाह तक की सभी अवस्था को देखे हुए होते हैं और सभी का उपभोग करके आये हुए रहते हैं। यदि ऐसा न हो तो ठीक ठीक वैराग्य कैसे हो सकेगा ? जिसका अनुभव नहीं किया है और जिसका उपभोग नहीं किया है, उसे देखने और उसके उपभोग करने की इच्छा मन को हो सकती है और मन उसके लिये चंचल भी हो उठता है—समझे ? जब चौसर की गोटी पक जाती है, तभी वह अपने आदिस्थान को लौट सकती है, अन्यथा नहीं। उसी प्रकार इसे भी जानो।"

यद्यपि उन्होंने साधारण गुरु और आचार्य के विवाह के लिये उपरोक्त कारण बताये तथापि स्वयं उनके विवाह का कोई अन्य विशेष कारण हमें मालूम होता है। विवाह भोग के लिये नहीं है इस बात का स्मरण शास्त्र हमें पद पद पर दिया करते हैं। शास्त्रों का वाक्य है कि ईश्वर के सृष्टिरक्षणरूप नियम के पालन करने और गुणी पुत्र उत्पन्न करके समाज के कल्याण साधने के उद्देश से ही विवाह करना उचित है। परन्तु यह असम्भव बात शास्त्रों में नहीं बताई गई है कि इसमें स्वार्थ की भावना किंचिदपि न रहे। दुर्बल मनुष्यों के चरित्र का पूर्ण अवलोकन करके शास्त्रकार ऋषिवरों ने जान लिया था कि दुर्बल मानव को इस संसार में स्वार्थ के सिवाय और कोई बात समझ में नहीं आती। नफ़ा और नुक़सान का विचार किये बिना वह बिल्कुल साधारण कार्य में भी हाथ नहीं लगाता। यह बात जानते बूझते हुए भी शास्त्रकारों ने

उपरोक्त आज्ञा की इसका कारण इतना ही है कि "इस स्वार्थबुद्धि को किसी उच्च उद्देश के साथ सदा जकड़े रखना ही ठीक है; नहीं तो, पुनः पुनः जन्म मृत्यु के बन्धन में फँसकर मनुष्य को अनन्त दुःख भोगना पड़ेगा" यह बात भी उन्हें विदित थी। स्वयं अपने नित्यमुक्त स्वरूप को भूल जाने के कारण ही इन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् के रूपरस आदि विषयों का उपभोग करने के लिये मनुष्य सदा लालायित रहता है और मन में कहता है, "ये सब विषयसुख कितने मधुर और मनोरम हैं।" परन्तु संसार के सभी सुख दुःखों के साथ जकड़े हुए हैं; सुखों का उपभोग करने जाओ तो दुःखों का भी उपभोग करना ही पड़ता है, यह बात कितने मनुष्यों के ध्यान में आती है ? स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे, "दुःखों का मुकुट सिर पर धारण करके सुख मनुष्य के पास आकर खड़ा होता है।" मनुष्य को तो केवल (शुद्ध) सुख चाहिये पर वह मिले कैसे ? उसके सिर पर तो दुःख का मुकुट है, और सुख का उपभोग करने गये कि परिणाम में दुःख का भी उपभोग करने से बच नहीं सकता। यह विचार ही मनुष्य के मन में नहीं आता। इसी कारण इस बात का मनुष्य को स्मरण दिलाते हुए शास्त्र कहता है, "भाइयों, तुम क्यों समझते हो कि केवल सुख के लाभ में ही हमारा स्वार्थ है ? सुख और दुःख इन में से कोई एक भी लेने जाओगे तो उसके साथ तुम्हें दूसरे को भी लेना पड़ेगा। अतः तुम अपने स्वार्थ का तार कुछ ऊँचे सुर पर चढ़ा दो और सोचो कि सुख भी मेरा गुरु है और दुःख भी मेरा गुरु ही है। जिसके द्वारा इन दोनों की मुट्ठी से मेरा छुटकारा हो सकेगा, वही मेरा सच्चा स्वार्थ है और वही मेरे जीवन का ध्येय है।" इससे स्पष्ट है कि विवाहित अवस्था में सब प्रकार के भोगों का विचारपूर्वक सेवन करते हुए सुखदुःखपूर्ण भिन्न २ अवस्थाओं का अनुभव प्राप्त करके क्षणभंगुर संसार के आपात रमणीय सुखों के प्रति मनुष्य के मन में तिरस्कार उत्पन्न हो, और उसका मन परमेश्वर के चरणों में लगे, और ईश्वर को ही अपना सर्वस्व जानकर उसी के दर्शन के लिये व्याकुलता उत्पन्न हो, यही उपदेश शास्त्रकार देते हैं। यह बात निःसन्देह है कि किसी भी विषय सुख का विचारपूर्वक उपभोग करने से अन्त में मन उसका त्याग ही करेगा। इसी कारण श्रीरामकृष्ण कहते थे, "बाबा ! सत् और असत् का विचार करो; निरन्तर विचार करना चाहिये और

मन से कहना चाहिये ' अरे मन ! तू सदा—मैं अमुक वस्त्र पहनूंगा, अमुक वस्तु खाऊंगा, अमुक चैन उड़ाऊँगा—इसी प्रकार के मनोराज्य में निमग्न रहता है। परन्तु जिन पंच महाभूतों से दाल चावल आदि चीजें बनती हैं, उन्हीं पंच महाभूतों से लड्डू जलेबी आदि पदार्थ भी बनते हैं। जिन पंचभूतों के अस्थि, मांस, रक्त, मज्जा आदि से किसी स्त्री का सुन्दर शरीर बना है, उन्हीं से पुरुष, पशु, पक्षी आदि के शरीर भी बने होते हैं। यदि ऐसा ही है तो फिर—' मुझे यह चाहिये और वह चाहिये ' की तुम्हारी हड़बड़ी व्यर्थ ही क्यों निरन्तर जारी रहती है ? इसके द्वारा सच्चिदानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। " इससे यदि मन में निश्चय न हो तो एक दो बार उन २ वस्तुओं का विचारपूर्वक उपभोग करके उनका त्याग करना चाहिये। मान लो जलेबी खाने की बड़ी उत्कट इच्छा मन में उत्पन्न हुई, और अनेक प्रयत्न करने पर भी जलेबी की इच्छा मन से दूर नहीं होती, और हजारों तरह से तर्क करने पर भी मन नहीं मानता। तब तो कुछ थोड़ी सी जलेबी ले आना चाहिये और उसके छोटे २ टुकड़े करके खाते २ मन से कहना चाहिये, ' अरे मन ? इसको जलेबी कहते हैं-भला ! दाल चावल के ही समान यह जलेबी भी पंचभूतों से ही बनी है; इसे खाने से भी इसका रक्त, मांस, मल, मूत्र यही बनता है। भला यह जब तक जीभ पर है तभी तक तो इसकी मिठास है; और जहां एक बार यह गले के नीचे उतर गई, तब उसका स्वाद भी ध्यान में नहीं रहता, और यदि कुछ अधिक खा ली तो इससे रोग उत्पन्न हो जाता है; फिर ऐसी वस्तु के लिये अरे मन ! तू क्यों लार टपकाता है ? छिः ! छिः !! खाई उतनी खा ली; अब बस कर ! अब इसकी ओर इच्छा मत कर ' (सन्यासी भक्त मण्डली की ओर देखकर) साधारण छोटे मोटे विषयों का इस प्रकार विचारपूर्वक उपभोग करके त्याग करने से बन सकता है, परन्तु बड़े २ विषयों के सम्बन्ध में ऐसा करना ठीक नहीं है। उन बड़े विषयों का उपभोग करने से बन्धन में पड़ने का बड़ा डर रहता है। अतः बड़ी २ वासनाओं के सम्बन्ध में उनके दोषों को ही ढूँढ़ना चाहिये और उन दोषों का ही सतत विचार करके उनका त्याग करना चाहिये। "

शास्त्रों में विवाह का इतना उच्च उद्देश बताये जाने पर भी कितने लोग इस उपदेश के अनुसार आचरण करते हैं ? विवाहित जीवन में कितने लोग

यथासाध्य ब्रह्मचर्य पालन करते हुए आजकल अपना स्वयं और समाज का कल्याण साधन करते हैं ? कितनी स्त्रियाँ आजकल अपने पति के पीछे खड़ी होकर उनके लोकहित के उच्चव्रत के पालन के लिए—ईश्वर प्राप्ति की बात तो अलग रहे—उनसे प्रेरणा करती हैं ? अथवा कितने पुरुष आज कल त्याग को जीवन का ध्येय मानकर अपनी स्त्री को त्याग का उपदेश देते हैं ? हाय रे भारत-वर्ष ! भोग को ही सर्वस्व मानने वाले पाश्चात्यों के जड़वाद ने धीरे २ तेरे अस्थि-मांस में घुसकर कैसी तेरी पशु के समान करुणाजनक स्थिति बना दी है, इसका एक बार विचार तो कर । क्या व्यर्थ ही श्रीरामकृष्णदेव अपने सन्यासी भक्तों को आजकल के विवाहित जीवन में दोष दिखाकर कहा करते थे:—"भोग को ही सर्वस्व या जीवन का ध्येय समझना ही वास्तव में दोष है, तब क्या सम्भव है कि विवाह के समय वधू और वर के सिरों पर अक्षत और फूल बरसा देने से ही सब दोष दूर हो जाँय और सर्व मंगल हो जाय ?" सच पूछिये तो विवाहित जीवन में आज के समान प्रबल इन्द्रियपरता भारतवर्ष में पहिले कभी नहीं रही होगी । आज हमें तो स्मरण भी नहीं होता कि इन्द्रिय तृप्ति के सिवाय विवाह का कोई और भी महा पवित्र अत्यन्त उच्च हेतु है । इसी कारण दिनों दिन हम पशुओं से भी अधम होते चले जाते हैं । उस महा पवित्र और अत्यन्त उच्च हेतु का हमें स्मरण कराने के लिये और हमारी पशुवृत्ति को दूर करने के लिये ही श्री भग-वान् रामकृष्णदेव का विवाह हुआ था । उनके जीवन के अन्य सभी कार्यों के समान उनका यह विवाहकार्य भी लोक कल्याण के लिये ही था ।

श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "इस शरीर के द्वारा जो २ कार्य होते हैं वे सब तुम्हारे लिये किये जाते हैं । मैं जब सोलह प्रकार के कार्य करूंगा तब कहीं तुम लोग उसमें से एकाध करोगे तो करोगे, और मैं ही यदि खड़ा होकर मूत्र विसर्जन करने लगूं तो तुम लोग चक्कर लगाते हुए विसर्जन करोगे ।" इसीलिये विवाहित जीवन का अति उच्च आदर्श लोगों के सामने स्थापित करने के लिये श्रीरामकृष्ण का विवाह हुआ था । यदि मैंने स्वयं अपना विवाह न किया होता तो विवाहित लोग कहते, "स्वयं विवाह नहीं किया, इसलिये ब्रह्मचर्य की बातें कर रहे हैं । पत्नी और आप कभी एक साथ नहीं रहे इसलिये ब्रह्मचर्य की ऐसी लम्बी २ गप्पें हाँक रहे हैं ।"—इत्यादि कहने के लिये किसी को सन्धि न मिले

इसी हेतु से उन्होंने केवल विवाह ही नहीं किया, वरन् श्रीजगदम्बा माता का पूर्ण दर्शन प्राप्त कर लेने के बाद जब दिव्योन्माद की अवस्था उनके हृदय में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गई, तब उन्होंने अपनी पूर्ण यौवनावस्था प्राप्त पत्नी को दक्षिणेश्वर में लाकर रखा। उसमें भी जगदम्बा का आविर्भाव प्रत्यक्ष देखकर उसे श्री जगन्माता जानते हुए उन्होंने उसकी पूजा की; आठ महीने तक उसके साथ एकत्र वास किया; इतना ही नहीं पर उसके साथ एक शय्या पर शयन तक किया। उसे अच्छा लगने और आनन्द मालूम होने के हेतु से वे उसके बाद कई साल कभी २ कामारपुकूर में और कभी २ जयरामबाटी में (उसके पिता के घर) स्वयं जाकर एक दो महीने बिताते थे। दक्षिणेश्वर में जब श्रीरामकृष्ण अपनी स्त्री के साथ एकत्र रहते थे उस समय का स्मरण करते हुए माता जी (श्रीरामकृष्ण की पत्नी) अपने स्त्री भक्तों से कहा करती थीं—" उन दिनों वे ऐसी किसी दिव्य भावावस्था में निरन्तर मग्न रहा करते थे कि उसे शब्दों द्वारा नहीं समझा सकते। भावावस्था की पूर्णता में वे कितनी ही बातें बताते थे, कितने ही उपदेश दिया करते थे। कभी वे हँसते थे तो कभी रोते थे, और कभी समाधि में निमग्न हो जाते थे। इस तरह सारी रात बिताते थे। उस भावावस्था का आवेश इतना अद्भुत होता था कि उसे देखकर मेरे सब अंग काँपने लगते थे, और मुझे ऐसा लगता था कि रात किसी तरह व्यतीत हो जाय और दिन निकल आवे। भाव समाधि किसे कहते हैं यह उस समय मैं कुछ भी नहीं जानती थी। एक दिन उनकी समाधि बहुत समय तक भंग नहीं हुई। यह देखकर मैं भय से रोने लगी और मैंने हृदय को पुकारा। हृदय जल्दी ही आया और उनके कानों में बहुत देर तक श्री जगदम्बा के नाम का उच्चार करता रहा तब कहीं धीरे धीरे उनकी समाधि उतरी। जब उन्हें यह मालूम हुआ कि मुझको इस प्रकार से कष्ट होता है तो भविष्य में ऐसे कष्ट से बचने के हेतु उन्होंने स्वयं मुझे यह सिखाकर कहा कि इस प्रकार का भाव दिखने पर इस नाम का उच्चारण कानों में कर देना, तथा जब यह दूसरा भाव दिखे तब अमुक बीज मंत्र का उच्चारण कानों में करना। उसी समय से मुझे फिर उतना डर नहीं लगता था क्योंकि इन उपायों से वे शीघ्र होश में आ जाते थे। इसके बाद इसी प्रकार कई दिन बीत गये तो भी 'कब किस प्रकार की भाव समाधि लग जावेगी' इसी चिन्ता में मैं सारी रात जागकर

बिताती थी और मुझे नींद बिल्कुल ही नहीं आती थी। यह हाल उनके कानों में पड़ने पर उन्होंने मुझे दूसरी जगह–नौबतखाने में सोने के लिये कह दिया।" परमपूज्य माता जी कहा करती थीं—"समई में बत्ती किस तरह रखना, कौनसी वस्तु कहां और कैसे रखना, अपने घर में कौन मनुष्य कैसा है, किसके साथ कैसा बर्ताव करना, दूसरे के घर जाने पर वहां के लोगों से किस प्रकार व्यवहार रखना आदि वे इस तरह की सामान्य सांसारिक बातों से लगाकर भजन, कीर्तन, ध्यान, समाधि और ब्रह्मज्ञान जैसे उच्च विषयों तक की सब प्रकार की बातें मुझे समझा २ कर बताते थे।" विवाहित पुरुषों! तुम में से कितने लोग अपनी २ धर्मपत्नी को इस प्रकार से उपदेश देते होंगे? मान लो किसी कारण से तुच्छ शरीर सम्बन्ध बन्द होने का अवसर आ जावे तब तुम में से कितने लोगों का अपनी पत्नी पर आजीवन निःस्वार्थ प्रेम स्थिर रह सकेगा? इसीलिये हम कहते हैं कि श्रीरामकृष्ण ने विवाह करके पत्नी से एक दिन भी शरीर सम्बन्ध न रखते हुए भी जो अद्भुत और अदृष्ट पूर्व प्रेमपूर्ण आचरण का आदर्श सामने रखा, केवल तुम्हारे ही लिये है। इन्द्रियपरता के सिवाय विवाह का एक दूसरा भी उच्च उद्देश है जिसे तुम्हीं को सिखाने के लिये उन्होंने विवाह किया था। उन्होंने इसी उद्देश को लेकर विवाह किया कि तुम लोग उस उच्च ध्येय की ओर दृष्टि स्थिर रखकर अपने विवाहित जीवन में यथासाध्य ब्रह्मचर्य पालन कर स्वयं धन्य होओ, तथा बुद्धिमान्, तेजस्वी और गुणवान् सन्तान को जन्म देकर भारतवर्ष के आधुनिक हतवीर्य, निस्तेज और बलहीन समाज को वीर्यवान्, सतेज और बलवान् बनाओ। जिस कार्य को कर दिखाने की आवश्यकता श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण, बुद्ध, श्री शंकर, श्री चैतन्य आदि पूर्वावतारों को नहीं हुई थी, वही कार्य अब आवश्यक होने पर उसे कर दिखाना इस आधुनिक युग के अवतार श्रीरामकृष्णदेव के लिये आवश्यक हो गया।

जीवन भर कठोर तपस्या और साधनों के बल पर विवाहित जीवन का अद्भुत और अदृष्ट पूर्व सांचा या नमूना संसार में यह प्रथम ही सामने आया है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे उस प्रकार "सांचा तैयार हो गया है, तुम अपने २ जीवन को इसी आदर्श सांचे में ढालो और उन्हें नये आकार के बना डालो।"

इस पर कोई शायद कहे कि यह बात सभी के लिये सम्भव नहीं है। पर ऐसा तो नहीं है कि इसे श्रीरामकृष्ण समझते नहीं थे। उन्हें यह विदित था कि मैं स्वयं जब सोलह आने प्रत्यक्ष आचरण करके दिखाऊंगा तब कहीं लोग एकाध आना आचरण करने का प्रयत्न करेंगे। इसीलिये यद्यपि स्त्री के साथ रहकर अखंड ब्रह्मचर्य पालन करना सभी के लिये साध्य नहीं है, तथापि इस उच्च आदर्श के सब के सामने रहने से लोग कम से कम उस दिशा में प्रयत्न तो करेंगे। यही सोचकर उन्होंने इस असिधाराव्रत का प्रत्यक्ष आचरण करके दिखलाया है।

और भी एक बात का विचार करना आवश्यक है। रूप रसादि विषयों के दास, बहिर्मुख मानव, अभी भी शायद कहेंगे, "क्यों जी जब श्रीरामकृष्ण ने विवाह कर लिया तब एकाध पुत्र होने के बाद ही उन्हें पत्नी से शरीर सम्बन्ध तोड़ना था। यदि वे ऐसा करते तो उन्होंने यह भी दिखा दिया होता कि ईश्वर की सृष्टि की रक्षा करना यही मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। साथ ही साथ उन्होंने दिखा दिया होता कि शास्त्र की मर्यादा का भी पालन हुआ। क्योंकि यह शास्त्रवाक्य है कि विवाह करके कम से कम एक पुत्र उत्पन्न करने से मनुष्य पितृ-ऋण से मुक्त होता है।"

आइये इस प्रश्न पर अब हम विचार करें। "पहले आप ही यह बताइये कि सृष्टि नाम की जो वस्तु है उसे हम जितनी देखते हैं, या सुनते हैं, या विचार करते हैं वह क्या उतनी ही है ? विचित्रता ही सृष्टि का नियम है। मान लीजिये कि इसी क्षण से हम सब लोग एक ही प्रकार का कार्य करने लगें और एक ही प्रकार का विचार मन में लाने लगें तब तो सृष्टि का नाश इसी समय हो जावेगा। यदि यह बात सत्य है तो अब हम आप से यह पूछते हैं कि क्या सृष्टि की रक्षा के सब नियमों को आप समझ चुके हैं ? और क्या सृष्टिरक्षा की जवाबदारी आपने अपने सिर पर ले रखी है ? इसी कारण आप आज इस प्रकार ब्रह्मचर्य रहित और निस्तेज हो गये हैं ? इसका विचार आप अपने मन में करें। अथवा क्षण भर के लिये आप ऐसा सोचें कि यह सृष्टिरक्षा का एक नियम है और आप उसका पालन कर रहे हैं। पर आपका ऐसा आग्रह क्यों हो कि दूसरा भी उसी नियम का पालन

करे। ब्रह्मचर्य रक्षण के लिये और ऊँचे दर्जे की मानसिक शक्ति का विकास होने के लिये सामान्य विषयों में शक्ति का क्षय न करना, भी तो सृष्टि का ही नियम है। यदि सभी आपके समान हीन दर्जे के शक्तिविकास में ही पड़े रहें तो उच्च श्रेणी का आध्यात्मिक विकास प्राप्त करने और दिखाने के लिये कौन शेष रहेगा? और उसका लोप हुए बिना रहेगा ही नहीं।

दूसरी बात और यह है कि हमारा स्वभाव ही ऐसा है कि हम अपने लिये केवल अपने अनुकूल बातें ही शास्त्रों से चुनकर निकाल लेते हैं और बाकी बातों की ओर दुर्लक्ष करते हैं। पुत्रोत्पादन भी उसी तरह की एक अनुकूल चुनकर निकाली हुई बात है। क्योंकि अधिकार देखकर शास्त्रों में यह भी कहा है कि—

"यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।" अर्थात् "जिस क्षण संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जावे उसी क्षण संसार का त्याग कर देना चाहिये।" तब यदि श्रीरामकृष्ण आपके मत के अनुसार चले होते तो वे इस शास्त्रवाक्य की मर्यादा किस प्रकार पाल सकते थे? पितृऋण के सम्बन्ध में भी यही बात है। शास्त्र कहते हैं कि यथार्थ सन्यासी अपने सात पूर्वजों और सात वंशजों का अपने पुण्यबल से उद्धार करता है। तब फिर व्यर्थ चिन्ता करने के लिये हमें कोई कारण नहीं दिखाई देता कि ऐसा होते हुए श्रीरामकृष्ण अपने पितृऋण से मुक्त नहीं हो सके। अस्तु—

उपरोक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि श्रीरामकृष्ण देव के जीवन में विवाह की घटना हमारे सामने केवल उदाहरण रखने के लिये हुई थी। परमपूज्य माता जी श्रीरामकृष्ण को ईश्वर जानकर उनकी आजीवन पूजा करती रहीं। इससे यह स्पष्ट है कि उन्होंने हमारे सामने विवाहित जीवन का कितना ऊँचा और पवित्र आदर्श स्थापित किया है। यह संसार का नियम है कि मनुष्य अपनी दुर्बलता भले ही संसार के और सब लोगों से छिपा सके, पर अपनी स्त्री से वह उसे कदापि नहीं छिपा सकता। इस विषय में श्रीरामकृष्ण कभी २ कहते थे—"जितने लोग दिखते हैं—बड़े २ रायसाहेब, खानसाहिब, जज, मुनसिफ, मॅजिस्ट्रेट—सभी अपने घर के बाहर बड़े शूर वीर होते हैं पर अपनी स्त्री के

सामने सभी बेचारों को गुलाम बनना पड़ता है। भीतर से कोई हुक्म हुआ-फिर वह चाहे बिल्कुल अन्याय ही क्यों न हो-इन्हें वह शिरसावंद्य हो जाता है!" अतः यदि किसी पत्नी ने अपनी पति की ईश्वर के समान अन्तःकरण से भक्ति की, तो निःसन्देह यही जानो कि वह मनुष्य बाहर से जैसा आचरण करता है वैसा ही वह भीतर से भी है और उसमें कोई मिथ्याचार नहीं है। अस्तु—

श्रीरामकृष्ण की माता और बड़े भाई ने आसपास के गांवों में बहुत सी कन्याएँ देखीं, पर किसी न किसी कारण से विवाह पक्का कहीं नहीं हो सका। चन्द्रादेवी को बड़ी चिन्ता होने लगी कि विवाह किसी प्रकार ठीक हो जाए। उसका चित्त घर के काम काज में नहीं लगता था। इसी तरह कुछ दिन बीतने पर एक दिन भावावेश में श्रीरामकृष्ण--पीछे जैसे लिख चुके हैं—बोल उठे, " व्यर्थ इधर उधर कन्या ढूँढ़ने के लिये भटकने से कोई लाभ नहीं। जयरामवाटी ग्राम में रामचन्द्र मुखोपाध्याय के यहां जाओ। वहां विवाह के लिये कन्या तैयार मिलेगी।" श्रीरामकृष्ण के इन शब्दों पर किसी को एकदम विश्वास नहीं हुआ। तथापि कहावत है " डूबते को तिनके का सहारा।" तदनुसार चन्द्रादेवी सोचने लगी कि इतने स्थान देखे हैं वैसे यहां भी सही। अतः पता लगाने के लिये किसी को भेजा गया। उसने आकर बताया, " बाक़ी बातें कुछ भी हों पर लड़की बहुत छोटी है। उसका अभी हो ६ वां वर्ष लगा है।" पर अन्यत्र कहीं विवाह निश्चित होने के चिन्ह न देख चन्द्रामणी देवी ने वही लड़की पसन्द की और विवाह का मुहूर्त निश्चित हुआ। उस दिन रामेश्वर अपने भाई को लेकर जयरामवाटी को गया और वहां विधिपूर्ण विवाह करके अपने भाई के साथ लौटकर घर आया। यह ईस्वी सन् १८५९-६० के वैशाख कृष्ण पक्ष की बात है। श्रीरामकृष्ण का उस समय २४ वां वर्ष लगा था।

अपने पुत्र को विवाहित देखकर चन्द्रामणी का चित्त शान्त हुआ और ऐसी आशा उसे होने लगी कि अब मेरे पुत्र का लक्ष संसार और गृहस्थी की ओर थोड़ा बहुत लगेगा। परन्तु मण्डप की शोभा के लिये/वधू को पहिनाने के लिये गांव के ज़मींदार से उधार लाये हुए गहने अब वापस करने होंगे यह विचार मन में

आते ही अपने दरिद्री संसार का चित्र उसकी आँखो के सामने खड़ा हो गया। विवाह के दिन से ही वधू को वह अपने घर लिवा लाई और उसी दिन से उसने उसके साथ अत्यन्त प्रेमयुक्त व्यवहार आरम्भ कर दिया। अब उसके शरीर पर से अलंकार निकाल लेना उसे बड़ा कठोर जँचने लगा। यद्यपि उसने यह बात किसी से नहीं बताई, तथापि गदाधर के ध्यान में वह आ ही गई। उन्होंने दो चार बातें बताकर माता को सान्त्वना दी और एक रात अपनी पत्नी की नींद लग जाने पर उसके शरीर पर से गहने, उसे मालूम न होने देकर, धीरे से युक्तिपूर्वक निकाल लिये और अपनी माता के सामने लाकर रख दिये। माता ने सबेरे ही उन्हें जहाँ के तहाँ पहुँचा दिया। पर यह बात यहीं पर समाप्त नहीं हुई। प्रातः काल, उठने पर उस बालिका ने अपने शरीर पर गहने न देखकर अपनी सास से पूछा—"कल मैं जो गहने पहिनी थी वे कहाँ हैं?" यह सुनकर चन्द्रादेवी का हृदय भर आया, और वे बालिका को अपनी गोदी में बिठाकर उसे पुचकारती हुई बोलीं—"बेटी, मेरा गदाधर तेरे लिये इन से भी सुन्दर गहने बनवा देगा।" उस दिन लड़की का काका भी उससे भेंट करने आया था। उसे इन गहनों के उतरवाने का वृत्तान्त मालूम होते ही बड़ा क्रोध हुआ और लड़की को अपने साथ लेकर जयरामवाटी के लिये रवाना हो गया। इससे चन्द्रादेवी को बड़ा ही दुःख हुआ। पर श्रीरामकृष्ण ने उन्हें "अब चाहे कुछ भी हो, पर एक बार जो विवाह हो गया वह किसी के तोड़ने से टूट तो नहीं सकता? फिर इतनी कौनसी चिन्ता है?" इत्यादि बातें कहकर अपनी माता के दुःख को दूर किया।

विवाह के बाद लगभग ६-७ मास तक श्रीरामकृष्ण कामारपुकूर में ही रहे। घर की अवस्था को देखकर तथा वहां रहते हुए बहुत दिन हो गये, यह सोचकर उन्होंने कलकत्ता वापस जाने का इरादा किया। माता को यह विचार पसन्द नहीं आया। क्योंकि उसे चिन्ता थी कि अभी इसका वायुरोग अच्छा हो ही रहा है, और ऐसे समय में वहां फिर जाने से यदि रोग पुनः उलट पड़ा तो क्या अवस्था होगी। परन्तु श्रीरामकृष्ण उसे किसी तरह समझा बुझाकर उससे बिदा लेकर दक्षिणेश्वर को वापस आ गये और अपने काम में लग गये (१८६०-६१)। लौटने के बाद थोड़े ही दिन बीते होंगे कि वे अपनी पूजा के काम में पुनः ऐसे तन्मय हो गये कि माता, भाई, स्त्री, संसार, अपनी स्थिति और कामारपुकूर की सब

बातें बिल्कुल भूल गये। जगदम्बा का सदा सर्वकाल दर्शन कैसे हो, यही एक विचार उनके मन में घूमने लगा। रातदिन नामस्मरण, मनन, जप, ध्यान में ही निमग्न रहने के कारण उनका वक्षःस्थल पुनः सर्वकाल आरक्त दिखने लगा। सभी सांसारिक बातें पुनः विषवत् प्रतीत होने लगीं। सारे शरीर में पुनः विलक्षण दाह होने लगा और आँखों से नींद पुनः न मालूम कहां भाग गई। अन्तर यही रहा कि उन्हें इस प्रकार की अवस्था का पूर्ण अनुभव रहने के कारण पहिले के समान उनका चित्त इस समय डावांडोल नहीं हुआ।

हृदय के मुँह से यह सुनने में आया है कि श्रीरामकृष्ण की उन्मादावस्था पुनः प्राप्त होते देख मथुरबाबू ने उनके गात्रदाह और अनिद्रा के लिये गंगाप्रसाद सेन की चिकित्सा शुरू कराई। औषधि से तुरन्त कोई लाभ नहीं हुआ तथापि उससे निराश न होकर हृदय श्रीरामकृष्ण को साथ लेकर गंगाप्रसाद के घर बारम्बार जाने लगा। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "एक दिन गंगाप्रसाद ने विशेष ध्यानपूर्वक परीक्षा की और नई औषधि शुरू की। उस दिन वहाँ पूर्व बंगाल से एक वैद्य आये हुए थे। श्रीरामकृष्ण की परीक्षा उन्होंने भी की और वे बोले कि इसके लक्षणों पर से तो इसे देवोन्माद हुआ सा दिखता है। इसकी व्याधि योगाभ्यास के कारण उत्पन्न हुई है और इसे औषधि से कोई लाभ नहीं होगा। रोग के समान दिखने वाले मेरे सभी शारीरिक विकारों के सच्चे कारण को प्रथम उसी वैद्य ने पहिचाना। परन्तु उसके कहने पर किसी को विश्वास नहीं हुआ।"

दिन पर दिन बीतने लगे। मथुरबाबू और श्रीरामकृष्ण पर प्रेम करने वाले अन्य लोगों ने अपने ओर से प्रयत्नों की पराकाष्ठा कर दी, परन्तु रोग कम न होकर धीरे २ बढ़ता ही चला।

थोड़े ही दिनों में यह वार्ता कामारपुकूर पहुँची। बेचारी चन्द्रादेवी! अपने प्यारे पुत्र गदाधर के रोग का पुनः बढ़ने का समाचार पाकर पागल के समान हो गई। गृहस्थी में उसका चित्त ही नहीं लगता था; और ऐसी उद्विग्न अवस्था में निराशा के वेग में उसने अपने प्रिय पुत्र के कल्याणार्थ महादेव के पास धरना

देने का निश्चय किया। तथा वह वहाँ के "बूढ़े शंकर" के मन्दिर में जाकर प्रायोपवेशन करने बैठ गई। परन्तु वहां उसे यह आदेश हुआ कि "तू मुकुंदपुर के महादेव के सामने धरना दे, तब तेरी इच्छा पूर्ण होगी।" वहां से उठकर वह मुकुंदपुर के शिवालय में जाकर प्रायोपवेशन करने लगी। २-३ दिन बीत जाने पर एक रात्रि को शंकर ने स्वप्न में आकर उसे बताया कि "भय का कारण नहीं, तेरा लड़का न तो पागल हुआ है और न उसे कोई रोग ही है; केवल ईश्वर दर्शन की व्याकुलता से उसकी ऐसी अवस्था हो गई है।" धर्मपरायण और श्रद्धालु चन्द्रामणि देवी की चिन्ता इस स्वप्न से बहुत कुछ दूर हो गई। अस्तु—

इन दिनों ईश्वर दर्शन की कितनी प्रचंड व्याकुलता उनके अन्तःकरण में थी इस सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण हम से कहते थे, "साधारण जीवों के शरीर में और मन में—उस प्रकार की तो दूर ही रहे-यदि उसकी एक चतुर्थांश व्याकुलता भी उत्पन्न हो जाय तो शरीर उसी समय नष्ट हो जावेगा। दिन हो चाहे रात हो, सर्व काल श्री जगन्माता का किसी न किसी रूप में दर्शन हो तब तो ठीक है अन्यथा प्राणों में ऐसी उथल पुथल मच जाती है जिससे मालूम होता है कि अब प्राण निकलते हैं। इसके बाद पूरे छः वर्ष तक एक दिन भी नींद नाम को नहीं आई। आँखों की पलकों से जीव नष्ट प्राय हो गया था और मन में लेने पर भी पलकें ढँकती नहीं थीं। समय की सुध नहीं रहती थी और शरीर का ज्ञान समूल नष्ट हो गया था। माता के चरणों पर से कभी २ शरीर की ओर ध्यान जाता था, तब बड़ा डर लगता था—मन में मालूम होता था कि मैं पागल तो नहीं हो गया हूं? दर्पण के सामने खड़े होकर आँखों में अंगुली डालता था और देखता था कि पलकें गिरती हैं कि नहीं; पर होता क्या था? कुछ नहीं; पुतली को अंगुली से छूने पर भी पलकें ज्यों की त्यों बनी रहतीं थीं। यह देख बड़ा डर लगता था और रोते २ कहा करता था, 'माता! माता! एकाग्रचित्त से मैंने तेरी इतनी भक्ति की और तुझ पर इतना विश्वास रखा, उसका मुझे क्या तूने यही फल दिया है?' पर बाद में तुरन्त ही ऐसा भी

कहता था, ' माता ! तेरी जैसी इच्छा हो वही होने दे। शरीर जाय तो जाय पर केवल तू मुझे छोड़कर कहीं न जाना। माता, मुझे दर्शन दे। मुझ पर कृपा कर। तेरे सिवाय मेरा और कौन है !' इस प्रकार रोते २ मन में पुनः विलक्षण उत्साह उत्पन्न हो जाता था। शरीर बिल्कुल तुच्छ पदार्थ प्रतीत होने लगता था; और कुछ समय में जगन्माता का दर्शन होकर उनकी बातें सुनकर मन शान्त हो जाता था। "

लगभग इसी समय मथुरानाथ को श्रीरामकृष्ण के शरीर में श्री शंकर का और काली माता का दर्शन हुआ। उसका विस्तृत वर्णन "श्रीरामकृष्ण और थुरानाथ" शीर्षक वाले अध्याय में हो चुका है। इस दर्शन के समय से मथुरानाथ श्रीरामकृष्ण के प्रति भिन्न भाव से देखने लगे और उनके मन में उनके प्रति भक्ति और श्रद्धा अत्याधिक बढ़ गई। साधक अवस्था में मथुरानाथ जैसे धनवान् और श्रद्धासम्पन्न तेजस्वी भक्त की श्रीरामकृष्ण को आवश्यकता थी ही। इन दोनों का इतना अद्भुत प्रेम-सम्बन्ध जगन्माता ने इसी कारण जोड़ दिया हो तो कौन जान सकता है ? श्रीरामकृष्ण के जीवन चरित्र में ऐसी बहुत सी अचिन्त्य घटनाएँ हुई हैं, कि उनके योंही (सहज ही) हो जाने की बात मानने के लिये मन तैयार नहीं होता। मथुरानाथ और श्रीरामकृष्ण का अलौकिक प्रेम सम्बन्ध भी इसी प्रकार की एक अचिन्त्य घटना है। दूसरी घटना--उसी तरह की—एक भैरवी नाम्नी ब्राह्मणी का दक्षिणेश्वर में आगमन है। उसी बात का विस्तृत वर्णन अगले प्रकरण में किया गया है।

२०—भैरवी ब्राह्मणी का आगमन।

(१८६१–६२)

" उसके मुक्त (खुले हुए) केश और वात्सल्यभाव के कारण विह्वल अवस्था को देखकर, लोगों को ऐसा मालूम होता था कि मानो यह गोपाल विरह से व्याकुल नन्दरानी यशोदा ही है। "

— श्रीरामकृष्ण।

विवाह करके लौटने के बाद थोड़े ही दिनों में श्रीरामकृष्ण के जीवन से विशेष सम्बन्ध रखने वाली दो घटनाएँ हुईं। सन् १८६१ के आरम्भ में रानी रासमणि संग्रहणी रोग से बीमार पड़ीं। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि एक दिन सहज चलते २ रानी अकस्मात् ज़मीन पर गिर पड़ी और उसके शरीर में बहुत चोट लगी। उसी दिन उसको बहुत ज़ोर का ज्वर भी आ गया; सारे शरीर में दर्द होने लगा और तीन चार दिनों में उसे संग्रहणी रोग हो गया।

पीछे बता चुके हैं कि दक्षिणेश्वर का काली मन्दिर तैयार होने पर उसमें ता. ३१ मई सन् १८५५ के दिन श्री जगदम्बा की प्राणप्रतिष्ठा हुई। मन्दिर का सब कार्य ठीक २ चलाने और किसी बात की कमी न होने देने के हेतु से उसने इसी साल २९ अगस्त के दिन २,२६,०००) में दिनाजपूर ज़िले मे कुछ ज़मीन मोल ली। क़ानून के अनुसार उस ज़मीन का नियमित रूप से दानपत्र लिख देने का विचार उसके मन मे होते हुए भी कई कारणों से वह कार्य बहुत दिनों तक स्थगित रहा। संग्रहणी रोग से रुग्ण शय्या में पड़ जाने पर, इस बात

को निपटा देने के लिये उसके मन में पुनः तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। उसकी चार लड़कियों में से दूसरी, श्रीमती कुमारी और तीसरी, श्रीमती करुणामयी काली मन्दिर पूरा बनने के पूर्व ही मर गई थीं। अतः उसकी अन्तिम बीमारी के समय उसकी सब से बड़ी लड़की श्रीमती पद्मिनी, और सब से छोटी श्रीमती जगदम्बा, ये दो ही लड़कियाँ थीं। अस्तु—

दानपत्र तैयार होकर आने के बाद इस सम्पत्ति के सम्बन्ध में आगे चलकर कोई झगड़े न हों इस हेतु से रानी ने "यह दानपत्र हमें कबूल है" इस आशय का सम्मति पत्र लिखाकर उस पर अपनी दोनों लड़कियों को हस्ताक्षर करने के लिये कहा। जगदम्बा दासी ने तो हस्ताक्षर कर दिया, परन्तु बड़ी लड़की पद्मिनी ने इन्कार कर दिया। इस कारण मृत्यु शय्या पर भी रानी के जीव को शान्ति नहीं मिली। अन्त में रानी ने श्री जगदम्बा की इच्छा पर निर्भर होकर, अपने चित्त को समाधान करती हुई ता. १८ फरवरी १८६१ के दिन दानपत्र पर स्वयं अपना हस्ताक्षर कर दिया। उसके दूसरे ही दिन, अर्थात् ता. १६ फरवरी को उसका रोग बढ़ गया और उसी दिन उसका स्वर्गवास भी हो गया।

श्रीरामकृष्ण कहते थे, "अन्तिम दिनों में रानी रासमणि गंगा के किनारे अपने निवासगृह में रहने के लिये आ गई थी। उसके देहावसान के एक दो दिन पूर्व एक रात्रि को उसका ध्यान समीप ही जलते हुए किसी दीपक की ओर गया। वह एकदम बोल उठी, "ये सब दीपक यहां से निकाल डालो। यह सब रोशनी मुझे नहीं चाहिये। अब तो यह देखो जगन्माता ही यहां आ गई हैं। उनके शरीर की प्रभा को देखो, वह प्रभा किस तरह चारों ओर फैली हुई है।" थोड़ा ठहरकर वह पुनः बोली, "माता! तू आ गई? पद्मा ने हस्ताक्षर नहीं किया। अब कैसा होगा माता?" इससे ऐसा दिखता है कि उसके मन पर रोग की अपेक्षा इस चिन्ता का ही परिणाम अधिक हुआ था। अस्तु—

काली मन्दिर में श्री जगदम्बा की प्राणप्रतिष्ठा होने के समय से वहां की सब व्यवस्था मथुरानाथ ही करते थे। अतः रानी की मृत्यु के बाद भी वहां की व्यवस्था पूर्ववत् वे ही करते रहे। उनका पहिले से ही श्रीरामकृष्ण पर बहुत प्रेम

था। पर अब रानी की मृत्यु हो जाने से मन्दिर की सब व्यवस्था इनके अकेले के ही हाथ में आ गई, इसलिये श्रीरामकृष्ण को साधनकाल में हर प्रकार की आवश्यक सहायता देने के लिये इन्हें पूरा अवसर मिल गया। ऐसी अपार सम्पत्ति के मालिक होते हुए भी उनकी प्रवृत्ति कुमार्ग की ओर नहीं गई और वे श्रीरामकृष्ण की हर तरह से सहायता करने में अपने को धन्य मानते थे, इससे उनको कितना बड़ा सौभाग्य प्राप्त था, यह कल्पना की जा सकती है। अस्तु—

श्रीरामकृष्ण की उच्च आध्यात्मिक अवस्था की कल्पना इस समय तक बहुत कम लोगों को थी। बहुतेरे लोग तो उन्हें "पागल" या "दिमाग़ फिरा हुआ" ही समझते थे। जिस मनुष्य को स्वयं अपना हित अनहित मालूम नहीं पड़ता, जिसे किसी लौकिक विषय में उत्साह नहीं है, रानी रासमणि और मथुरानाथ जैसों की प्रसन्नता से जो स्वयं अपना फ़ायदा नहीं उठाता—ऐसे मनुष्य को वे और क्या कहें? सब को इतना अवश्य दिखाई देता था कि इस पागल मनुष्य में कुछ अलौकिक मोहनी भरी है, जिसके कारण हर एक उसे चाहता है। यद्यपि बहुतों की यह धारणा थी, तथापि मथुर नाथ कहा करते थे, "इन पर श्री जगदम्बा की कृपा हो चुकी है, इसी कारण इनका व्यवहार किसी उन्मत्त के समान है।"

रानी रासमणि की मृत्यु के बाद शीघ्र ही, श्रीरामकृष्ण के जीवन में अत्यन्त महत्त्व की एक और घटना हुई। उस समय दक्षिणेश्वर में काली मन्दिर के अहाते में पश्चिम की ओर गंगा के किनारे एक सुन्दर फुलवाड़ी थी। उस फुलवाड़ी में अनेक प्रकार के फूल के पौधे थे, जिनकी सुगंध से दसों दिशाएँ सुगंधित रहती थीं। इस फुलवाड़ी में श्रीरामकृष्ण नित्य नियम से जाते थे और श्री जगदम्बा के हार के लिये फूल इकट्ठे करते थे। इस फुलवाड़ी से ही गंगा जी में उतरने के लिये सीढ़ियाँ बनाई गई थीं। पास ही औरतों के लिये अलग घाट बंधा हुआ था। उस घाट पर एक बकुल का बड़ा वृक्ष था, इस कारण उस घाट को 'बकुलतला घाट' कहा करते थे।

एक दिन प्रातः काल फूल तोड़ते समय श्रीरामकृष्ण को बकुलतला घाट की ओर एक नौका आती हुई दिखाई दी। वह नौका घाट के पास आकर

रुक गई और उसमें से पुस्तकें आदि की एक गठरी हाथ में लिए हुई एक स्त्री उतरी और दक्षिणी घाट पर के घरों की ओर जाने लगी। उस स्त्री के केश लम्बे २ और खुले हुए थे। उसका वेष भैरवी का सा, और उसके वस्त्र गेरुए रंग के थे। उसकी आयु लगभग ४० वर्ष की थी पर उसका रूप इतना अलौकिक था कि वह इतनी प्रौढ़ अवस्था की किसी को मालूम नहीं पड़ती थी। उसका दर्शन होते ही श्रीरामकृष्ण को मानो वह कोई अपनी आत्मीय या स्वजन सी मालूम होने लगी। वे तुरन्त ही अपने कमरे को लौट आये और हृदय से बोले, "हृदू, उस घाट पर अभी एक भैरवी आई है। जा, उसे इधर ले आ।" हृदय बोला, "पर मामा! वह स्त्री बिना जान पहिचान की है। उसे बुलाने से वह व्यर्थ ही इधर कैसे आवेगी?" श्रीरामकृष्ण बोले, "उससे कहो कि मैंने बुलाया है, तब वह आ जावेगी।" उस अनजान सन्यासिनी से भेंट करने का अपने मामा का आग्रह देखकर हृदय को बड़ा अचरज मालूम पड़ा, पर वह करे क्या! मामा की आज्ञा माननी ही थी। इसलिये वह उस घाट पर तुरन्त गया और उस भैरवी से बोला, "मेरे मामा बड़े ईश्वर भक्त हैं; उन्होंने तुम्हारा दर्शन लेने के लिये तुम्हें बुलाया है।" यह सुनते ही वह सन्यासिनी हृदय से एक भी प्रश्न किये बिना ही उठ खड़ी हुई और उसके साथ आने के लिये चल पड़ी! यह देखकर हृदय के आश्चर्य की सीमा नहीं रही।

वह सन्यासिनी हृदय के साथ श्रीरामकृष्ण के कमरे में आई। उन्हें देखते ही उसके आनन्द का ठिकाना नहीं रहा। उसकी आँखों में आनन्दाश्रु भर आये। फिर वह बोली, "बाबा! तो तुम यहीं थे? तुम्हारा गंगा के किनारे कहीं पता न पाकर मैं इतने दिनों तक तुम्हें ढूंढ़ती रही, अन्त में तुम यहां मिल ही गये!"

बाल स्वभाव वाले श्रीरामकृष्ण बोल उठे, "पर माता! तुमको मेरा समाचार कैसे मालूम हुआ!" सन्यासिनी बोली—"मुझे श्री जगदम्बा की कृपा से पहिले ही मालूम हो चुका था कि तुम तीनों की भेंट होने वाली है; शेष दो की भेंट इसके पहिले पूर्व बंगाल में हो चुकी है और अब यहां तुम से भी भेंट हो गई!"

तदनन्तर जैसे कोई छोटा बालक अपनी माता के पास बैठकर बड़े स्नेह से उसके साथ बातें करता है, उसी तरह उस सन्यासिनी के पास बैठकर श्रीरामकृष्ण अनेक प्रकार की बातें करने लगे। उन्हें कौन २ से अलौकिक दर्शन प्राप्त हुए; ईश्वर चिन्तन से उनका बाह्यज्ञान किस तरह नष्ट हो जाता है; उनके शरीर में कैसे निरन्तर दाह होता है; उनकी नींद कैसे उचट गई है आदि सभी बातें वे दिल खोलकर उससे कहने लगे और पूछने लगे कि "मेरी ऐसी अवस्था क्यों हुई ? माता ! मैं क्या सचमुच पागल हो गया हूं ? और क्या जगदम्बा की अन्तःकरणपूर्वक भक्ति करने से मुझे सचमुच कोई रोग हो गया है ?" श्रीरामकृष्ण के मुख से ये सारी बातें सुनते हुए उसका अन्तःकरण आनन्द से खिल रहा था। श्रीरामकृष्ण की बात समाप्त होने पर वह बड़े स्नेह के साथ उनसे बोली, "बाबा ! तुम्हें कौन पागल कहता है ? यह पागलपन नहीं है। यह तो महाभाव है। इसीके कारण तुम्हारी ऐसी अवस्था हुई है ? क्या इस अवस्था को समझना भी किसी के लिये सम्भव है ? इसी कारण वे बेचारे तुमको पागल कहते हैं ! ऐसी अवस्था हुई थी एक तो श्रीमती राधिका जी की और दूसरे श्री चैतन्य महाप्रभु की ! ये सब बातें भक्तिशास्त्र में हैं। मेरे पास वे सब पोथियाँ हैं। उनमें से मैं तुम्हें दिखा दूंगी कि जो कोई पूर्ण अन्तःकरणपूर्वक ईश्वर की भक्ति करते हैं उनकी ही ऐसी अवस्था होती है।"

हृदय पास ही खड़ा था। वह उन दोनों का सारा सम्वाद सुनकर और उनका बिल्कुल परिचित मनुष्यों के समान पारस्परिक व्यवहार देखकर दंग रह गया।

इस प्रकार बड़े आनन्द में कुछ समय बीतने के बाद बहुत विलम्ब हुआ देखकर श्रीरामकृष्ण ने देवी का प्रसाद, फल, मिठाई आदि मंगाकर उस सन्यासिनी को दिया। उसने भी उनमें से कुछ अंश ग्रहण किया। श्रीरामकृष्ण ने उसके साथ घूमकर उसे सब मन्दिर दिखलाये। देव दर्शन और फलाहार हो जाने के बाद उसने अपने गले में रखी हुई रघुवीर शिला के नैवेद्य के लिये कोठी से सीधा लेकर स्नानादि निपटाकर पंचवटी के नीचे रसोई बनाना प्रारम्भ किया।

भोजन पक जाने पर उसने मुख से श्रीरघुवीर शिला को निकाला और उसके सामने नैवेद्य की थाली परोसकर आप ध्यानस्थ बैठ गई। उस ध्यान में उसे एक अपूर्व दर्शन प्राप्त हुआ जिससे उसे समाधि लग गई। उसकी आँखों से प्रेमाश्रुधारा बहने लगी और उसका बाह्यज्ञान बिल्कुल नष्ट हो गया। उसी समय इधर श्रीरामकृष्ण को अपने कमरे में ही बैठे २ पंचवटी की ओर जाने की अति उत्कट इच्छा हुई। जब वे उठकर पंचवटी की ओर आ रहे थे, तो रास्ते में ही उन्हें भावावस्था प्राप्त हो गई। वे उसी अवस्था में ही वहां पहुँचे और अपने कार्य का बिल्कुल भान न होते हुए वे उस रघुवीर शिला के सामने के नैवेद्य को खाने लगे। जब कुछ समय के बाद ब्राह्मणी की समाधि उतरी, तब श्रीरामकृष्ण को भावावेश में यह कार्य करते देख वह विस्मय और आनन्द से रोमांचित हो उठी। कुछ समय के पश्चात् श्रीरामकृष्ण को भी होश होने पर तथा अपने हाथ से यह कार्य हुआ देखकर उन्हें भी आश्चर्य होने लगा। वे बोले, "यह विचित्र कार्य मेरे हाथ से कैसे हो पड़ा यह मेरी भी समझ में नहीं आता।" यह सुनकर ब्राह्मणी उन्हें माता के समान धीरज देती हुई बोली—"बाबा! तुमने ठीक किया। यह काम तुमने नहीं किया, पर तुम में जो कोई है उसने किया। मैं अभी ध्यानस्थ बैठी हुई जो कुछ देख रही थी उससे यह कार्य किसने किया और क्यों किया, यह मैं पूर्ण रीति से जान गई हूँ। मुझे अब पूर्ववत् पूजा करने की आवश्यकता नहीं रही; इतने दिनों तक मैंने जो पूजा की सो सब आज सार्थक हो गई।" यह कहती हुई उस ब्राह्मणी ने बिना किसी संकोच के श्रीरामकृष्ण की थाली में बचे हुए अन्न को देव का प्रसाद जानकर भक्षण किया। श्रीरामकृष्ण के शरीर में श्रीरघुवीर का प्रत्यक्ष आविर्भाव देखकर उस ब्राह्मणी का अन्तःकरण भक्ति और प्रेम से पूर्ण हो गया। उसका गला भर आया तथा आँखों से आनन्दाश्रु बहने लगे। उसी अवस्था में ही इतने दिनों तक जिस श्रीरघुवीर शिला की वह पूजा करती रही—उस शिला को उसने श्री गंगा जी में जलसमाधि दे दी!!

उन दोनों में प्रथम दिन ही जो प्रेम और वात्सल्य भाव उत्पन्न हुआ था वह दिनों दिन बढ़ता ही गया और ब्राह्मणी भी दक्षिणेश्वर में ही रहने लगी। ईश्वर सम्बन्धी वार्ता और अन्य आध्यात्मिक विषयों की चर्चा में दोनों के दिन इस

तरह बीतने लगे कि उन्हें ध्यान तक नहीं रहता था। श्रीरामकृष्ण उसे अपने आध्यात्मिक दर्शन और अवस्था के सम्बन्ध की सभी गूढ़ बातें खुले दिल से बता दिया करते थे और उनके विषय में अनेक प्रकार के प्रश्न पूछते थे। ब्राह्मणी भी भिन्न २ तन्त्र ग्रन्थों के आधार से उत्तर देकर उनका समाधान किया करती थी। कभी कभी वह चैतन्य भागवत तथा चैतन्य चरितामृत ग्रन्थों से वाक्य पढ़कर अवतारी पुरुषों के देह और मन में ईश्वर प्रेम के प्रबल वेग जन्य लक्षण और विकार की विवेचना करके उनके संशय दूर करती थी। इस प्रकार पंचवटी में दिव्य आनन्द का स्रोत उमड़ पड़ा था।

इस दिव्य आनन्द में छः सात दिन बीत जाने पर तीक्ष्ण दृष्टि सम्पन्न श्रीरामकृष्ण के मन में यह बात आई कि यद्यपि ब्राह्मणी में तिल मात्र भी दोष की सम्भावना नहीं है, तथापि इसको इस स्थान में रखना उचित नहीं है। काम और कञ्चन में आसक्त लोग उस पवित्र सन्यासिनी के विषय में कुछ न कुछ शंका करने लगेंगे और सोचकर उन्होंने ब्राह्मणी से यह बात प्रकट भी कर दी। ब्राह्मणी को भी उनका कहना ठीक दिखा। उसने पास के किसी गाँव में रहकर श्रीरामकृष्ण की भेंट के लिये प्रतिदिन आने का निश्चय करके, उसी दिन अपना डेरा-डंडा दक्षिणेश्वर से उठाकर समीप ही दक्षिणेश्वर ग्राम के देवमण्डल घाट पर ले गई। उस ग्राम के सीधे साधे, भोले भाले और धर्मनिष्ठ लोगों को ब्राह्मणी अपने अलौकिक गुणों के कारण शीघ्र ही प्रिय हो गई। वहाँ उसके रहने तथा भिक्षा की ठीक ठीक व्यवस्था भी हो गई। वह नित्य नियम से श्रीरामकृष्ण के पास जाने लगी। वह अपनी पहिचान की स्त्रियों से भिक्षा में नाना प्रकार के भोज्य पदार्थ मांगकर अपने साथ ले जाती थी और अत्यन्त वात्सल्य भाव से श्रीरामकृष्ण को खिलाया करती थी। कहते हैं कि उस घाट पर रहते समय उसका अन्तःकरण वात्सल्य भाव से भर आता था। उस अवस्था में वह हाथ में मक्खन का गोला लेकर "गोपाल, गोपाल" कहती हुई ज़ोर ज़ोर से चिल्लाती थी। उसी समय इधर श्रीरामकृष्ण को भी ब्राह्मणी से भेंट करने की अत्यन्त उत्कट इच्छा होती थी। कहते हैं कि उस समय जैसे कोई छोटा बालक अपनी माता के पास दौड़ा चला जाता है उसी तरह श्रीरामकृष्ण उसकी ओर दौड़े जाते थे, और उसके हाथ से वह मक्खन खा लेते थे। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि "उसके खुले हुए

केश और वात्सल्य भाव से उत्पन्न हुई विह्वल अवस्था को देखकर, लोगों को यह मालूम होता था कि यह श्री गोपाल विरह से व्याकुल नन्दरानी यशोदा तो नहीं है!"

श्रीरामकृष्ण के मुख से उनके आध्यात्मिक अनुभव और अवस्था को सुनकर ब्राह्मणी को निश्चय हो गया कि यह सब अवस्था असाधारण ईश्वर प्रेम के कारण ही उत्पन्न हुई है। ईश्वर की बातें करते समय श्रीरामकृष्ण को जो आनन्द आता था, उन्हें जो अपने देह की सुधि भी न रहती थी, यह प्रत्यक्ष देखकर उसे निस्सन्देह मालूम हो गया कि ये कोई सामान्य साधक नहीं हैं। उसे जीवों के उद्धार के लिये चैतन्य देव का पुनः अवतार होने का बारम्बार स्मरण होने लगा जो श्री चैतन्य चरितामृत और श्री चैतन्य भागवत ग्रन्थों में लिखा हुआ है। चैतन्य देव के आचार व्यवहार के विषय में उन ग्रन्थों में जो कुछ पढ़ा था, वह सब श्रीरामकृष्ण में सांगोपांग मिलते हुए देखकर उसे आश्चर्य और समाधान भी हुआ। चैतन्य देव का शारीरिक दाह और उनकी अलौकिक क्षुधा जिन सरल उपायों से दूर होने की बात उन ग्रन्थों में वर्णित है, उन्हीं उपायों को इसने श्रीरामकृष्ण पर अजमाया और अचरज की बात है कि उनसे उन्हें तत्काल लाभ भी हुआ। इन सब बातों से उसकी पूर्ण धारणा हो गई कि इस समय श्री चैतन्य और नित्यानन्द दोनों ही ने एक ही शरीर में अवतार लिया है। पीछे कह आये हैं कि शिउड़ गांव को जाते समय श्रीरामकृष्ण को जो विचित्र दर्शन हुआ था उसे उन्हीं के मुँह से सुनकर ब्राह्मणी बोली, " इस समय नित्यानन्द और चैतन्य का अवतार एक ही देह में हुआ है। "

ब्राह्मणी संसार की किसी भी बात के लिये किसी पर अवलम्बित नहीं थी। अतः उसे किसी की प्रसन्नता या अप्रसन्नता की परवाह करने का कोई कारण नहीं था। इसलिये उसे श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में अपनी स्पष्ट धारणा किसी के भी पास बतला देने में बिलकुल संकोच नहीं होता था। उसने श्रीरामकृष्ण के बारे में अपनी राय पहले उन्हीं को और बाद में हृदय को बतला दी। जो कोई भी पूछता था, उससे वह अपना मत स्पष्ट प्रकट कर देती थी। एक दिन श्रीरामकृष्ण और मथुरबाबू दोनों पंचवटी में बैठे थे। हृदय भी समीप ही था। बातें करते २ श्रीरामकृष्ण ने अपने सम्बन्ध में ब्राह्मणी का जो कहना था उसे मथुरबाबू को

बतला भी दिया। वे बोले, " वह कहती है कि अवतारी पुरुषों के जो लक्षण होते हैं वे सब तुम में हैं। उसने कितने ही शास्त्रों का अध्ययन किया है और वे सब पोथियाँ भी उसके पास हैं।" श्रीरामकृष्ण का यह सीधा साधा और खुले दिल से बोलना सुनकर मथुरबाबू को आनन्द हुआ और वे हँसते हँसते बोले, " लेकिन बाबा, उसने कुछ भी कहा हो पर अवतार तो दस से अधिक नहीं है न? तब भला उसका कहना कैसे सच हो सकता है? तथापि तुम पर जगदम्बा की कृपा है इतनी बात तो बिल्कुल सत्य है।"

इनकी ये बातें हो रही थीं कि इतने ही में वहां एक सन्यासिनी आती हुई दिखी। उसे देखकर मथुर ने श्रीरामकृष्ण से पूछा, " क्या यही है वह सन्यासिनी?" श्रीरामकृष्ण बोले, "हाँ!" उसके हाथ में मिष्टान्न भरी एक थाली थी जिसके पदार्थ श्रीरामकृष्ण को वह अपने हाथ से खिलाने के लिये आ रही थी। पास आने पर उसने श्रीरामकृष्ण के समीप बैठे हुए मथुरबाबू की ओर देखते ही अपना भाव रोक लिया और अपने हाथ की थाली को हृदय के हवाले कर दी। इतने में जैसे छोटा बालक अपनी माता के पास किसी का उलहना देता है, उसी तरह श्रीरामकृष्ण मथुरबाबू की ओर अंगुली दिखाते हुये उससे बोले, " क्यों यह क्या बात है? तू मुझसे जो कहा करती है वही मैंने अभी इसको बताया है, पर यह तो कहता है कि अवतार दस ही है।" इतने में मथुरबाबू ने सन्यासिनी को नमस्कार किया और उसे बतलाया कि मैंने सचमुच यही कहा। सन्यासिनी ने उन्हें आशीर्वाद देकर कहा, " क्यों भला? क्या प्रत्यक्ष श्रीमद्भागवत् में मुख्य २ चौबीस अवतारों की कथा बताकर भविष्य में और भी असंख्य अवतार होने की बात नहीं लिखी है? इसके सिवाय वैष्णव ग्रन्थों में महाप्रभु श्री चैतन्य देव का पुनः अवतार होना स्पष्ट कहा गया है। श्री चैतन्य देव और इन में बहुत साम्य दिख रहा है। श्रीमद्भागवत् और अन्य वैष्णव ग्रन्थ पढ़े हुए किसी भी पण्डित से पूछ देखिये, वह इस बात को स्वीकार ही करेगा। मैं अपनी उक्ति का समर्थन करने के लिये उससे शास्त्रार्थ करने को तैयार हूं।" ब्राह्मणी का यह स्पष्ट और आत्मविश्वास पूर्ण वाक्य सुनकर मथुर चकित होकर चुप हो गया, परन्तु किसी बिलकुल अपरिचित और भिक्षावृत्ति से रहने वाली सन्यासिनी के कथन और पाण्डित्य पर उसके समान तर्कशील मनुष्य को सहसा विश्वास भी

कैसे हो ? उसे भास हुआ कि जैसे हाल ही में एक वैद्यराज भी उन्हें महापुरुष कह गये थे, उसी प्रकार यह सन्यासिनी भी कहती होगी। तो भी ब्राह्मणी के कहने में उसे बहुत कुतूहल दिख पड़ा। तब मथुरबाबू ने श्रीरामकृष्ण के भी आग्रह से सन्यासिनी के कहने के अनुसार पण्डितों की एक सभा बुलाने का निश्चय किया। श्रीरामकृष्ण ने तो छोटे बालक के समान उससे हठ पकड़ लिया कि "अच्छे २ पण्डित बुलाकर ब्राह्मणी के कथन की सचाई या झुठाई का उनसे फैसला कराना ही चाहिये।" श्रीरामकृष्ण के इस हठ के सामने बेचारा मथुरबाबू क्या करता ? सब प्रकार की अनुकूलता रहते हुए जैसे कोई प्रेमी पिता अपने इकलौते लड़के का लाड़ प्यार पूरा करने में आनन्द और स्वयं को धन्य मानता है, वही स्थिति, वही अवस्था, मथुरबाबू की थी। शीघ्र ही उसने बड़े उत्साह से पण्डितों की एक सभा बुलवाई।

इस आमन्त्रित पण्डित समाज में वैष्णवचरण प्रमुख थे। वैष्णवचरण की कीर्ति श्रीमद्भागवत् की कथा का अत्यन्त सुन्दर रीति से प्रवचन करने के कारण चारों ओर फैली हुई थी।

वैष्णवचरण केवल पण्डित ही नहीं थे, वरन् वे भक्त और साधक भी थे। अपनी ईश्वर भक्ति और शास्त्रज्ञान विशेषतः भक्ति शास्त्र के ज्ञान के कारण वे तत्कालीन वैष्णव समाज के एक प्रधान नेता गिने जाते थे और उसी दृष्टि से वैष्णव समाज में उनका मान भी था। कोई भी धार्मिक प्रश्न उपस्थित होने पर उसके विषय में वैष्णवचरण का मत सुनने के लिये सब लोग उत्सुक रहा करते थे। वैसे ही अनेक भक्त साधक भी, उन्हीं के बताये हुए मार्ग से साधन भजन किया करते थे।

कोई २ कहते हैं कि वैष्णवचरण का परिचय मथुरबाबू को प्रथम ब्राह्मणी ने ही कराया था और उन्हें निमन्त्रण देने के लिये कहा था। चाहे जैसे भी हो, सभा के लिये वैष्णवचरण को मथुरबाबू ने बुलवाया जरूर था। सभा का दिन उदय हुआ और वैष्णवचरण तथा अन्य पण्डितगण सभा में पधारे। विदुषी ब्राह्मणी और मथुरबाबू के साथी भी सभा में उपस्थित थे।

सभा आरम्भ हुई और श्रीरामकृष्ण की अवस्था के सम्बन्ध में विचार होने लगा। ब्राह्मणी ने श्रीरामकृष्ण की इस दशा के विषय में लोगों के मुँह से जो सुना था और स्वयं जो कुछ देखा था, उस सब का उल्लेख करते हुए पूर्व कालीन महान् भगवद्भक्तों की जो अवस्था भक्ति शास्त्रों में वर्णित है उसकी और श्रीरामकृष्ण की वर्तमान अवस्था की बिल्कुल समानता बतलाकर, अपना मत प्रकट किया और वह वैष्णवचरण की ओर लक्ष्य करती हुई बोली, "यदि आपका इस विषय में भिन्न मत है तो उसका कारण मुझे विस्तारपूर्वक बताइये।" अपने लड़के का पक्ष लेकर माता जिस तरह दूसरों से लड़ने के लिये तैयार हो जाती है, वही भाव आज ब्राह्मणी का भी था। आज जिनके सम्बन्ध में यह सारा वाद विवाद हो रहा था वे श्रीरामकृष्ण क्या कर रहे थे? हमारी आँखों के सामने उनका उस समय का चित्र स्पष्ट दिख रहा है। सारी सभा बैठी हुई है। उस पण्डित सभा में वे भी भोले वेष में बैठे हैं। वे अपने ही आनन्द ही आनन्द में निमग्न हैं। उनके मुख पर मृदु हास्य झलक रहा है। पास ही बादाम, पिस्ते, मुनक्का से भरी रखी हुई एक थैली से एकाध दाना निकालकर वे बीच २ में अपने मुँह में डाल रहे हैं और सारा संवाद ऐसे ध्यान से सुन रहे हैं कि मानो यह विवाद किसी दूसरे ही मनुष्य के सम्बन्ध में हो रहा हो! बीच में ही वे श्री वैष्णवचरण को स्पर्श करके अपनी किसी विशेष अवस्था के विषय में "यह देखिये मुझे ऐसा २ होता है" आदि वर्णन करके बतला रहे हैं।

कोई कोई कहते हैं कि श्रीरामकृष्ण को देखते ही वैष्णवचरण ने अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा इनका महापुरुष होना जान लिया था। परन्तु ऐसा हो या न हो, श्रीरामकृष्ण की अवस्था के सम्बन्ध में ब्राह्मणी ने जो विवेचन किया था वह उन्हें पूर्णतः जँच गया और उन्होंने भरी सभा में अपना मत भी उसी प्रकार प्रकट कर दिया। यह बात हमने श्रीरामकृष्ण के मुख से सुनी है। इतना ही नहीं, परन्तु वैष्णवचरण ने यह भी कहा कि "जिन उन्नीस प्रकार के भिन्न २ भावों या अवस्थाओं के एक साथ होने से महाभाव होता है, वे सब अवस्थाएँ केवल श्री राधा और श्री चैतन्य महाप्रभु में ही एकत्र दिखाई दी थीं। वही सब अवस्थाएँ इनमें भी प्रकट हुई हैं। किसी महा भाग्यवान् को यदि महाभाव का थोड़ा सा आभास प्राप्त हो, तो इन उन्नीस में से अधिक से अधिक दो चार अवस्थाएँ

ही दिखाई देती हैं। इन सभी उन्नीस अवस्थाओं का उद्दाम वेग सहन करने में आज तक कोई भी मानव शरीर समर्थ नहीं हुआ।"

मथुरानाथ आदि सब लोग वैष्णवचरण का यह भाषण सुनकर बिल्कुल आश्चर्य चकित हो गये। श्रीरामकृष्ण को भी यह बात सुनकर आनन्द हुआ और वे आनन्दपूर्वक मथुरबाबू से कहने लगे, "सुन लिया ये क्या कहते हैं? बाकी चाहे कुछ भी हो, इतना तो निश्चय है कि मुझे कोई रोग नहीं हुआ है यह सुनकर मुझे बड़ा ही समाधान हुआ।"

२१—वैष्णवचरण और गौरीपण्डित का वृत्तान्त।

" जितने मत हैं उतने ही मार्ग हैं। अपने मत पर निष्ठा रखनी चाहिये, पर दूसरों के मत की निन्दा नहीं करनी चाहिये।"

" सिद्धियाँ परमेश्वर प्राप्ति के मार्ग में बड़े विघ्न हैं।"

" विवेक और वैराग्य के बिना शास्त्रज्ञान व्यर्थ है।"

—श्रीरामकृष्ण।

वैष्णवचरण ने श्रीरामकृष्ण के बारे में जो मत प्रकट किया वह निरर्थक, या यों ही कहा हुआ कदापि नहीं था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि उस दिन से श्रीरामकृष्ण पर उनकी श्रद्धा और भक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती चली जाती थी। श्रीरामकृष्ण के सत्संग का लाभ उठाने के लिये वे बारम्बार दक्षिणेश्वर आने लगे। अपनी सब गुप्त साधनाओं का वृत्तान्त श्रीरामकृष्ण को बतलाकर उनके सम्बन्ध में उनका कथन सुनने लगे और अपने ही समान अपनी पहिचान के अन्य साधकों को भी श्रीरामकृष्ण के दिव्य सत्संग का लाभ उठाने के लिये बीच २ में उनके पास लाने लगे। श्रीरामकृष्ण को भी उनकी संगति से गुप्त साधनाओं की जानकारी प्राप्त हुई। साधारण लोगों की दृष्टि में जो दूषित और निन्द्य साधन हैं और वे भी यदि " ईश्वर प्राप्ति " के हेतु से अन्तःकरणपूर्वक किये जावें, तो उनके अनुष्ठान से

साधक का कभी अधःपतन नहीं होता है; वरन् वह धीरे २ त्यागी और संयमी होकर उत्तरोत्तर आध्यात्मिक उन्नति ही प्राप्त करता है, और अन्त में उसे शुद्ध-भक्ति प्राप्त होती है यह तत्व भी श्रीरामकृष्ण ने इन्हीं की संगति से सीखा। इस प्रकार के साधनों की बात सुनकर और कुछ साधनों को प्रत्यक्ष देखकर श्रीरामकृष्ण कहते थे—"मुझे पहले पहल ऐसा लगा कि ये लोग बातें तो बड़ी २ करते हैं, पर इतनी हीन श्रेणी की साधनाएँ क्यों करते हैं? परन्तु इन में जो यथार्थ श्रद्धावान् थे उनकी प्रत्यक्ष आध्यात्मिक उन्नति होते देखकर उनके मन का संशय दूर हुआ। इस प्रकार के साधन मार्ग के अवलम्बन करने वाले लोगों के सम्बन्ध में हमारे मन की तिरस्कार बुद्धि को दूर करने के उद्देश से वे बोले, "भाईयों! तिरस्कार बुद्धि क्यों होनी चाहिये? ऐसा ही क्यों न समझो कि वह भी एक पंथ है। क्या घर में जाने के लिये अनेक भिन्न २ मार्ग नहीं होते? बड़ा दरवाज़ा, पीछे का दरवाज़ा, खिड़की, पाखाना साफ़ करने वाले भंगी के लिये एक अलग दरवाज़ा—इसी प्रकार ऐसे साधन को भी उसी प्रकार का एक दरवाज़ा जानो। घर में किसी भी मार्ग से भीतर जाओ पर सब पहुँचेंगे एक ही स्थान पर न? तब फिर क्या ये लोग ऐसे हैं वैसे हैं कहकर उनका तिरस्कार करना चाहिये या कि उनके साथ मिल जुलकर रहना चाहिये?" अस्तु—

श्रीरामकृष्ण के अद्भुत चरित्रबल, पवित्रता, अलौकिक ईश्वरभक्ति, भाव-समाधि आदि का वैष्णवचरण के मन पर इतना ज़बरदस्त प्रभाव पड़ा कि श्रीरामकृष्ण को सब के सामने "ईश्वरावतार" कहने में उन्हें ज़रा भी संकोच नहीं होता था।

वैष्णवचरण का श्रीरामकृष्ण के पास आना शुरू करने के थोड़े ही दिनों बाद विख्यात गौरीपण्डित भी दक्षिणेश्वर में आये। गौरीपण्डित एक विशिष्ट तान्त्रिक साधक थे। दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में उनके पहुँचने के समय ही एक मज़ेदार बात हुई। हमने उस बात को स्वयं श्रीरामकृष्ण के मुख से सुना है। वे कहते थे-" गौरीपण्डित को तपस्या से एक सिद्धि की प्राप्ति हुई थी। शास्त्रार्थ के लिये कहीं निमन्त्रित होने पर वे वहां (उस घर में) तथा उस सभा स्थान में पहुँचते समय " हा रे रे रे, निरालम्बो लम्बोदरजननि! कं यामि शरणम् "

इस आचार्य कृत देवीस्तोत्र का यह चरण उच्च स्वर से कई बार कहकर फिर उस स्थान में प्रवेश करते थे। उनके गम्भीर स्वर से उच्चारित इस चरण को सुनते ही सुनने वाले के हृदय में एक प्रकार का डर समा जाता था। इससे दो कार्य सध जाते थे—एक तो इस चरण की आवृत्ति करने से गौरीपण्डित की खुद की आन्तरिक शक्ति अच्छी तरह से जागृत हो जाती थी, और दूसरे इससे उनके प्रतिस्पर्धी भ्रम में पड़ जाते थे और उनका बल नष्ट हो जाता था। जब गौरीपण्डित इस चरण की गर्जना करते, पहलवानों के समान बाहुदण्डों को ठोकते हुए, सभास्थान में प्रवेश कर वहीं वीरासन बान्धकर बैठ जाते, तब उन्हें शास्त्रार्थ में कोई भी नहीं जीत सकता था।

गौरी के ऐसे सिद्धि के विषय में श्रीरामकृष्ण को कुछ भी नहीं मालूम था। ज्योंही "हा रे रे रे···" चरण कहते हुए गौरी ने काली मन्दिर में प्रवेश किया त्योंही श्रीरामकृष्ण को भी न जाने कैसी स्फूर्ति हुई कि वे भी इसी चरण को गौरी की अपेक्षा भी ज़ोर से कहने लगे। यह सुनकर गौरी ने और अधिक उच्च स्वर निकाला। उसे सुनकर श्रीरामकृष्ण उससे भी बढ़ चले। इस तरह ३–४ बार हुआ। इस कोलाहल को सुनकर कोई कुछ भी नहीं समझ सका। सभी अपने २ स्थानों में तटस्थ चित्रवत् खड़े रहे। केवल काली मन्दिर के पहरेदार लोग हाथ में लाठी और डण्डे ले लेकर दौड़ आये और आकर जब देखते हैं तो कोई खास बात ही नहीं है। श्रीरामकृष्ण और उस आये हुए पण्डित की स्पर्धा (नहला ऊपरी) चली है! यह हाल देखकर हँसते २ सभी के पेट में दर्द होने लगा। बेचारा गौरी पण्डित श्रीरामकृष्ण से उच्च स्वर न निकाल सकने के कारण ठण्डा पड़ गया और तब उसने खिन्न मन से काली मन्दिर में प्रवेश किया। अन्य लोग भी, जहाँ तहाँ चले गये। श्रीरामकृष्ण कहते थे—"इसके बाद मुझे जगदम्बा ने दिखाया कि जिस सिद्धि के बल पर गौरी पण्डित दूसरे का बल हरण करके अजेय बन जाता था, उसी सिद्धि का यहाँ इस प्रकार का पराभव हो जाने से उस बेचारे की वह सिद्धि ही नष्ट हो गई। माता ने उसी के कल्याण के लिये उसकी सिद्धि को (अपनी ओर अंगुली दिखाकर) इस शरीर में आकृष्ट

कर लिया।" फिर सचमुच ही यह दिख पड़ा कि श्रीरामकृष्ण पर गौरी पण्डित की अधिकाधिक भक्ति बढ़ने लगी। ऊपर बता ही चुके है कि गौरी पण्डित तांत्रिक साधक थे। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि "प्रति वर्ष दुर्गा पूजा के दिनों में गौरी पण्डित सब प्रकार की पूजा सामग्री तैयार करता था और अपनी ही पत्नी को वस्त्रालंकार से भूषित कर उसे देवपूजा के आसन पर बिठाकर तीन दिनों तक बड़े भक्ति भाव के साथ उसे जगदम्बा जानकर उसकी पूजा करता था।" जितनी भी स्त्री मूर्ति हों उन सब को श्री जगदम्बा के भिन्न २ रूप समझना चाहिये और यह भाव करना चाहिये कि उन सबों में जगत्पालिनी आनन्ददायिनी जगन्माता की शक्ति भरी हुई है। तंत्रशास्त्र की ऐसी शिक्षा होने के कारण मनुष्य को पवित्र भाव से स्त्रीमात्र की पूजा ही करना उचित है। स्त्रीमात्र में श्री जगन्माता स्वयं विद्यमान है। भूलकर भी सकाम भाव से स्त्री के शरीर की ओर देखना प्रत्यक्ष जगन्माता की अवज्ञा करने के समान है। यच्चयावत् स्त्रीमात्र की ओर, देवीभाव से देखने वाले महापुरुष इस संसार में कितने होंगे? अस्तु—

गौरी पण्डित की एक और सिद्धि की बात श्रीरामकृष्ण बताया करते थे। विशिष्ट तांत्रिक साधक श्री जगन्माता की नित्यपूजा के उपरान्त होम किया करते हैं। गौरी पण्डित भी कभी २ होम करते थे। पर उनके होम करने की विधि अद्भुत थी। अन्य लोग जैसे ज़मीन पर मिट्टी की वेदी बनाकर, उस पर हवन काष्ठ रचकर अग्नि जलाते हैं और तब उसमें आहुति देते हैं, गौरी पण्डित वैसा नहीं करते थे। वे अपना बाँया हाथ आगे बढ़ाकर, उसी पर एक ही समय में मन भर लकड़ी रचकर उसे जलाते थे और उस अग्नि में अपने दाहिने हाथ से आहुति डालते थे। होम के लिये कुछ कम समय नहीं लगता; वह सब खतम होते तक हाथ वैसे ही फैलाये हुए, उस पर एक मन लकड़ी का भार और धधकती हुई अग्नि की ज्वाला सहन करते हुए, मन को शांत रखकर भक्तिपूर्ण अंतःकरण से उस अग्नि में वे यथाविधि आहुति डालते जाते थे—यह कर्म कितना असम्भव लगता है। इसी कारण स्वयं श्रीरामकृष्ण के मुख से सुनकर भी हम में से बहुतों को इस पर सहसा विश्वास नहीं होता था। परन्तु हमारे मन के भाव को समझकर श्रीरामकृष्ण कहते थेः—"मैंने प्रत्यक्ष अपनी आँखों

से उसका यह होम देखा है। भाई! वह यह सब अपनी सिद्धि के बल पर कर सकता था!"

गौरी पण्डित के दक्षिणेश्वर आने के कुछ दिनों के पश्चात् मथुरबाबू ने वैष्णवचरण आदि पण्डितों की पुनः एक बार सभा बुलवाई। इस सभा का यह उद्देश था कि श्रीरामकृष्ण की वर्तमान अवस्था के सम्बन्ध में इन नये आये हुए पण्डित जी के साथ शास्त्रार्थ हो। यह सभा श्री जगदम्बा के सामने सभामण्डप में प्रातः काल बैठी। कलकत्ता से वैष्णवचरण के आने में विलम्ब जानकर श्रीरामकृष्ण गौरी पण्डित को साथ लेकर सभास्थल के लिये पहिले ही रवाना हो गये। प्रथम वे श्री जगन्माता के मन्दिर में गये, और बड़ी भक्ति के साथ श्री जगदम्बा का दर्शन करके भावावेश में झूमते हुए श्री काली मन्दिर के बाहर कदम रख ही रहे थे कि इतने में वैष्णवचरण भी आ पहुँचे और उन्होंने उनके चरणों पर अपना मस्तक रख दिया। यह देखते ही श्रीरामकृष्ण एकाएक भावावेश में समाधिमग्न हो गये और वैष्णवचरण के कन्धे पर बैठ गये। इससे अपने को कृतार्थ समझकर वैष्णवचरण का अन्तःकरण आनन्द से भर पाया। वे तत्क्षण संस्कृत श्लोकों की रचना करके श्रीरामकृष्ण की स्तुति करने लगे। श्रीरामकृष्ण की उस समाधिमग्न, प्रसन्न और तेजस्वी मूर्ति को देखते तथा वैष्णवचरण द्वारा आनन्द के वेग में रचित स्तोत्र को सुनते हुए वहाँ उपस्थित मथुरबाबू आदि लोग भक्ति पूर्ण अन्तःकरण से एक ओर खड़े होकर इस अपूर्व दृश्य को एक टक देखने लगे। बहुत समय के बाद श्रीरामकृष्ण की समाधि उतरने पर सब लोग उनके साथ जाकर सभास्थल में बैठ गये।

कुछ समय में सभा का कार्य आरम्भ हुआ। परन्तु गौरी पण्डित उसके पहले ही बोल उठे, "वैष्णवचरण पर अभी ही इन्होंने (श्रीरामकृष्ण ने) कृपा की है, इसलिये आज मैं इनसे शास्त्रार्थ नहीं करना चाहता; यदि मैं आज इनसे वादविवाद करूंगा तो निःसन्देह मेरा पराजय होगा। आज वैष्णवचरण के शरीर में दैवी बल का संचार हुआ है और इसके सिवाय मुझे ऐसा दिखता है कि उनका मत भी मेरे ही मत के समान है। श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में जो धारणा मेरी है वही उनकी भी है, तब फिर वादविवाद के लिये गुन्जायश ही कहां है?"

तत्पश्चात् कुछ समय तक इधर उधर की बातें होने के बाद सभा विसर्जित हुई! ऐसा कदापि नहीं था कि गौरी पण्डित वैष्णवचरण से बहस करने में डर गये हों। श्रीरामकृष्ण की संगति में कुछ दिन रहने से उन्हें पूर्ण निश्चय हो गया था कि ये कोई महापुरुष हैं। इस घटना के कुछ दिनों के बाद गौरी पण्डित के मन का भाव जानने के लिये श्रीरामकृष्ण एक दिन उनसे बोले, " इधर देखिये, वैष्णवचरण (अपनी ओर अंगुली दिखाकर) इस शरीर को अवतार कहता है, क्या यह बात सम्भव है ? कहिये आप की क्या राय है ? "

गौरी पण्डित गम्भीरतापूर्वक बोले, " क्या वैष्णवचरण आपको अवतार कहते हैं ? यह तो मानहानि की बात हुई। मेरा तो पूर्ण निश्चय है कि युग युग में जिनके अंश से लोक कल्याणार्थ अवतार हुआ करते हैं, और जिनकी शक्ति के आश्रय से वे कार्य किया करते हैं, वे ही प्रत्यक्ष आप हैं। " इस पर श्रीरामकृष्ण हँसते २ बोले, " अरे बापरे ! आप तो उनसे भी बढ़ गये ! पर आप यह सब किस पर से कहते हैं ? आपने मुझमें ऐसी कौन सी बात देखी है ? " गौरी पण्डित बोले, " मैं शास्त्रों से प्रमाण लेकर तथा अपने निज के अनुभव के आधार पर इस विषय में किसी के भी साथ बहस करने को तैयार हूं। "

श्रीरामकृष्ण छोटे बालक के समान कहने लगे," बाबा ! आप लोग इतनी बहुत सी बातें कहा करते हैं, पर मैं तो इससे कुछ नहीं समझता। " गौरी पण्डित बोले—" वाह ! ठीक ही है। शास्त्रों का भी यही कहना है–स्वयं अपने आपको कोई नहीं जानता। तब भला दूसरे आपको कैसे जानें ? यदि आप ही किसी पर कृपा करेंगे तभी वह आपको जान सकेगा। " पण्डित जी का यह कथन सुन-कर श्रीरामकृष्ण हँसने लगे।

श्रीरामकृष्ण के प्रति गौरी पण्डित की भक्ति दिनों दिन बढ़ने लगी। उनके बहुत दिनों के साधन और शास्त्र विचार श्रीरामकृष्ण की दिव्य संगति से सफल होकर उनके अन्तःकरण में तीव्र वैराग्य का उदय हुआ। उन्होंने सर्व संग परित्याग करके अपना तन मन धन ईश्वर सेवा में लगाने का निश्चय कर लिया। दक्षिणेश्वर आये उन्हें बहुत दिन बीत चुके थे। उधर उनके घर में

यह समाचार पहुँच गया था कि पण्डित जी एक गोसाई के चक्कर में पड़ गये हैं। इस कारण इन्हें शीघ्र लौटाने के लिये घर से पत्र पर पत्र आ रहे थे। उन्होंने यह देखकर कि "कदाचित् घर के लोग यहाँ भी आकर मुझे संसार में पुनः खींचने का प्रयत्न करें" इस भय से दक्षिणेश्वर छोड़कर अन्यत्र चले जाने का निश्चय किया। उन्होंने एक दिन श्रीरामकृष्ण के चरणों में अपना मस्तक रखकर गद्गद अन्तःकरण से उनसे विदा मांगी।

श्रीरामकृष्ण—"अरे यह क्या है? पण्डित जी! अकस्मात् विदा लेकर आप कहां जा रहे हैं?"

गौरी पण्डित—"मैंने ईश्वर दर्शन किये बिना संसार में पुनः न आने का निश्चय कर लिया है। आप मुझे आशीर्वाद दीजिये कि जिससे मेरी इच्छा पूर्ण हो।"

यह कह कर पण्डित जी दक्षिणेश्वर से निकल पड़े। पर वे घर नहीं गये, और वे कहां गये इसका पता किसी को कभी भी नहीं लगा।

२२–विपरीत क्षुधा और गात्रदाह।

पिछले अध्याय में लिख चुके हैं कि यद्यपि श्रीरामकृष्ण के तत्कालीन आचरण और व्यवहार अन्य साधारण मनुष्यों की समझ में ठीक २ नहीं आते थे, तथापि वैष्णवचरण, गौरी पण्डित आदि बड़े २ शास्त्रज्ञ लोगों की दृष्टि में वे पागल कदापि नहीं दिखते थे वरन् वे तो उनके अनुसार अत्यन्त महान् अधिकारी पुरुष—ईश्वरावतार ही थे। स्वार्थी और विषयी लोगों को यदि उनकी अत्युच्च अवस्था का ज्ञान नहीं था, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अस्तु—

इधर भैरवी ब्राह्मणी को श्रीरामकृष्ण की अवस्था के बारे में अपने मत की सत्यता का एक उत्तम प्रमाण मिला। भैरवी ब्राह्मणी के दक्षिणेश्वर आने के पूर्व से ही श्रीरामकृष्ण को गात्रदाह के कारण बड़ा कष्ट हो रहा था। मथुरबाबू ने अनेक वैद्यों से उनकी औषधि कराई, पर कोई लाभ नहीं हुआ। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "सूर्योदय से दोपहर तक शरीर की गर्मी लगातार बढ़ती जाती थी, और बारह बजने के समय वह इतनी दुःसह हो जाती थी कि मैं गङ्गा जी में गले तक सब शरीर को पानी में डुबाये रखता था और माथे पर गीला कपड़ा ढांक लेता था। इस तरह २–३ घंटे तक पानी में बैठकर बिताता था। पानी में अधिक देर तक बैठने से कोई दूसरा रोग लग जाने के भय से इच्छा न होते हुए भी पानी से बाहर निकल जाता था, और घर आकर सङ्गमरमर के फर्श पर गीला कपड़ा बिछा लेता था। फिर किवाड़ बन्द करके उसी पर लोट पोट होता रहता था।"

श्रीरामकृष्ण की इस अवस्था के विषय में ब्राह्मणी का मन बिल्कुल भिन्न था। वह मथुरबाबू से बोली—"इतना निश्चित है कि यह कोई रोग नहीं है। श्रीरामकृष्ण के मन में ईश्वर प्रेम की जो प्रचण्ड खलबली मची हुई है उसीका यह परिणाम है। ईश्वर दर्शन की व्याकुलता के कारण यही अवस्था श्रीमती राधा और श्री चैतन्य देव की भी हुआ करती थी। इस गात्रदाह की अत्यन्त सहज औषधि, सुगन्धित पुष्पों की माला धारण करना और सुवासिक चन्दन का सर्वाङ्ग में लेप करना है।"

ब्राह्मणी के कहने पर मथुरबाबू आदि को विश्वास तो नहीं हुआ। पर वे लोग सोचने लगे कि जैसे इतनी औषधियाँ दी गई, उसी तरह यह उपाय भी क्यों न किया जाय? यह विचार कर मथुरबाबू ने ब्राह्मणी का बताया हुआ उपचार शुरू कर दिया। आश्चर्य की बात हुई कि चौथे ही दिन उनका यह अद्भुत गात्रदाह निःशेष शान्त हो गया।

इसके कुछ दिनों के उपरान्त एक और उपद्रव खड़ा हो गया, पर वह भी ब्राह्मणी के साधारण उपाय से ही दूर हुआ। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "उन दिनों मुझे कुछ दिनों तक विचित्र भूख लगा करती थी। कितना भी खाओ पर पेट भरता ही नहीं था। रातदिन लगातार खाने की ही धुन लगी रहती थी और वह किसी भी उपाय से दूर नहीं होती थी। मैं सोचने लगा कि यह नई व्याधि कहां से आ लगी। अतः यह मैंने ब्राह्मणी से बताया। वह बोली, 'बाबा! कोई हर्ज नहीं। ईश्वरप्राप्ति के मार्ग में जो साधक रहते हैं, ऐसी अवस्था उनकी कभी २ हुआ करती है। शास्त्रों में इस बात का वर्णन है। मैं तुम्हारा रोग दूर कर देती हूं, तुम चिन्ता न करो।' इतना कहकर उसने एक कमरे में बड़ी २ थालियों में भिन्न २ प्रकार के भोज्य पदार्थ मथुरबाबू से भरकर रखवा दिये और वह मुझसे बोली, 'बाबा! तुम अब इसी कमरे में बैठे रहो, और जो मन में आवे सो आनन्द से चाहे जितना खाते जाओ!' तब मैं उसी कमरे में नित्य बैठने लगा और जब जिस चीज़ की इच्छा हो तभी खाने लगा। इस प्रकार तीन दिन बीतने पर मेरी विपरीत क्षुधा का समूल नाश हो गया, तब मेरे प्राण बचे।"

श्रीरामकृष्ण के जीवन में इस प्रकार विपरीत क्षुधा के कई उदाहरण पाये जाते हैं। उनमें से यहां कुछ का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

पीछे बता चुके हैं कि श्रीरामकृष्ण की तपस्या का सम्पूर्ण काल १२ वर्ष रहा। अत्यन्त कठोर तपश्चर्या के कारण उनका वज्र अंग और दृढ़ शरीर-संगठन भी ढीला पड़ गया था। ऐसी हालत में वे कुछ वर्षों तक प्रत्येक चातुर्मास्य में अपनी जन्मभूमि मे जाकर रहा करते थे।

एक साल वे इसी तरह चातुर्मास्य में कामारपुकूर गये हुए थे। एक रात्रि को लगभग १२ बजे श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिये आये हुए लोग उठ २ कर

अपने २ घर चले गये थे। घर के सब लोग भी सो चुके थे। उन दिनों श्रीराम-कृष्ण अग्निमांद्य और पेट दर्द का विकार होने के कारण रात्रि के समय बिल्कुल हलका और थोड़ा सा कुछ खा लिया करते थे। उस रात को भी वे थोड़ा सा कुछ खाकर सोये हुए थे।

श्रीरामकृष्ण लगभग १२ बजे अपने कमरे का दरवाज़ा खोलकर भावावेश में झूमते हुए अचानक बाहर आये और रामलाल भय्या की माता आदि स्त्रियों को पुकारकर कहने लगे, "अरे तुम सब इतने ही में सो गई? हमें खाने के लिये दिये बिना ही सब की सब सो गई?" रामलाल की माँ बोली, "अरी बाई! यह क्या है? क्या तुमने अभी नहीं खाया?" श्रीरामकृष्ण बोले, "मैंने अभी कहां खाया? मैं तो यहां दक्षिणेश्वर से अभी ही आ रहा हूं? तुम लोगों ने मुझे खाने के लिये दिया ही कब?"

यह सुनकर सभी स्त्रियाँ चकित होकर एक दूसरे के मुँह की ओर ताकने लगीं। वे सब समझ गईं कि श्रीरामकृष्ण यह सब बात भावावेश में कर रहे हैं। अब इसका क्या उपाय किया जाय? घर में तो अब इन्हें खाने के लिये देने लायक कोई पदार्थ नहीं है। तब फिर कैसे बने? अन्त में रामलाल की माता बेचारी डरती २ बोली—"देखो भला! अब रात हो गई है न? अब घर में इस समय खाने की कोई चीज़ भी नहीं बची है तो क्या थोड़ा सा चूड़ा (चिवड़ा) ला दूं?" उनके उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही ऐसा कहकर उसने एक थाली में थोड़ा सा चिवड़ा लाकर उनके सामने रख दिया जिसे देखकर श्रीरामकृष्ण गुस्से में आ गये और थाली की ओर पीठ फेरकर बैठ गये और छोटे बालक के समान कहने लगे, "नहीं खाते तेरा चिवड़ा जा। खाली चिवड़ा क्या खावे?" उसने उन्हें बहुतेरा समझाया कि "तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, दूसरा कुछ खाओगे तो तुम्हें नहीं पचेगा, भला! बाज़ार से ही कुछ लाया जावे तो अब इतनी रात को दुकानें सब बन्द हो गई हैं, इसलिये अभी तो इस चिवड़े को ही खाकर सो जाओ, और सबेरे उठते ही कढ़ी भात बनाकर खिला दूंगी।" पर यह सब सुने कौन? उनका तो छोटे बालक के समान एक ही हठ था—"खाली चिवड़ा हम नहीं खाते जा!"

अन्त में इन्हें किसी तरह न मानते देख रामलाल भय्या उठे और वे उसी समय बाज़ार जाकर एक परिचित हलवाई को सोते से जगाकर उससे एक सेर मिठाई खरीद लाये। रामलाल की माँ ने वह मिठाई और साधारण मनुष्य के पेट भरने लायक़ चिवड़ा दोनों को एक थाली में रखकर उनके सामने रख दिया। मिठाई देखकर श्रीरामकृष्ण को बड़ा आनन्द हुआ। वे सब मिठाई और चिवड़ा उसी समय साफ़ कर गये। अब सब डरने लगे कि इनकी पेट पीड़ा जरूर बढ़ेगी और ये बीमार पड़ेंगे। पर आश्चर्य की बात हुई कि इससे उन्हें कोई हानि नहीं हुई।

एक दिन दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण लगभग २ बजे रात को अपने कमरे से जल्दी २ बाहर निकले और रामलाल दादा को पुकारकर कहने लगे—"दादा! मुझे बड़ी भूख लगी है। कुछ खाने को मिले तो देखो।" रामलाल दादा ने नौबतखाने में जाकर यह समाचार माता जी को दिया। माता जी ने तुरन्त चूल्हा जलाया और अन्दाजन १ सेर हलुआ तैयार किया। उस दिन एक स्त्री भक्त श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिये वहाँ आई थी। वह नौबतखाने में माता जी के कमरे में सोई थी। उस स्त्री को उठाकर उसी के साथ हलुए की थाली माता जी ने श्रीरामकृष्ण के पास भेज दी। श्रीरामकृष्ण तुरन्त खाने बैठ गये और भावावस्था में सब हलुआ खा गये। यह देखकर उस स्त्री को बड़ा अचरज हुआ। खाते २ ही वे उस स्त्री से पूछने लगे, "यह हलुआ कौन खा रहा है बता भला? मैं खाता हूं कि कोई दूसरा?" स्त्री बोली—"मुझे मालूम पड़ता है कि आप के भीतर कोई अन्तर्यामी है वही यह खा रहा है।"

"वाह! ठीक बोली!" ऐसा कहकर श्रीरामकृष्ण हँसने लगे।

ऐसी विपरीत क्षुधा के कई प्रसंगों का उल्लेख किया जा सकता है। यह सदा दिखाई देता था कि प्रबल भाव तरंगों के कारण श्रीरामकृष्ण के शरीर में बहुत उथल पुथल मचा करती थी जिससे उस समय ऐसा भास होता था कि "ये श्रीरामकृष्ण नहीं हैं कोई दूसरे ही व्यक्ति होंगे।" उस समय उनके आहार-व्यवहार, चाल-चलन सब कुछ बिल्कुल बदल जाते थे। परन्तु इस उमड़े

हुए मानसिक भाव के दूर होते ही उस विपरीत आचरण के कारण उन्हें कोई भी शारीरिक विकार उत्पन्न नहीं होता था। भीतर रहने वाला मन ही हमारे स्थूल शरीर का प्रतिक्षण निर्माण करता है, विनाश करता है और उसे नया आकार देता है-यह बात बारम्बार सुनकर भी हमें निश्चय नहीं होता। समझ लेने पर हमें यह नहीं जँचता परन्तु श्रीरामकृष्ण के जीवन की भिन्न २ घटनाओं पर जितना ही अधिक विचार किया जाय यह सिद्धान्त उतना ही अधिक सत्य प्रतीत होता है। अस्तु—

ब्राह्मणी के इन सरल उपायों से श्रीरामकृष्ण के गात्रदाह और क्षुधारोग को दूर होते देख उसके प्रति मथुरबाबू और अन्य लोगों के मन में आदरभाव उत्पन्न हो गया और अपनी धारणा को सत्य सिद्ध होते देखकर ब्राह्मणी के मन में भी समाधान हुआ। स्वयं उस ब्राह्मणी को श्रीरामकृष्ण के महापुरुष होने के विषय में तो कोई शंका ही नहीं थी, क्योंकि उसे उनकी साधना में सहायता करने के लिये उनके पास जाने का श्री जगदम्बा का आदेश ही हुआ था। पर उसे इस विषय में दूसरों का भी कुछ निश्चय होते देख सन्तोष हुआ। अस्तु—

उस ब्राह्मणी के निरीक्षण में श्रीरामकृष्ण ने जो तान्त्रिक साधनाएँ की उनका कुछ थोड़ा बहुत वर्णन करने के पूर्व स्वयं ब्राह्मणी और उसके बताये हुए दोनों साधकों का वृत्तान्त अगले प्रकरण में देने का विचार है।

२३—ब्राह्मणी, चन्द्र और गिरिजा का वृत्तान्त।

श्रीरामकृष्ण के साधनकालीन घटनाओं में एक बात विशेष रूप से प्रधान दिखाई देती है। वह यह है कि उन्हें किसी भी धर्ममतसाधन के समय गुरु की खोज नहीं करनी पड़ती थी—गुरु ही स्वयं उनके पास दौड़ आते थे। तांत्रिक साधना के समय, वात्सल्यभाव साधना के समय, वेदान्तमत के साधन के समय, इस्लाम धर्म साधन के समय इन सब साधनों के समय उन मतों के सिद्ध पुरुषों का दक्षिणेश्वर में ही आगमन हुआ है। श्रीरामकृष्ण सदा कहते थे—"ईश्वर पर ही सब भार समर्पण करके उसके दर्शन के लिये व्याकुलता से उसी की प्रार्थना करते रहना चाहिये। ऐसा करने से सब व्यवस्था वही कर देता है।" ऐसा ही यहां भी हुआ। अस्तु—

श्रीरामकृष्ण के मुख से ऐसा सुनने में आया है कि ब्राह्मणी का जन्म पूर्व बंगाल के किसी स्थान में हुआ था। उसे देखते ही ऐसा प्रतीत होता था कि इसका जन्म किसी उच्च कुल में हुआ होगा। परन्तु वह कौन कुल था अथवा उसकी ससुराल कहां थी, और किस घराने में थी अथवा इतनी प्रौढ़ अवस्था में सन्यासिनी होकर देश विदेश भ्रमण करने के लिये कौन सा कारण आ पड़ा, या उसे इतनी शिक्षा कब, कहां, और कैसे प्राप्त हुई, उसने अपनी उन्नति कैसे और कहां की—इत्यादि किसी भी बात का पता हमें नहीं चला। यह बात श्रीरामकृष्ण के बताने में भी कभी नहीं आई। साधनाओं में वह अत्यन्त उच्च पद को पहुँच चुकी थी, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। उसे प्रत्यक्ष श्री जगन्माता से ही श्रीरामकृष्ण को सहायता करने का आदेश मिला था। गुण और रूप में यह ब्राह्मणी असाधारण थी। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे-" ब्राह्मणी के अलौकिक रूप लावण्य तथा उसके एकान्त निवास और स्वतंत्र वृत्ति को देखकर पहले पहल मथुरबाबू के मन में संशय उत्पन्न हुआ। एक दिन जब वह श्री जगन्माता का दर्शन करके मन्दिर से बाहर निकल रही थी उस समय दिल्लगी से उसे मथुरबाबू कह भी गये कि 'भैरवी! तेरा भैरव कहां है?' मथुरबाबू

का ऐसा अचानक प्रश्न सुनकर किञ्चिदपि क्रुद्ध न होकर उसने मथुरानाथ की ओर शान्तिपूर्ण दृष्टि डाली, और जगदम्बा के पैर के नीचे शवरूप* से पड़ी हुई महादेव की मूर्ति की ओर वहीं से अंगुली निर्देश की ? संशयी और विपयी मथुर क्या इतने से चुप रह सकता था ? उसने कहा—'अरी ! वह भैरव तो अचेतन है !' इसे सुनकर ब्राह्मणी ने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया—'मुझे यदि अचेतन को सचेतन करते नहीं बनता तो मैं फिर इतनी बड़ी भैरवी हुई किस लिये ?' यह शान्त और गम्भीर उत्तर पाकर मथुरबाबू शरमाया और ब्राह्मणी की इस प्रकार अनुचित दिल्लगी करने का उसे पश्चात्ताप हुआ। आगे चलकर ब्राह्मणी के अलौकिक गुण और स्वभाव का परिचय पाकर उसके मन से यह कुशंका दूर हो गई।"

श्रीरामकृष्ण से प्रथम भेंट के समय ही ब्राह्मणी ने उन्हें चन्द्र और गिरिजा के बारे में बताया था। वह बोली—"बाबा ! तुम में से दो जनों से तो भेंट इसके पहले हो चुकी है और आज इतने दिनों तक खोजते रहने पर तुम मिले हो। आगे किसी समय उन लोगों से तुम्हारी भेंट करा दूंगी।" तत्पाश्चात् कुछ दिनों में सचमुच ही उसने चन्द्र और गिरिजा को दक्षिणेश्वर में बुलवाकर उनकी श्रीरामकृष्ण से भेंट करा दी। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि ये दोनों ही उच्च कोटि के साधक थे परन्तु साधन के मार्ग में बहुत उन्नति करने पर भी उन्हें ईश्वर दर्शन का सुयोग प्राप्त नहीं हुआ।

श्रीरामकृष्ण कहा करते थे—"चन्द्र बड़ा प्रेमयुक्त और भक्ति पूर्ण ईश्वर भक्त था। उसे गुटिका सिद्धि प्राप्त हो चुकी थी। अभिमन्त्रित गुटिका अपने शरीर में धारण कर लेने पर वह किसी को दिखाई नहीं पड़ता था। मनुष्य को इस प्रकार की कोई सिद्धि मिल जाने से अहंकार उत्पन्न होता है, अहंकार के साथ २ मन में नाना प्रकार की वासनाएँ उत्पन्न होती हैं और उन वास-

---

* महादेव शवरूप में पड़े हुए हैं और जगदम्बा उनकी छाती पर पैर रख-कर खड़ी है—दक्षिणेश्वर की कालीमूर्ति इसी प्रकार की है।

नाओं के जाल में फंसते ही मनुष्य अपने उच्च ध्येय से च्युत हो जाता है। अहंकार वृद्धि का ही अर्थ पुण्य का ह्रास और पाप की वृद्धि है और अहंकार का ह्रास ही पुण्य की वृद्धि तथा पाप का ह्रास कहलाता है। अहंकार के बढ़ने से ही धर्म की हानि होती है, और अहंकार के नाश होने से ही धर्म का लाभ होता है। स्वार्थपरता का मतलब पाप और स्वार्थ नाश का पुण्य है।" इन बातों को श्रीरामकृष्ण ने हमें भिन्न २ रीति से कितनी ही बार समझाया। वे कहते थे, "भाइयो! अहंकार को ही शास्त्रों में चिज्जड़ग्रन्थि कहा है। चित् का अर्थ ज्ञानस्वरूप आत्मा और जड़ का अर्थ देह, इन्द्रिय आदि। इन दो भिन्न २ वस्तुओं को अहंकार एक गांठ में बांधकर मनुष्य के मन में 'मैं देहेन्द्रिय बुद्धयादिविशिष्ट जीव हूं' यह भ्रम उत्पन्न कर देता है। ऐसा भ्रम चित् और जड़ वस्तुओं की गांठ छूटे बिना दूर नहीं होता। इस (अहंकार) का त्याग करना चाहिये। माता ने मुझे बता दिया है कि सिद्धियां विष्ठा के समान हैं। उनकी ओर मन को कदापि नहीं दौड़ाना चाहिये। साधन करते हुए कभी २ सिद्धियां आप ही आप प्राप्त हुआ करती हैं परन्तु निश्चय जानो कि उनकी ओर ध्यान देते ही साधक की उन्नति कुण्ठित हो जाती है।"

विवेकानन्द जी को साधन करते समय एक बार दूर दर्शन और दूर श्रवण की शक्ति अकस्मात् प्राप्त हो गई। वे ध्यान करते समय किसी दूर स्थान में किसी के बोलने के शब्दों को जान जाते थे। दो तीन दिनों के बाद जब उन्होंने यह बात श्रीरामकृष्ण को बताई तब वे बोले, "सिद्धियां ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में विघ्नरूप हैं, तू कुछ दिनों तक ध्यान ही मत किया कर।" अस्तु—

गुटिका सिद्धि प्राप्त हो जाने के कारण चन्द्र के मन में अहंकार उत्पन्न हुआ और किसी धनी व्यक्ति की कन्या पर आसक्त होकर वह अपनी सिद्धि के बल पर उसके पास आने जाने लगा। इस प्रकार अहंकार और स्वार्थपरता की वृद्धि होने से, क्रमशः उसकी सिद्धि नष्ट हो गई और उसकी अनेक प्रकार से फजीहत हुई।

गिरिजा* को भी इसी तरह अलौकिक शक्ति प्राप्त हो गई थी। एक दिन श्रीरामकृष्ण गिरिजा के साथ शंभु मल्लिक के बगीचे में घूमने गये थे। शंभु मल्लिक का श्रीरामकृष्ण पर बहुत प्रेम था। श्रीरामकृष्ण की किसी भी प्रकार की सेवा करने का अवसर पाकर वे अपने को धन्य मानते थे। उन्होंने माता जी के निमित्त खासकर पास ही कुछ ज़मीन खरीद करके उस पर एक छोटा सा घर बनवा दिया था। जब माता जी गंगास्नान के लिये या श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिये आती थीं तब वे उसी घर में कई बार रहती थीं। शंभु मल्लिक की पत्नी माता जी की पूजा उन्हें देवता मानकर किया करती थी। मथुर के बाद कई दिनों तक श्रीरामकृष्ण के कलकत्ता जाने आने का किराया शंभुबाबू ही देते थे। उन्हें किसी वस्तु की आवश्यकता होने पर वे उसकी पूर्ति तुरन्त किया करते थे। मथुरानाथ के पीछे श्रीरामकृष्ण की सेवा का अधिकार शंभुबाबू को ही प्राप्त हुआ था। श्रीरामकृष्ण शंभुबाबू को अपना "द्वितीय देह-रक्षक" (Body-guard) कहा करते थे। उनका बगीचा काली मन्दिर के समीप रहने के कारण श्रीरामकृष्ण वहां हमेशा घूमने जाते थे और शंभुबाबू से घंटों से ईश्वर सम्बन्धी बातचीत करके वापस आते थे। अस्तु—

उस दिन श्रीरामकृष्ण और गिरिजा वहां घूमने गये। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "भक्तों का स्वभाव गंजेड़ी के समान होता है। गंजेड़ी चिलम को गांजे से भरकर और उसका स्वयं दम लगाकर फिर उसे दूसरे को देता है। पास में कोई दूसरा गंजेड़ी नहीं रहने से उसे अकेले पी लेने से अच्छा नशा नहीं आता और उसका समाधान भी नहीं होता। भक्तों की भी यही दशा होती है। जब दो भक्त एक स्थान में मिलते हैं तब उनमें से एक ईश्वरी कथा प्रसंग में तन्मय और आनन्दमय होकर चुप बैठ जाता है, और दूसरे को भगवद्वार्ता कहने का अवसर देता है और उससे कथा सुनकर अपने आनन्द में अधिक निमग्न हो जाता है।" उस दिन भी ऐसा ही हुआ। किसी को ध्यान नहीं रहा कि ईश्वरी कथा प्रसंग में कितना समय बीत गया। सन्ध्याकाल व्यतीत होकर एक प्रहर

---

* इनका नाम "गिरिजानाथ" या "गिरिजाशंकर" रहा होगा।

रात्रि का भी निकल गया। तब कहीं श्रीरामकृष्ण को वापस होने की सुधि हुई! वे शंभुबाबू से विदा लेकर गिरिजा के साथ वापस लौटे और काली मन्दिर की राह से जाने लगे, पर रात बहुत हो जाने के कारण इतना अन्धेरा था कि हाथ पकड़ा हुआ आदमी भी नहीं सूझता था। वे रास्ता भूल गये जिससे पग २ पर चोट लगने लगी। श्रीरामकृष्ण गिरिजा का हाथ पकड़कर किसी तरह धीरे २ गिरते पड़ते चले जा रहे थे जिससे उन्हें अत्यन्त कष्ट हो रहा था। यह देखकर गिरिजा बोला, "दादा! थोड़ा खड़े रहो, मैं तुम्हें प्रकाश दिखलाता हूं।" यह कह वह पीठ फेरकर खड़ा हो गया और उसकी पीठ से प्रकाश की लम्बी २ किरणों के बाहर निकलने से उस रास्ते पर अच्छा उजियाला हो गया। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि "उस प्रकाश में काली बाड़ी के फाटक तक सब रास्ता बिल्कुल प्रकाशित हो गया और उसी उजियाले में मैं उस रास्ते से चला आया।" इतना कहकर श्रीरामकृष्ण जरा हँस पड़े और पुनः बोले, "परन्तु गिरिजा की यह शक्ति इसके आगे बहुत दिनों तक नहीं टिकी। यहां कुछ दिनों के मेरे सहवास से वह सिद्धि नष्ट हो गई।" इसका कारण पूछने पर उन्होंने कहा—"उसके कल्याण के लिये माता ने उसकी उस सिद्धि को (अपनी ओर अंगुली बताकर) इस शरीर में आकृष्ट कर लिया। तदुपरान्त उसका मन सिद्धियों पर से उचट कर ईश्वर-मार्ग में अधिकाधिक अग्रसर होने लगा।"

२४–तन्त्रशास्त्र का संक्षिप्त परिचय।

श्रीरामकृष्ण के चरित्र का आगे का भाग ठीक ठीक समझने के लिये तन्त्रशास्त्र की कुछ चर्चा करना आवश्यक दिखता है; कारण कि विशिष्ट रूप से कई प्रान्तों में तान्त्रिक उपासना प्रचलित रहने पर भी सामान्य वाचकों को इस विषय की बहुत सी जानकारी नहीं है। तन्त्रशास्त्र के सम्बन्ध में जनता में ग़लतफ़हमी (विपरीत भावना) सी दिखाई देती है। इस कारण तन्त्रशास्त्र की महिमा और उपयोगिता, अंशतः अपि जाने विना, तद्विषयक अज्ञान के कारण, श्रीरामकृष्ण सरीखे महापुरुष के सम्बन्ध में भी भ्रम होने की सम्भावना है।

१. वेद जैसे अनन्त हैं, वैसे ही तन्त्रशास्त्र भी अनन्त हैं। वेद ब्रह्मदेव के मुख से प्रकट हुआ उसी तरह तन्त्रशास्त्र* श्रीमहादेव के मुख से प्रकट हुआ। वेदमन्त्र नित्य हैं, वैसे ही नित्य तन्त्रोक्तमन्त्र भी हैं। वेदों का अर्थ गहन है, तद्वत् ही तन्त्रों का अभिप्राय समझना कठिन है। कर्म, उपासना और ज्ञान—त्रिविध मार्ग—जैसे वेद में हैं, वैसे ही तन्त्र में भी हैं। चतुर्विध पुरुषार्थ सिद्धि के लिये जैसे वैदिक मन्त्रों का उपयोग होता है, उसी प्रकार तान्त्रिक मन्त्रों का भी उपयोग होता है। वैदिक और तान्त्रिक उभय मार्ग का ध्येय एक ही है। इनके सिद्धान्त भी भिन्न २ नहीं हैं—भेद मुख्यतः साधन पद्धति में हैं।

२. वेदान्तग्रन्थों में आत्मा-शिव-प्रकाश को महत्त्व दिया जाता है। तन्त्रशास्त्र संवित्-शक्ति-विमर्श को महत्त्व देता है। वेदान्त विवर्तवाद-प्रधान है। तन्त्र में मुख्यतः परिणाम वाद है। वेदान्ती सर्वशक्तिमत्ता का आरोप

---

* तन्त्रशास्त्र प्रायः शिव और पार्वती के संवाद के रूप में है। शिव ने पार्वती को जो बताया उसे " आगम " और पार्वती ने जो विषय शिव को बताया उसे " निगम " कहते हैं।

ब्रह्म पर करते हैं । तांत्रिक कहते हैं कि ब्रह्म सर्वशक्तिरूप है । साधना (या उपासना) के लिए विवर्तवाद अनुकूल नहीं है; उपासना क्रम की शृंखला तो परिणामवाद से ही जुड़ती है । इसीलिये तंत्र में परिणामवाद को ही ग्रहण किया है । वेदान्ती माया को अनिर्वचनीय बताता है पर वह उसे जड़ भी मानता है, तांत्रिक माया को शक्ति का एक विशिष्ट रूप मानकर उसका प्रतिपादन करता है । सारांश यह है कि उभय मार्गों में अन्तर अत्यन्त अल्प है, पर वह अत्यन्त महत्व-मय है ।

३. अखिल ब्रह्माण्ड के भीतर-बाहर एक ही तत्त्व अनुस्यूत और अविकृत है । उसमें जगत की उत्पत्ति-स्थिति-लय का बारम्बार भास होना ही उस तत्त्व का स्वभाव है । इसे तन्त्रशास्त्र नहीं मानता बल्कि उसका सिद्धान्त है कि वह मूलतत्त्व रहकर जगदाकार धारण करता है । अनेक वैदिक मार्गी आचार्यों का भी, उपनिषदों के आधार पर स्थीयमान यही मत है, इसी कारण ऐसा नहीं कहा जा सकता कि तान्त्रिक और वैदिक मतों में विरोध है ।

४. तन्त्रशास्त्र में परिणामवाद मुख्य होने से तन्त्रोक्त साधन क्रम में भी उसे आप ही आप प्रधानता प्राप्त होती है ।

" यो यद्भक्तः स एव सः "

" शिवो भूत्वा शिवं यजेत् "

" जानत तुमहिं तुमहिं हो जाई-" तुलसीदास ।

इत्यादि सिद्धान्तों से तन्त्रशास्त्र पूर्ण सहमत है । जीव की ' हीन '—अहं-कृति धीरे २ परिवर्तित होकर तत्स्थान में आरम्भ से ही ' पूर्ण '—अहंकृति और पश्चात् वह भी स्व-स्वरूप में लीन हो जावे, यह साधकों का प्रयत्न रहा करता है—अथवा रहना चाहिये । अल्पशक्ति (जीव) का सर्वशक्ति (शिव) हो जावे और सर्वशक्ति स्व-स्वरूप में अन्तर्हित हो जावे यह क्रम यद्यपि साधक

अवस्था में भिन्न दिखे, तथापि इस मार्ग और वैदिक मार्ग दोनों का अन्तिम ध्येय एक ही निश्चित होता है। तात्पर्य यह है कि वैदिक मार्ग और तान्त्रिक मार्ग में जो भेद है वह साधन अवस्था में है, अन्तिम सिद्धान्त में नहीं।

५. किसी भी मार्ग से एक ही स्थान पर पहुँचे हुए पुरुषों की स्थिति; मार्ग के संस्कार लुप्त होने पर एक सी ही हो जाती है; पर मार्ग में रहते हुए अथवा मार्ग के संस्कार कायम रखते हुए स्थिति में भेद होना स्वाभाविक है। "दृश्यमात्र सब मायिक—अतएव त्याज्य" की भावना से व्यवहार करने वाले साधकों की अपेक्षा, इस दृश्य का उपयोग करते हुए अनित्यत्व की दृढ़ भावना से उसे तुच्छ मानकर अनासक्त रहने वाला साधक अवश्यमेव अधिक सामर्थ्यवान् होगा। इसीलिये तो रम्भा के स्पर्श से डरने वाले शुकाचार्य को उपासकत्त्व मिला और मुक्त मन से अगणित अनुकूल तरुण-गोपाङ्गनाओं के मध्य एकान्त में रासक्रीड़ा करके भी ब्रह्मचर्य कायम रखने वाले श्रीकृष्ण के पास उपास्य भाव आप ही आप आ गया। तन्त्रोक्त शक्तिमार्ग के अवलम्बन करने वाले साधक को, विकारहेतु को पास रखकर विकार के वश न होने का अभ्यास करना पड़ता है।

६. इन्द्रियों का आकर्षण स्वभावतः विषयों की ओर रहता है। यह नियम जैसे मनुष्य के लिये है वैसे ही पशु अथवा प्राणिमात्र को भी लागू है। जब तक साधकों की मनोवृत्ति विषयों की ओर दौड़ने वाली रहती है, तब तक उनमें और पशुओं में तत्सम्बन्धी कोई अन्तर नहीं रहता। इस स्थिति में साधकों के अन्तःकरण की अवस्था को '**पशुभाव**' कहते हैं। इस भाव के रहते साधक को सावधानी से चलना चाहिये। उस सावधानी का अर्थ है—विकारहेतु से दूर रहना। इस प्रकार दूर रहकर किये हुए विवेक और वैराग्य के अभ्यास से ज्योंही इन्द्रियों पर कुछ २ अधिकार जमाना सीख गये—वे इन्द्रियाँ कुछ अंशों में अपने आधीन हो गई—त्योंही क्रमशः, अल्पस्वल्प विकारहेतु सामने आने पर भी चित्त की समता को नष्ट न होने देने का-अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुए चित्त-वृत्ति को कायम रखने का अभ्यास करने से इन्द्रियों और मन पर यह अधिकार बढ़ता जाता है। जैसे २ यह सधता जाता है वैसे २ साधक अधिक सामर्थ्यवान् होता जाता है।

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते

येषां न चेतांसि त एव धीराः ।

कालिदास की इस उक्ति के अनुसार विविध विषयों की भँवर में पड़कर भी अविचलित रहने का सामर्थ्य साधक को प्राप्त होता है । जिस प्रकार व्यायाम द्वारा शारीरिक बल बढ़ाने के लिये क्रमशः अधिकाधिक भारी (जड़) सामग्रियों का उपयोग किया जाता है उसी प्रकार तितिक्षा और मानसिक बल बढ़ाने के लिये तान्त्रिक साधक लोग ऐसे पदार्थों या विषयों का उपयोग करते हैं जो प्रथम देखने में राजस और तामस होते हैं ।

जडास्तपोभिः शमयन्ति देहं

बुधा मनः सर्वविकारहेतुम् ।

इस न्याय से इस साधन क्रम में मुख्य लक्ष मनोजय और वासनात्याग की ओर रहता है । तन्त्र में सच्छिष्य के लक्षण जहां २ बताये गये हैं वहां २ " साधक विषयलोलुप न हो " इस लक्षण का उल्लेख अवश्य रहता है । इस से स्पष्ट दिखता है कि विषयलोलुपों के लिये यह मार्ग नहीं है । ऐसे साधकों में पशुभाव प्रबल होने के कारण उन्हें विषयों से दूर रहने का अभ्यास करना ही प्रारम्भ में हितकर होता है । इस स्थिति में जब मनःसंयम का अभ्यास तथा तत्त्व-चिन्तन या भगवत्कृपा सम्पादन करने की ओर चित्त की प्रवृत्ति होती है तभी मानसिक दुर्बलता को धीरतापूर्वक नष्ट करके वीर मनुष्य ही इस अभ्यासक्रम में पैर रखने के अधिकारी होते हैं । इस वीरवृत्ति को अन्तःकरण में सतत जागृत रखने वाले साधकों की मानसिक अवस्था को ' वीरभाव ' कहते हैं ।

७. व्यायाम किये बिना शारीरिक बल प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार विकार-हेतुओं में चित्त को स्थिर रखने का अभ्यास किये बिना मानसिक दौर्बल्य का दूर होना सम्भव नहीं है । इसी सिद्धान्त पर वीरभाव का आचरण अवलम्बित है । वीराचारी साधक अपने ध्येय—मनोजय—को साधने के लिये जिन विकारहेतुओं

का जानबूझ कर आश्रय लेता है उनके यथार्थ उपयोग की ठीक २ कल्पना साधारण जनता को होना शक्य नहीं है; अतः उस आचार के खुल्लम खुल्ला अनुष्ठान से लोगों का अधःपतन हुए बिना न रहेगा। लोकसंग्रह की दृष्टि से इस साधक को अपना आचार बिल्कुल गुप्त रखना आवश्यक होता है। यही भगवान परशुराम के "प्राकट्यान्निरयः" सूत्र का मर्म है। तन्त्रशास्त्र में इस आचार को इसी कारण "गुह्यातिगुह्य" रखने की स्थान २ पर आज्ञा है। इस प्रकार एकान्त में सभी विकारहेतुओं के समीप होते हुए भी दीर्घकाल तक मन को निश्चल रखने का अभ्यास करते करते मन मज़बूत हो जाता है कि जिससे वह संसार में विकट परिस्थिति उपस्थित होने पर भी किञ्चिदपि नहीं डगमगाता। शारीरिक व्यायाम में उपकरणों के भारीपन और दृढ़ता की वृद्धि करते जाने पर उनका उपयोग करना भी सरल होता जाता है और स्नायु का बल अधिकाधिक बढ़ जाता है जिससे वह व्यायामशील (कसरती) मनुष्य सामान्य व्यवहार के कार्यों को खेल २ में आसानी से कर लेता है। वीराचार के पूर्ण अभ्यासी साधक की भी वही अवस्था होती है जो अत्यन्त विकारों के वश कर सकने वाली वस्तुओं (मद्य-मांस-मैथुन) के मोह में कभी नहीं पड़ता।—

यदा संहरते चायं कूर्मोंगानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

श्रीमद्भगवद्गीता २। ५८

विषयों से पूर्ण संसार में स्वैर संचार करता हुआ भी उसे अपने मनोजय के कारण स्थितप्रज्ञता की अवस्था से च्युत होने का अवसर नहीं आता। यह स्थितप्रज्ञता साधक में जितनी बढ़ती जावेगी और विषयों के प्रति उत्सुक हुए चित्त से वासना बीज नष्ट होता जायगा, उसी प्रमाण (मात्रा) में अद्वैत स्थिति के साधक को यह अनुभव होने लगेगा कि—

"जो मनुष्य वासना के फंदे से मुक्त हो गया, जिसके अहंभाव की गाँठ

खुल गई, जिसका प्रारब्ध देह के घाट उतर गया (समाप्त हो गया) उसे जगत की एकता प्रतीत होती है।"

—श्री एकनाथ *

नाथ जी की इस उक्ति के अनुसार वीरभाव के साधक को एकात्मता का अनुभव होने लगता है—

अहमग्निप्रलयं कुर्वन्निदमः प्रतियोगिनः ।
पराक्रमपरो भुंक्ते स्वात्मानमशिवापहम् ॥

अहं (मैं) और इदं (यह संसार) इन दोनों के अनुभव परस्पर विरुद्ध हैं। जो साधक अहं अनुभव के प्रतिद्वन्द्वी (विरोधी) इस जगत का (अर्थात् सम्पूर्ण विषय भोगों का) आत्म स्वरूप में लय करके वीरवृत्ति से विषयों में संचार करता है उसे वीर कहते हैं।

८. यह वीरभाव सिद्ध होते ही स्थितप्रज्ञता सिद्ध होती है। इस भाव के आगे बढ़े हुए साधकों को—अर्थात् पूर्ण योग रूढ़ स्थिति में रहने वाले पुरुषों को जो भाव प्राप्त होता है उसे 'दैव भाव' कहते हैं। जिस चित्त की निर्मलता को वीरभाव में प्रयत्नों से क़ायम करना पड़ता है वही दैवभाव में स्वाभाविक बनी रहती है। अतः दैवभाव में साधक को मार्गभ्रष्ट होने का भय नहीं रहता। उसे अब वीरवृत्ति को क़ायम रखने की आवश्यकता नहीं होती। वह वृत्ति आप ही आप स्थाई (स्थिर) हो जाती है और वह साधक सहजानन्द की स्थिति में बिना कोई प्रयत्न किये ही सतत स्थित रहने के लिये उत्तरोत्तर अधिक समर्थ होता जाता है।

९. इस प्रकार तान्त्रिक साधनक्रम का विचार शास्त्रीय दृष्टया करने पर दिखता है कि मनोजय, वासनात्याग आदि साधनों के योग से विषयों का त्याग

---

* महाराष्ट्र में १५ वीं शताब्दि में ये एक सुप्रसिद्ध साधू हो गये हैं।

करना है। जो अवस्था उनको डरकर चलने वाले साधक को अन्त में प्राप्त होती है वही अवस्था इस क्रम से भी साधी जाती है। परन्तु इस तान्त्रिक क्रम में विषयों का त्याग न करके तत्सम्बन्धी लोलुपता को मिटाने के लिये उनका उपयोग प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है और देखा भी गया है कि इस मार्ग के साधक को संकल्पसिद्धि आदि का सामर्थ्य अन्य मार्गों के साधकों की अपेक्षा साधक-अवस्था ही में अधिक प्राप्त होता है।

१०. इस मार्ग के विषय में उलटी धारणा होने के मुख्य कारण दो हैं— एक कारण तो यह है कि उसमें जिन पदार्थों का जानबूझ कर ग्रहण किया जाता है उनके बारे में (उन्हें स्वीकृत करने के हेतु का ज्ञान न होने से) समाज की दृढ़ भावना हो गई है कि ये पदार्थ परमार्थ में विघ्नकारी और विघातक हैं। दूसरा कारण यह है कि विपयलोलुप अनधिकारी लोगों ने इस मार्ग में प्रवेश करके अपने स्वैर आचार से इसे जबरदस्ती कलंकित कर दिया है।

११. निष्पक्ष बुद्धि से विचार करने पर पहला कारण सहज ही निरर्थक मालूम होता है। सोमल प्राणघातक महाविष है, परन्तु इस कारण से वह पदार्थ त्याज्य नहीं सिद्ध होता। युक्तिपूर्वक उसका उपयोग करने से वही अमृत-तुल्य प्राणरक्षक पाया जाता है। यही बात प्रत्येक अपायकारक वस्तु के लिये भी है, किंबहुना दूध, घी इत्यादि पौष्टिक पदार्थ अजीर्ण आदि विकार पैदा करके प्राणहारी बनते पाये गये हैं। इससे सिद्धान्त यह निकलता है कि किसी पदार्थ का ग्राह्य या त्याज्य होना सर्व साधारण नियम नहीं हो सकता। हितकारक जैसे हो उस रीति से उपयोग करने पर प्रत्येक पदार्थ ग्राह्य बन जाता है और अहित-कारक रीति से उपयोग करने पर वही पदार्थ त्याज्य सिद्ध होता है। सारांश यह है कि किसी पदार्थ का अच्छा या बुरा होना उसके उपयोग करने की रीति पर अवलम्बित है।

१२. इसी प्रकार पदार्थों के साधारण व्यवहार में त्याज्य माने जाने के कारण ही उनके गुण दोषों का विवेचन करने वाले अथवा उनका उपयोग करने की रीति दिखाने वाले शास्त्रों के मत से वे पदार्थ त्याज्य या हीन वर्ग के नहीं

हो जाते। वैद्यक शास्त्र में भिन्न २ प्रकार के विषों का, मद्यों का और मांसों का गुणधर्म विस्तारपूर्वक लिखा है। कई औषधियों से नपुंसकता का होना या उसका दूर होना, गर्भधारण या गर्भपात के लिये औषधि तथा प्राणहारी महाविषों की संख्या ये सब बातें वैद्यक शास्त्रों में बताई गई हैं। इस कारण इन शास्त्रों पर कभी भी कोई दोषारोपण नहीं करता। अतः किस मन्त्र की क्या शक्ति है, किस विधान से किस मन्त्र द्वारा मारण-मोहन आदि परिणाम होते हैं, इन बातों को बताने वाले तन्त्र शास्त्र को किस प्रकार दोष लगाया जा सकता है? मद्य-मांस-स्त्री आदि का परमार्थ के प्रतिबन्धक होना या किसी विषय का मारक होना ये सामान्य सिद्धान्त हैं। इन्हीं पदार्थों का परमार्थ में उपयोग करने का ढंग बताने वाले तन्त्रशास्त्र भी विष से प्राण रक्षा करने की रीति बताने वाले वैद्यक शास्त्र के समान ही उपकारक हैं।

१३. दूसरे कारण का खोखलापन उसका वर्णन करते ही स्पष्ट हो जाता है। वैद्यक में अमुक वस्तु का प्राणहारक दोष पढ़कर, या किसी से जानकर उस ज्ञान का उपयोग करके द्वेषवश दूसरे का प्राण लेने वाले का दोष वैद्यक शास्त्र पर कदापि नहीं मढ़ा जा सकता। यदि उस ज्ञान को बताने वाला वह ज्ञान किसी अनधिकारी मनुष्य को दे दे तो वह उस दोष का-अंशतः ही सही-भागी अवश्य होगा। यही नियम तन्त्रशास्त्र को लागू है। यदि जिसमें इसके उचित उपयोग करने की योग्यता नहीं है, तो उससे उसका दुरुपयोग होने का वह दोष शास्त्र का नहीं है। दियासलाई की आग से यदि कोई लोगों के घर को जला देवे तो दियासलाई तैयार करने वाले या बेंचने वाले को दोष नहीं लगा सकते। पर छोटे बच्चों के हाथ वह न लगे इस बात की सावधानी रखनी पड़ती है। तद्वत् ही अनधिकारी पुरुष तन्त्रविद्या सीख लेने से हानिकारक परिणाम होने की सम्भावना रहती है। इसी कारण अनधिकारी मनुष्यों से इस विद्या को गुप्त रखने की शास्त्राज्ञा है। गुरू के लिये भी कड़ी आज्ञा है कि प्रथम तो वह शिष्य की पूर्ण परीक्षा कर ले और जब वह कसौटी पर उतर जाय, तभी उसे यह रहस्यमय विषय बतावे।

१४. विषयलोलुप स्वैर वृत्ति वाले लोगों को अपनी इच्छा पूर्ण करने के लिये किसी शास्त्र की आवश्यकता नहीं होती। काम शास्त्र के भी निषेधात्मक वाक्य उन्हें दुःसह प्रतीत होते हैं। ऐसे लोग अपना दम्भ छिपाने के लिये तन्त्र-शास्त्र की आड़ लेते हैं जिससे स्पष्ट है कि उस शास्त्र पर दोषारोपण नहीं किया जा सकता।

१५. विषयासक्त पुरुष को सन्मार्ग में लाने के लिये तन्त्रशास्त्र का उत्तम उपयोग किया जा सकता है। उससे अपने प्रिय पदार्थ छोड़ते नहीं बनने के कारण उसके अन्तःकरण में अन्य किसी मार्ग से साधकत्व का भाव आना दुःसाध्य रहता है। वह उस पदार्थ को छोड़े विना ही कुछ सरल सा कार्य करने के लिये कहीं तयार होता है, पर आरम्भ में कुछ कामनामय अनुष्ठान करने के लिये तो वह उसमें बड़ा ही उत्साह दिखलाता है। इच्छित स्त्री के वशीकरण या द्रव्य-प्राप्ति या पुत्रप्राप्ति या शक्तिसंचय के समान प्रिय विषयों के अनुष्ठान में चाहे जो कष्ट सहने की आवश्यकता हो, या उसे किसी उपभोग की वस्तु को कुछ काल तक त्याग करने की अथवा उसके नियमित रीति से सेवन करने की जरूरत हो तो वह सहज ही तैयार हो जाता है। इस प्रकार उसके मुँह में नियम की लगाम लगाकर विषय सेवन करते हुए भी क्रम क्रम से उसे मन से उच्चतर भाव उत्पन्न करने का अवसर मिलता है।

"सकामी भक्तों की कामनाएँ पूर्ण करके (प्रभो) आप परमार्थ की ओर भक्तों के चित्त को आकर्षित करते हैं, और इसी तरह आप के सकाम भक्त भी वीतरागी होकर अन्त में निर्वाण पद को प्राप्त होते हैं।"

इस प्रकार शिव जी की स्तुति की गई है। जिस तन्त्रशास्त्र द्वारा विषयासक्त लोगों का उद्धार हो सके ऐसा तन्त्रशास्त्र शिव जी का प्रकट किया हुआ है, यह उल्लेख तन्त्रग्रन्थों में जगह २ है। विशेषतः जब कलियुग में शौचाचार-हीन और विषयासक्त लोगों की संख्या अधिक होने वाली है उस स्थिति में—

"निर्वीर्याः श्रौतजातीया विषहीनोरगा इव"

अथवा " पांचालिका यथा भित्तौ सर्वेंद्रियाविवर्जिताः।
अमूरसक्ताः कार्येषु तथान्ये मंत्रराशयः ॥ "

—महानिर्वाण तंत्र, २ उल्हास,
श्लोक १५ और १६.

वैदिक मंत्रों की ऐसी अवस्था होते हुए—

कलौ तन्त्रोदिता मंत्राः सिद्धास्तूर्णफलप्रदाः ।

इस वाक्य के अनुसार सामान्य मनुष्य के लिये तन्त्रोक्त अनुष्ठानों के सिवाय अन्य मार्ग रह ही नहीं जाता। यदि उनके भोग में ही योग की कुंजी हाथ लगे—पाप में ही पुराय प्राप्त हो-संसार में रहते हुए मोक्षलाभ हो—तभी उनका उद्धार हो सकता है। परम कारुणिक श्री शंकर जी ने ऐसे लोगों की भी उपेक्षा नहीं की; वरन् उन्होंने तन्त्रशास्त्र को प्रकट करके उनका भी उद्धार होने का सुभीता कर दिया है।

योगी चन्नैव भोगी स्यात् भोगी चन्नैव योगवित् ।
भोगयोगात्मकं कौलं तस्मात् सर्वाधिकं प्रिये ॥

ऐसा कहकर शिव जी आगे और कहते हैं—

भोगो योगायते साक्षात् पातकं सुकृतायते ।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि ॥

तन्त्रशास्त्र की प्रतिज्ञा है कि अत्यन्त विषयासक्त पुरुष भी तन्त्रमार्ग के आश्रय द्वारा अपने उद्धार का उपाय कर सकता है।

१६. सौत्रामणि यज्ञ में सुरापान, गोमेध, अश्वमेध, नरमेध आदि यज्ञों में मांस का उपयोग, युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ में, असिधाराव्रत में स्त्री का उपयोग ये सब बातें कभी वैदिक आचार में भी हुआ करती थीं। ऐसे स्पष्ट प्रमाण होते हुए भी केवल साधन की सफलता के लिये इन्हीं पदार्थों का ग्रहण करना सदोष कैसे हो सकता है?

पंच पंचनखा भक्ष्याः

न मांस भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥

—इत्यादि मनु वचन हैं। कचोपाख्यान में शुक्राचार्य के समान पवित्र और तपस्वी ब्राह्मण की दिनचर्या में सुरापान होना, श्वेतकेतु की माता के स्वैराचार की कथा इत्यादि अनेक प्रमाणों पर से यही कहना पड़ता है कि वीराचार में पाये जाने वाले कर्म एक समय आर्यों में प्रचलित थे। इसलिये उस समय उन कर्मों का तान्त्रिक पद्धति के साधन क्रम में रहना कम से कम उस काल में अनुचित समझने का कोई कारण नहीं था। मीनभक्षण तो अद्यापि भी अत्यन्त आचार शील और कुलीन ब्राह्मणों में—वंगदेशीय और सरयूतट निवासी ब्राह्मणों में—आमतौर से प्रचलित है। आगे शुक्राचार्य ने सुरापान के सम्बन्ध में, श्वेतकेतु ने स्त्रियों के स्वैर वर्तन के विषय में, और स्मृतिकार महर्षियों ने भी समाज की प्रगति के लिये उत्तरोत्तर निषेध कर दिया। इसी कारण इन विषयों से प्राचीन काल का सम्बन्ध छूट गया और अब ये पदार्थ तथा आचरण आक्षेप किये जाने लायक मालूम होने लगे—ऐसा होना स्वाभाविक ही है। अनेक महर्षियों के दीर्घ प्रयत्न से समाज में जो सुधार हुआ था उसका स्थायी रहना अत्यन्त वांछनीय है, परन्तु ये निषेध केवल सांसारिक जीवन को लागू हैं। यज्ञयाग में अथवा उपासना में जहां इन आक्षेपार्ह दिखने वाले पदार्थों का या आचारों का ग्रहण विधिप्राप्त या कर्मांग रूप है वहां अपौरुषेय आज्ञा के सामने इन पौरुषेय निर्बंधों का शास्त्रदृष्टि से कोई मूल्य नहीं रह जाता। अतः विधिप्राप्त विषयों के बारे में लौकिक या सामाजिक दृष्टि से निर्णय करना युक्तिसंगत नहीं होगा।

१७. उक्त विवेचन से पाठकों के ध्यान में आ जायगा कि वैदिक मार्ग के अधिकारी और अनधिकारी दोनों पक्ष के लोगों को तन्त्रोक्त मार्ग श्रेयस्कर होना सम्भव है। वीराचार का अभ्यास प्रारम्भ करने के पूर्व या तो साधक पशुभाव के योग्य क्रियाओं का अनुष्ठान करके सावधान रहने का सामर्थ्य प्राप्त कर ले अथवा पूर्ण विषयासक्ति द्वारा वह निःशंक हो जावे। प्रथम वर्ग के साधक वीराचार का आश्रय भोगलिप्सा से नहीं ग्रहण करते, वरन् उसे विहित कर्म जानकर करने में प्रवृत्त होते हैं। दूसरे वर्ग के लोग निरे साधक ही नहीं होते और उस स्थिति में उन्हें ईश्वर कृपा की अथवा ज्ञान की लालसा उत्पन्न हो जाती है, जिससे उनकी भोगलोलुपता क्रमशः कम पड़ जाती है। इन दोनों वर्गों के पुरुष वीराचार कर सकते हैं। परन्तु जो मनुष्य बुद्धि के द्वारा विषयाशक्ति को पाप जानकर भोगलिप्सा से वीराचार को स्वीकार करता है वह साधक कदापि नहीं है। इसी आशय से सातवें फ़िकरे में की गई चर्चा के अनुसार यह मार्ग विषयलोलुपों के लिये नहीं है।

श्रुतिपथगलितानां मानवानां तु तन्त्रम्।

"श्रुतिपथ से भ्रष्ट लोगों को ही तन्त्र मार्ग का अवलम्बन करना चाहिये और श्रुतिविहित मार्ग से चलने के अधिकारी तन्त्र मार्ग का अवलम्बन न करें।" इस वाक्य का अर्थ ऐसा लगाते हैं पर इसका स्पष्टार्थ वैसा नहीं है। 'श्रुतिमार्ग से चलने के अधिकारी को तन्त्रोक्त मार्ग में चलने का अधिकार नहीं है।' उक्त वाक्य में इस प्रकार के अर्थ का प्रतिपादक एक भी शब्द नहीं है। अर्थात् उनके लिये दोनों मार्ग खुले हैं; पर श्रुतिपथ से भ्रष्ट लोगों को केवल तन्त्रमार्ग का ही अवलम्बन करना चाहिये क्योंकि उन्हें श्रुतिमार्ग से चलते नहीं बनता।

१८. वेदोक्त मार्ग की अपेक्षा तन्त्रोक्त मार्ग में कुछ विशेष बातें हैं। वेदोक्त मार्ग द्विज जातियों के लिये खुला है:—

स्त्री-शूद्र-द्विजबंधूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।

स्त्री, शूद्र और अंत्यज को वैदिक मन्त्रों के उच्चार करने की आज्ञा नहीं है। ऐसी आज्ञा तन्त्र के लिये नहीं है। कुछ मन्त्रों का जप केवल ब्राह्मणों को ही, कुछ का ब्राह्मण और क्षत्रियों को और कुछ का ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को ही करना चाहिये, इस प्रकार का निर्बंध तन्त्रों में भी मिलता है। परन्तु अनेक अत्यन्त श्रेष्ठ मन्त्र और विद्या के अनुष्ठान का अधिकार तन्त्रशास्त्र ने स्त्री, शूद्र, अंत्यज आदि सभी को उदारतापूर्वक दे रखा है। कुछ प्रसंगों में तो सभी को उच्चनीच भाव छोड़कर पूर्णतया समानता का व्यवहार करने की तन्त्र में स्पष्ट आज्ञा है।

१६. तन्त्र शास्त्र की दूसरी विशेषता स्त्रियों की पूजनीयता है। स्त्रियाँ पुरुषों की उपभोग्य वस्तु नहीं है। तन्त्रशास्त्र यह भावना सिखाती है कि वे उनकी पूज्य व्यक्ति हैं—

यस्या अंगे महेशानि सर्वतीर्थानि संति वै।

—आदि अनेक वचन इस भावना के प्रतिपादक हैं। स्त्रियों के साथ क्रूरता का बर्ताव करना, उनसे कलह करना, उनकी निंदा करना, इत्यादि तन्त्रशास्त्र में बिल्कुल निषिद्ध हैं। सभी तन्त्रों में देवी की ही उपासना करने की सिफ़ारिश नहीं है। शिव, विष्णु, सूर्य, गणेश, भैरव, ग्रह आदि अनेक पुरुष देवताओं की भी उपासना तन्त्रों में वर्णित है। परन्तु मातृभाव पर विशेष ज़ोर रहने के कारण श्री जगदम्बा की ही उपासना बताने वाले तन्त्रों की संख्या प्रायः अधिक है। दो व्यक्ति प्रेम से एक हो जाते हैं इसका अनुभव सभी को है। व्यवहार में यह प्रेम भिन्न २ स्वरूप में व्यक्त होता है। गुरु-शिष्य में, मित्र-मित्र में, पिता-पुत्र में, पति-पत्नी में, स्वामी-सेवक में जो प्रेम दिखता है उसका शुद्ध रूप यद्यपि बहुतेरे अंशों में समान है तथापि उसकी अपेक्षा माता और पुत्र या कन्या के प्रेम में कुछ विशेषता है। वह विशेषता यह है कि अन्य सब सम्बन्धों में प्रेम परस्पर-सापेक्ष होता है, यानी दोनों पक्षों की ओर से प्रेम बढ़े तभी प्रेम बढ़ता है। गुरु का प्रेम हो शिष्य का न हो या शिष्य का हो गुरु का न हो ऐसी अवस्था में प्रेम नहीं बढ़ता। दोनों का ही परस्पर प्रेम हो और दोनें

का ही प्रेम बढ़ता हो, तभी वह प्रेम आपस में एक दूसरे पर प्रतिफलित होकर उत्तरोत्तर वर्द्धिगत होता है। यह बात मातृप्रेम में नहीं है—

"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।"

इत्यादि वाक्यों में मातृप्रेम की स्तुति बारम्बार की गई है। माता का प्रेम रहना या बढ़ना पुत्र के प्रेम करने या न करने पर अवलम्बित नहीं रहा करता। वह तो प्रकृति से निर्हेतुक और अमर्यादित होता है। इसी कारण तन्त्रशास्त्र में ऐसे प्रेम से ही साधक का अधिक कल्याण समझकर आराध्य देवता की मातृ-भाव से उपासना करने की ज्यादह सिफारिश की गई है। एक बार यदि आराध्य देवता में मातृ-भावना दृढ़ हो गई, और—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।"

के अनुसार साधक के प्रति देवता के मन में पुत्र या कन्या की भावना उत्पन्न हो गई तो साधक का कल्याण निश्चित है।

इसी तरह देवता में मातृभाव और स्त्री जाति में पूज्यभाव उत्पन्न होने से कामदेव के मुख्य अस्त्र की तीव्रता ही नष्ट हो जाती है।

२०. तन्त्रशास्त्र की तीसरी विशेषता यह है कि वैदिक मार्ग में शौचाचार की जितनी आवश्यकता है, उतनी इसमें नहीं है। इससे यह साधक के लिये सरल है—

यस्मिन्देशे न गोहत्या नापि ब्रह्मवधो भवेत्
नाश्रावयंति शूद्राश्च सिद्धिस्तत्र तु वैदिकी ॥ २६२ ॥
म्लेच्छाः पाखंडिनो धूर्ता राजानः सचिवादयः।
युवत्यश्च वर्तंते तत्र सिद्धिरदूरता ॥ २६३ ॥

—मेरुतन्त्र प्रकाशः ६

उपर्युक्त प्रकार का स्थान प्रायशः दुष्प्राप्य होने के कारण आधुनिक काल में साधनों से सिद्धी की आशा करना अयोग्य होगा। आज की परिस्थिति में वैदिक साधन में समय लगता है उससे अल्प काल में तान्त्रिक साधन सिद्ध होता है और उसमें अधिक सरलता होती है।

२१. चौथी विशेषता—इसमें कर्म और उपासना के साथ २ ज्ञान का भी संयोग है। जिस देवता की उपासना करना है उसके अस्तित्व की भावना अपने में पूर्णता से लाने का अभ्यास करने से साधक आरम्भ से ही ज्ञानमार्ग में अग्रसर होता जाता हैं। भूतशुद्धि, न्यास, ध्यान, अंतर्याग आदि में, और हृदयस्थ देवता की बाह्य पूजा में, यन्त्रादिकों की स्थापना करके पूजा समाप्त होने पर हृदय में ही पुनः उसकी स्थापना करना इत्यादि क्रियाओं में साधक की शीघ्र प्रगति होने की व्यवस्था की गई है।

२२. तन्त्रशास्त्र में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विशेषता है "गुरुभक्ति"।

"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।"

"आचार्यवान् पुरुषो वेद।"

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ—।"

इत्यादि वाक्यों से वैदिक मार्ग में भी गुरु की श्रेष्ठ पदवी और गुरुभक्ति की महिमा स्पष्ट है। 'श्रुति' शब्द से वैदिकज्ञान का परम्परा से प्राप्त होने का मार्ग स्पष्ट सूचित होता है। यद्यपि उस ज्ञान का पुस्तक से प्राप्त होना असम्भव सिद्ध होता है तथापि तन्त्रशास्त्र में गुरुभक्ति को बहुत ही महत्त्व दिया गया है। इस शास्त्र का सिद्धान्त है कि देवता, गुरु, मन्त्र और साधक की एकात्मता हुए बिना सिद्धि नहीं होती। यह संकेत है कि किसी भी मन्त्र का द्रष्टा ऋषि ही उस मन्त्र के उपासक का प्रथम गुरु होता है।

ऋषिरत्र गुरुः प्रोक्तः।—तारातन्त्र, पटल ४, श्लोक ३

इसका अभिप्राय यह है कि मन्त्र एक दिव्य तेज है। जिस व्यक्ति में उस तेज का

अत्यन्त प्रकर्ष रूप प्रादुर्भूत होता है वही उस मन्त्र का ऋषि है। उस मन्त्र के सभी उपासक परम्परा से वह तेज उसी व्यक्ति से प्राप्त करते हैं। 'प्रवर्तितो दीप इव प्रदापीत्" इस न्याय से साधक उस तेज को मन्त्रासिद्ध व्यक्ति से प्राप्त कर वह भी स्वयं मन्त्रसिद्ध बन जाता है। उसी प्रकार वह उस तेज को दूसरे को देकर उसे भी मन्त्रासिद्ध बना सकता है। अतः यह तन्त्रशास्त्र का सिद्धान्त है कि परम्परा से मन्त्र प्राप्ति हुए बिना मन्त्र का वीर्य शीघ्र प्रकट नहीं होता। अग्नि सामान्य रूप से सर्वत्र स्थित रहने के कारण दो काष्ठों के घर्षण से भी उत्पन्न होती है; उसी प्रकार ही—

जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिर्जपात्सिद्धिरदूरतः।

—इस वाक्य के अनुसार अनेक संस्कारयुक्त तीव्र भावना से मन्त्र का अत्यन्त जपपरायण होने से ही उसमें चैतन्यशक्ति का अनुभव होता है। परन्तु वह मार्ग अत्यन्त कष्टमय है। आरम्भ से ही सचेतन और वीर्यवान् मन्त्र शुद्ध परम्परा से मन्त्र सिद्ध पुरुष से प्राप्त हो जाने पर अल्प प्रयास से ही सिद्धि मिल जाती है और उसके अधिक अभ्यास से तो उसका प्रभाव अत्यन्त प्रकृष्ट होता है। यह तेजःसंक्रमण गुरु शिष्य परम्परा से प्रचलित है जिसके कारण मुख्य तेज देने वाला उस मन्त्र का ऋषि उस संप्रदाय के सभी साधकों को सदा एक समान ही उपकारक हुआ करता हैं। पारमार्थिक ग्रन्थों में यह विधान है कि जीवन्मुक्त पुरुष निरहंकृति से सर्व शुभाशुभ कर्म करता हुआ पापपुण्य का उत्तर-दायी नहीं रहता; उसके प्रति श्रद्धा और भक्ति रखने वाले और उसकी स्तुति करने वाले उसके पुण्यफल को भोगते हैं, और उसके प्रति बुरी भावना रखने वाले और उसकी निन्दा करने वाले उसके पापकर्मों * का फल भोगते हैं। इसी नियम के अनुसार अपने गुरु पर और मन्त्र के ऋषि पर श्रद्धा रखने वालों को उनकी सुकृत का लाभ मिलता है। केवल श्रद्धा और शुश्रुषा (श्रवण करने की इच्छा) से भी यह फल प्राप्त होता है, तब सर्व-भाव से आत्मसमर्पण करने वाले को उस फल की प्राप्ति विशेष रूप से क्यों न होगी? सारांश यह है कि अत्यन्त गुरुभक्ति इस मार्ग में सिद्धि प्राप्त करने का अत्यन्त श्रेष्ठ साधन है।

---

* तस्य पुत्रा दायमुपयान्ति, सुहृदः साधुकृत्याम्, द्विषन्तः पापकृत्याम्। वे. सू. ३ रा अध्याय, ३ रा पाद, २६ सूत्रभाष्य।

२३. इन सब विशेषताओं के वर्णन की आवश्यकता प्रस्तुत चरित्र के समझने के लिये नहीं है। यहाँ तक बताये हुए तन्त्रशास्त्र के स्वरूप को जान लेने से पाठकों के ध्यान में आ गया होगा कि वैदिक मार्ग के अवलम्बन करने वाले साधक को तान्त्रिक मार्ग के अवलम्बन करने में कोई हीनता नहीं प्राप्त होती और तन्त्र मार्ग के वीराचार में सकृद्दर्शन में जो वभित्स या निन्दनीय बात दिखती है, वह साधक की दृष्टि में वैसी नहीं वल्कि उसकी उन्नति में सहायक होती है।

२४. इस दृष्टिकोण को रखते हुए श्रीरामकृष्ण के चरित्र के आगामी भाग को पढ़ने से स्थान २ पर आने वाली शंकाओं का समाधान अवश्य होगा।

२५—श्रीरामकृष्ण का तन्त्र साधन।

(१८६१—६३)

" मुख्य २ चौंसठ तन्त्रों में जो २ साधनाएँ बतलाई गई हैं, उन सभी साधनाओं का अभ्यास एक के बाद एक ब्राह्मणी ने मुझसे कराया। कितनी कठिन है वे साधनाएँ! उन साधनाओं का अभ्यास करते समय बहुतेरे साधक पथभ्रष्ट हो जाते हैं, पर माता की कृपा से मैं उन सभी साधनाओं को पार कर सका। "

" मुझे किसी भी साधन के लिये तीन दिनों से अधिक समय नहीं लगा। "

—श्रीरामकृष्ण।

जिस समय दक्षिणेश्वर में भैरवी ब्राह्मणी का आगमन हुआ उस समय श्रीरामकृष्ण को श्री जगदम्बा का दर्शन हो चुका था। उस समय उनका अधिकार बहुत बड़ा था और साधन करने का जो उद्देश हुआ करता है वह तो उन्हें सिद्ध ही हो चुका था। अब दो प्रश्न सहज ही उठते हैं:-(१) जब उन्हें ईश्वर दर्शन

मिल चुका था तो भी पुनः साधन करने की क्या आवश्यकता थी, और (२) ब्राह्मणी को इतनी खटपट करने का क्या काम था?

इनमें से प्रथम प्रश्न का उत्तर देना बहुत कठिन है। ईश्वर दर्शन के बाद उन्हें साधन करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में स्वयं श्रीरामकृष्ण ने समय २ पर भिन्न २ कारण बताये हैं। (१) एक बार वे बोले—"वृक्षलतादिकों का साधारण नियम है कि उसमें प्रथम पुष्प तदुपरान्त फल लगते हैं, परन्तु उनमें से एकाध में पहिले फल फिर फूल निकलते हैं। मेरे सम्बन्ध में भी यही हुआ। परन्तु इस पर भी 'ऐसा क्यों हुआ?' यह प्रश्न शेष ही रह जाता है।

(२) और एक समय वे बोले—" यह देखो, कभी २ समुद्र के किनारे रहने वाले को रत्नाकर के रत्नों को देखने की इच्छा होती है। उसी प्रकार माता की कृपा हो जाने पर मुझे भी ऐसा लगता था कि सच्चिदानन्द सागर में भरे हुए रत्नों को देखना चाहिये। इसी कारण मैं रत्नों को देखने के लिये माता के पास हठ करके बैठ जाता था और मेरी परम कृपालु माता मेरे अत्यन्त आग्रह को देखकर मेरा हठ पूरा करती थी। इस प्रकार भिन्न २ धर्मों की साधनाएँ मेरे हाथ से हुई। उनके इस कथन का यही अर्थ दिखता है कि उन्होंने इन भिन्न २ धर्मों की साधनाएँ केवल जिज्ञासा या कुतूहल के कारण कीं।

(३) और भी एक समय वे बोले--" स्वरूप में मेरे ही समान एक तरुण सन्यासी (अपनी ओर उंगली दिखाकर) इस देह से कभी २ बाहर निकलकर मुझे सभी विषयों का उपदेश देता था············उसके मुख से मैंने जो सुना था उसी का उपदेश न्यांगटा और ब्राह्मणी ने आकर एक बार मुझे पुनः दिया ············इससे यह मालूम होता है कि वेद, शास्त्र आदि में वर्णित विधियों की मर्यादारक्षण करने के लिये ही इन्हें गुरुस्थान में मानकर उनसे मुझे पुनः उपदेश ग्रहण करना पड़ा; अन्यथा सब कुछ पहिले से मालूम रहते हुए भी पुनः

वही बात सिखाने के लिये न्यांगटा आदि कों का गुरु रूप में आने का कोई प्रयोजन नहीं दिखाई देता।" इससे यही कहना पड़ता है कि ईश्वर दर्शन के बाद की उनकी साधनाएँ केवल शास्त्रमर्यादा रक्षणार्थ थीं, वैसे तो उन्हें स्वयं उन साधनाओं की आवश्यकता ही नहीं थी।

(४) उसी तरह उन्होंने स्वयं ऐसा भी कहा है कि "मुझे उस समय अनेक ईश्वरी रूपों के दर्शन हुआ करते थे, परन्तु मुझे शंका थी, यह सब मेरे मगज़ का भ्रम तो नहीं है? इसीलिये यह सच है या झूठ है इसकी जाँच करने के लिये मैं कहता था कि 'अमुक बात हो जायगी तब मैं इस दर्शन को सच मानूंगा, और यथार्थ ही वह बात हो ही जाती थी।" इसके उदाहरणार्थ वे बताते थे—"एक बार मैं बोला—'यदि रानी रासमणि की दोनों लड़कियाँ * इस समय यहां पंचवटी के नीचे खड़ी होकर मुझे पुकारेंगी, तो मैं इन सब बातों को सत्य समझूंगा।' वे लड़कियाँ उसी समय वहां आ गई और मुझे पुकार कर कहने लगीं, 'तुम पर जगदम्बा शीघ्र ही कृपा करेगी।' मैंने वैसे ही एकवार कहा—'यदि सामने के ये पत्थर मेंढक के समान इधर उधर उछलने लगेंगे तो मैं अपने दर्शन को सत्य समझूंगा! सचमुच ही वे पत्थर मेंढक के समान कूदते हुए दिखाई दिये!" इससे प्रकट होता है कि श्रीरामकृष्ण को जो दर्शन या अनुभव होते थे उनकी सत्यता या असत्यता के सम्बन्ध में उन्हें बड़ी प्रबल शंका बारबार हुआ करती थी।

उपरोक्त वचनों की एकवाक्यता करने के लिये नीचे लिखी बातें ध्यान में रखनी चाहिये। उनके वचनों से यह साफ़ दिखता है कि—

---

* रानी के यहां परदे की प्रथा होने के कारण घर की स्त्रियां कभी बाहर नहीं जाती थीं।

१. ईश्वर दर्शन के पश्चात् कुछ समय तक तो वे अपने प्राप्त हुए अनुभवों के सम्बन्ध में निःशंक नहीं हुए थे।

२. ब्राह्मणी, तोतापुरी आदि ने उनसे जो साधनाएँ करवाईं उनका फलाफल उन्हें पूर्व ही विदित हो गया था।

३. श्री जगदम्बा के दर्शन होने के बाद उन्होंने अन्य मतों का साधन केवल कुतूहल से—अन्य मतों में बताई हुई बातों को देखने की सहज इच्छा से किया।

इसे ध्यान में रखते हुए, उनके ईश्वर दर्शन के बाद के साधनाओं के कारण की मीमांसा करने पर यह कहा जा सकता है कि श्री जगदम्बा के दर्शन के बाद उन्हें जो आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त होने लगे उनके बारे में उनका मन सशंक ही रहा करता था; अतः उनके संशय की निवृत्ति करने की बड़ी आवश्यकता थी। उनके शरीर से बाहर निकलकर उन्हें उपदेश देने वाले सन्यासी ने यही काम किया, जिससे उनका मन संशयरहित बन गया। पीछे ब्राह्मणी और श्री तोतापुरी आदि गुरुजनों के उपदेश के अनुसार श्रीरामकृष्ण ने साधनाएँ केवल कुतूहल से कीं—अथवा दूसरे शब्दों में कहना हो तो—यह उनका देह प्रारब्ध था। यह भी हो सकता है कि बंगदेश में विशेष प्रचलित तथा आधुनिक काल में अधिक उपकारक तन्त्र-सम्प्रदाय को क़ायम रखने, और उत्तेजना देने के लिये श्री जगदम्बा ने इस महापुरुष को उपयोगी जानकर इन साधनाओं को करने की उन्हें आज्ञा दी हो।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टः तस्य कार्यं न विद्यते॥

—गीता ३।१७

ऐसे अधिकारी सत्पुरुषों द्वारा धर्म-संस्थापन के कार्य में समय २ पर की गई योजना जगन्नियन्ता के द्वारा की हुई देखने में आया करती है। इन्द्र, मनु, वशिष्ठ, व्यास आदि नाम एक २ ही व्यक्ति के नहीं हैं, वरन् समय २ पर विशिष्ट कार्य करने के लिये नियुक्त किये हुए भिन्न २ व्यक्तियों को, उन २ अधिकारों के प्राप्त होने पर वे नाम भी मिला करते हैं। यह बात पुराण, योगवाशिष्ठ, शारीरिक भाष्य आदि ग्रंथों में दिखलाई पड़ती है। इससे विदित है कि सत्पुरुषों को विशिष्ट कार्य करने के लिये नियुक्त करना जगन्नियंतृत्व की सदा प्रचलित पद्धति है। सम्भव है इसी पद्धति के अनुसार श्रीरामकृष्ण की योजना तान्त्रिक सम्प्रदाय की शुद्ध परम्परा क़ायम रखने के लिये, और उसका विशेष प्रचार भी करने के लिये, श्री जगन्माता ने की होगी। श्रौतकर्म में अमुक अन्न, अमुक वृक्ष की समिधा आदि सामग्रियाँ तथा विशिष्ट कुण्ड, मण्डप, यूप, वेदी और विधान की भिन्न २ यज्ञ-यागों में आवश्यकता होती है। तान्त्रिक उपासना में भी दिखता है कि अन्तर्याग की पूर्ति के लिये, उसके अंगस्वरूप बाह्यविधान में ब्राह्मणी द्वारा उपयोग किये गये भिन्न २ पदार्थों की आवश्यकता अपरिहार्य थी। इसी कारण ऐसा दिखता है कि जगन्माता की इच्छा को पूर्ण करने के उद्देश से श्रीरामकृष्ण तान्त्रिक साधन-काल में विधिवाक्य और ब्राह्मणी की आज्ञा के अनुसार वैसे ही चुपचाप आचरण करते थे जैसे कि बगीचे का माली पानी को इच्छानुसार चाहे जिस ओर ले जाता है।

इस दृष्टि से विचार करने पर श्रीरामकृष्ण ने ईश्वर दर्शन के उपरान्त पुनः साधनाएँ क्यों कीं यह समस्या बहुत कुछ हल हो जाती है। इसी प्रश्न पर प्रस्तावना में भिन्न दृष्टि से विचार किया गया है।

दूसरे प्रश्न का भी एक ही स्पष्ट उत्तर नहीं दिया जा सकता। ब्राह्मणी के कथनानुसार जब वे अवतार थे, तब ब्राह्मणी को क्यों मालूम हुआ कि उन्हें साधारण जीवों के समान साधन करना चाहिये। इससे यही कहना

पड़ता है कि ब्राह्मणी को उनके ऐश्वर्य का ज्ञान सदा ही बना रहने पर उनके साधनों की आवश्यकता का भाव उसके मन में आना ही सम्भव नहीं था। पर वैसा नहीं हुआ। हम पहिले ही बता चुके हैं कि प्रथम भेंट के समय से ही ब्राह्मणी के मन में श्रीरामकृष्ण के प्रति पुत्र के समान प्रेम उत्पन्न हो गया था; और उसके इस अपत्य प्रेम ने श्रीरामकृष्ण के ऐश्वर्य ज्ञान को भुला दिया था। श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण आदि अवतारी पुरुषों के चरित्र में भी यही बात पाई जाती है। उनकी माता और अन्य निकट सम्बन्धियों के मन में उनके अवतार होने का और आध्यात्मिक ऐश्वर्य का ज्ञान यद्यपि बीच २ में उत्पन्न हो जाया करता था, तथापि वे प्रेम के अद्भुत आकर्षण से उनकी महिमा को थोड़े ही समय में भूल जाते थे। यही हाल ब्राह्मणी का भी हुआ होगा। उनके अलौकिक भावावेश और शक्ति के प्रकाश को देखकर ब्राह्मणी बारम्बार चकित हो जाती थी, पर उनके अकृत्रिम मातृप्रेम, पूर्ण विश्वास और अत्यन्त सरल बर्ताव को देखकर, उसके मन में वात्सल्य भाव जागृत हो जाता था। वह उनकी महिमा को भूल जाती थी। वह हर प्रकार के कष्ट सहकर उन्हें थोड़ा सा ही सुख देने के लिये, दूसरों के कष्ट से उनका बचाव करने के लिये और उनके साधनों में हर प्रकार की सहायता करने के लिये, सदा कटिबद्ध रहती थी ऐसा भी सम्भव है।

इस प्रश्न पर अन्य दृष्टि से भी विचार हो सकता है। तीन ऋणों में से एक ऋषि-ऋण चुकाने के लिये जैसे स्वाध्याय और प्रवचन, अध्ययन और अध्यापन ब्राह्मण के लिए आवश्यक है, वैसे ही साम्प्रदायिक मार्ग का विच्छेद न होने देना भी प्रत्येक अधिकारी साधक का कर्तव्य है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्राह्मणी को श्रीरामकृष्ण जैसे अधिकारी सच्छिष्य के मिलने से अपने कर्तव्य को पूर्ण करने की इच्छा हुई होगी। साधारणतः मनुष्य की इच्छा भी रहती है कि अपने प्रिय विषय का अपने ही साथ नाश न हो जाय। उसका उपयोग अपने आप्त, इष्ट, प्रिय जनों में अपने जीते जी तथा बाद में भी हो सके। ऐसी

इसी भावना से प्रेरित होकर लोग मृत्युपत्र का लिख देना, दत्तक-पुत्र लेना आदि उपायों का अवलम्बन किया करते हैं। इसी भावना से तो विश्वामित्र सदृश भी तपोधन सिद्धाश्रम छोड़कर यज्ञरक्षा के बहाने श्रीरामचन्द्र जैसे अवतारी पुरुष को माँगकर ले गये और उन्हें सब अस्त्रविद्या सिखलाई जिसका वर्णन आदि कवि के जगद्वंद्य काव्य में मिलता है। सम्भव है उसी भाव-धारा में बहकर ब्राह्मणी ने इतनी खटपट की हो।

सच्छिष्य मिलने पर गुरु को अत्यन्त समाधान होता है। ब्राह्मणी को यह कल्पना न थी कि आधुनिक काल में उसे श्रीरामकृष्ण जैसे सच्छिष्य की प्राप्ति होगी। अतः श्रीरामकृष्ण को शिष्य पाकर उसे जो आनन्द हुआ होगा, उसकी कल्पना नही की जा सकती। उस ब्राह्मणी को अपने इतने दिनों के साधन और तपश्चर्या का फल कम से कम समय में किसी तरह श्रीरामकृष्ण के हवाले कर देने की धुन लग गई।

श्रीरामकृष्ण ने साधना प्रारम्भ करने के पूर्व ही उसके सम्बन्ध में श्री जगन्माता की अनुमति प्राप्त कर ली थी, यह बात उन्होंने स्वयं ही हमको बताई। अतः एक बार श्री जगन्माता की अनुमति प्राप्त करके साधन करने का निश्चय हो जाने पर एक तो श्रीरामकृष्ण का उत्साह और फिर ब्राह्मणी की उत्तेजना! बस! दोनों का संयोग हो गया। उन्हें साधना के सिवाय कोई दूसरी बात सूझती ही नहीं थी। सतत उन्हें इसी बात की व्याकुलता होने लगी। इस व्याकुलता की तीव्रता का अनुमान हम जैसे साधारण मनुष्य कर ही नहीं सकते क्योंकि हमारा मन अनेक प्रकार के विचारों से विचलित रहा करता है। ऐसी अवस्था में उसमें श्रीरामकृष्ण के समान उपरति और एकाग्रता कैसे रह सकती है? आत्मस्वरूप रूपी समुद्र की ऊपरी चित्रविचित्र तरंगों में तरंगित न होकर उस समुद्र तल के रत्नों को प्राप्त करने के लिये उसमें एकदम डुबकी लगाने का असीम साहस हममें कहां से पाया जाय? श्रीरामकृष्ण हमसे यह कहते थे कि "एकदम डुबकी लगाकर बैठ जाओ", "आत्म स्वरूप में लीन

हो जाओ।" जिस तरह बारम्बार उत्तेजित करते थे, उस तरह संसार के पदार्थ तथा अपने शरीर की ममता को दूर फेंककर एकदम आत्मस्वरूप में कूदकर विलीन होने की शक्ति हममें कहां से प्राप्त हो? वे तो हृदय की असह्य वेदना से व्याकुल होकर "माता, मुझे दर्शन दे" कहते हुए रोते और चिल्लाते पंचवटी के नीचे अपना मस्तक तक रगड़ डालते थे और धूल में इतस्ततः लोटने लगते थे। कई दिनों तक यह क्रम चलते रहने पर भी उनकी व्याकुलता कम नहीं पड़ती थी। जब हम ऐसी बात सुनते हैं, तो हमारी दशा वैसी ही हो जाती है जैसे भैंस के आगे बाजे बीन और भैंस पड़ी पगुराय। हमारे हृदय में पारमार्थिक विषय के अनुकूल संवेदना उत्पन्न होने का हमें अनुभव कभी नहीं होता। ऐसी संवेदना हो भी कैसे? श्री जगन्माता यथार्थ में है, और अपना सर्वस्व होम करके व्याकुल हृदय से उसे पुकारने से हमें सचमुच उसके प्रत्यक्ष दर्शन हो सकते हैं इस बात पर श्रीरामकृष्ण के समान सरल विश्वास क्या हमें कभी होता भी है?

साधनकाल में श्रीरामकृष्ण के मन में जो व्याकुलता और उत्साह था, उन्होंने उसकी थोड़ी सी कल्पना हमें काशीपुर में रहते समय दी। उस समय हम स्वामी विवेकानन्द की अपरिमित व्याकुलता को–जो ईश्वर दर्शन के लिये थी–अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देख रहे थे। वकालत की परीक्षा फीस जमा करते हुए उन्हें एकाएक कैसा तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुआ जिसके आवेश में वे केवल एक धोती पहन नंगे पैर किसी उन्मत्त के समान शहर से काशीपुर तक दौड़ते आये, और उन्होंने श्रीरामकृष्ण के चरणों को पकड़कर उनसे अपने मन की व्याकुलता का वर्णन किस प्रकार किया; वे उस दिन से आहार निद्रा आदि की भी परवाह न करके जिस तरह जप, ध्यान, भजन में ही रातदिन मग्न रहने लगे; साधन के उत्साह में उनका कोमल हृदय वज्र के समान कठोर बन गया और वे अपनी घरेलू स्थिति के सम्बन्ध में कैसे पूर्ण उदासीन बन गये; श्रीरामकृष्ण के बताये हुए साधनमार्ग का अत्यन्त श्रद्धापूर्वक अवलम्बन करके उन्होंने केवल तीन चार महीने की अवधि में निर्विकल्प समाधि-सुख का अनुभव कैसे प्राप्त किया आदि

बातें हमारी आँखों के सामने होने के कारण हमें उनके वैराग्य, उत्साह और व्याकुलता की कल्पना पूरी २ हो गई थी। स्वामी जी के उत्साह की और व्याकुलता की प्रशंसा श्रीरामकृष्ण भी आनन्दित हो मुक्त कंठ से किया करते थे। लगभग उसी समय एक दिन स्वामी जी और अपने स्वतः के साधनोत्साह के सम्बन्ध में तुलना करते हुए श्रीरामकृष्ण बोले—"नरेन्द्र का साधनोत्साह और व्याकुलता सचमुच परम अद्भुत तो है, परन्तु उस समय (साधना करते समय) इस उत्साह और व्याकुलता से यहां (स्वयं मेरे मन में) मची हुई प्रचण्ड खलबली के सामने नरेन्द्र की व्याकुलता कुछ भी नहीं है—उसके पासंग में नहीं आ सकती!" श्रीरामकृष्ण के इन शब्दों से हमें जो आश्चर्य हुआ होगा उसकी कल्पना पाठक ही करें।

अब श्रीरामकृष्ण अन्य सब बातों को भूलकर श्री जगदम्बा की अनुमति से साधना में निमग्न हो गये, ब्राह्मणी भी हर प्रकार से उन्हें सहायता देने लगी। उसने साधनों के आवश्यक भिन्न २ पदार्थ कहीं न कहीं से ला लाकर श्रीरामकृष्ण को साधनक्रिया में उन पदार्थों के उपयोग करने के सब उपाय समझा दिये। उसने बड़े प्रयत्न से गंगाहीन प्रदेश से नरमुण्ड आदि पाँच जीवों के मुण्ड मँगाकर काली मन्दिर के अहाते के भीतर बगीचे के उत्तर में बिल्ववृक्ष के नीचे और श्रीरामकृष्ण ने अपने हाथ से लगाये हुए पंचवटी के नीचे इस तरह दो वेदियाँ साधनार्थ निर्माण कराई *। इनमें से जिस २ वेदी पर बैठकर जो २ साधनाएँ

---

* साधारणतः सब जगह पंचमुण्डयुक्त एक ही वेदिका साधन के लिये तैयार करते हैं। परन्तु ब्राह्मणी ने दो वेदियाँ बनवाई ऐसा स्वयं श्रीरामकृष्ण ने हमें बताया। उनमें से बिल्ववृक्ष के नीचे की वेदी में तीन नरमुण्ड गड़ाये गये थे और पंचवटी के नीचे की वेदी में पांच प्रकार के जीवों के मुण्ड गड़ाये गये थे। साधनाएँ समाप्त होने पर दोनों वेदियाँ उन्होंने तोड़ दी और इन सभी मुण्डों को स्वयं उन्होंने खोदकर निकाला और गंगा जी में फेंक दिया।

करने की थीं, उन्हें उस वेदी पर ही बैठकर करने में तथा जप ध्यान और पुर-श्चरण करने में श्रीरामकृष्ण का समय व्यतीत होने लगा। इस अद्भुत साधक को महीनों तक यह भी ध्यान नहीं रहा कि दिन कब निकला और कब अस्त हुआ, रात कब आई और कब गई! श्रीरामकृष्ण कहते थे कि "ब्राह्मणी रोज़ दिन-भर इधर उधर खूब घूम फिरकर तंत्रोक्त भिन्न २ दुष्प्राप्य वस्तुओं को ढूंढ़ २ कर लाती थी और संध्याकाल होते ही वह बिल्व वृक्ष के नीचे वाली या पंचवटी वाली वेदिका के समीप लाकर रख देती थी और मुझे पुकारती थी। तत्पश्चात् उन वस्तुओं के द्वारा वह मेरे हाथ से श्री जगन्माता की यथाविधि पूजा कराती थी। इस पूजा के समाप्त होने पर वह मुझे जप ध्यान आदि करने के लिये कहती थी। मैं ब्राह्मणी के आदेश के अनुसार सभी करता था परन्तु जप आदि को तो अधिक समय तक कर ही नहीं सकता था क्योंकि एक बार माला फेरते ही मुझे समाधि लग जाती थी। इस प्रकार उस समय जो अद्भुत दर्शन और विचित्र २ अनुभव प्राप्त हुए उनकी गिनती ही नहीं है। मुख्य २ चौसठ तंत्रों में जो २ साधनाएँ बताई गई हैं, उन सभी को ब्राह्मणी ने एक के बाद एक मुझ से कराया। वे कितनी कठिन साधनाएँ थीं? बहुत से साधक तो उन्हें करते समय पथभ्रष्ट हो जाते हैं, परन्तु मैं माता की कृपा से उन सभी साधनाओं को पार कर गया।

"एक दिन संध्या के समय अंधेरा होने पर ब्राह्मणी कहीं से एक सुस्वरूप युवती को अपने साथ लेकर आई और मुझे पुकारकर कहने लगी—"बाबा, इसे देवी जानकर इसकी पूजा करो।" पूजा समाप्त होने पर ब्राह्मणी ने उस स्त्री को विवस्त्र करके मुझसे कहा—"बाबा! अब इसकी गोदी में बैठकर जप करो!!" यह सुनकर डर के मारे मेरा हृदय धड़कने लगा और व्याकुल होकर रोते २ मैं कहने लगा, "माता जगदम्बिके! अपने इस दीन दास को तू यह कैसी आज्ञा दे रही है? तेरे इस दीन बालक में ऐसा

दुःसाहस करने का सामर्थ्य कहां ? " इतना कहते २ मेरे शरीर में मानो कोई प्रवेश कर गया और मेरे हृदय में कहीं से एकाएक अपूर्व बल उत्पन्न हो गया। तत्पश्चात् मैं किसी निद्रित मनुष्य के समान अज्ञानावस्था में मन्त्रोच्चारण करते २ आगे बढ़ा। फिर उस स्त्री की गोदी में बैठते ही मुझे समाधि लग गई! होश में आने पर देखता हूं तो वह ब्राह्मणी मुझे सचेत करने के लिये बड़े प्रेम से मेरी शुश्रुषा कर रही है। मेरे सचेत होते ही ब्राह्मणी बोली, "बाबा! डरो मत, क्रिया सम्पूर्ण हो गई। अन्य साधक तो इस अवस्था में बड़े कष्ट से धैर्य धारण करते हैं और किसी प्रकार थोड़ा सा जप करके इस क्रिया को समाप्त कर देते हैं, पर तुम अपनी देह की स्मृति भी भूलकर समाधिमग्न हो गये!" ब्राह्मणी से यह सुनकर मेरे हृदय का बोझ हलका हुआ और मुझे इस कठिन साधना से पार करने के कारण मैं कृतज्ञतापूर्ण अन्तःकरण से श्री जगन्माता को बारम्बार प्रणाम करने लगा।"

एक दिन पुनः वह ब्राह्मणी नरमाँस का टुकड़ा लेकर आई और जगदम्बा को उसका नैवेद्य अर्पण करके मुझसे बोली, "बाबा! इसे जीभ से स्पर्श करो।" यह देखकर मेरे मन में बड़ी घृणा उत्पन्न हुई और मैं बोला, "छिः मुझसे यह नहीं हो सकता।" वह फिर बोली, "होगा कैसे नहीं? देख मैं स्वयं करके तुझे दिखाती हूं।" यह कहकर उस ने वह टुकड़ा अपने मुँह में डाल लिया, और "घृणा नहीं करनी चाहिये" कहती हुई उसका कुछ भाग पुनः मेरे सामने रखा। उसे वह माँसखण्ड अपने मुख में डालते देखकर श्री जगदम्बा की विकराल चण्डिका-मूर्ति मेरी आँखों के सामने खड़ी हो गई। मैं "माता! माता!" कहता हुआ भावाविष्ट हो गया। तब ब्राह्मणी ने उसी स्थिति में वह टुकड़ा मेरे मुख में डाल दिया। कहना न होगा कि उस समय मेरे मन में कुछ भी घृणा नहीं हुई। इस तरह पूर्णाभिषेक क्रिया होते तक ब्राह्मणी ने प्रति दिन इतने नये २ तान्त्रिक साधन मुझसे करवाये कि उनकी गिनती नहीं हो सकती। अब वे

सब साधन मुझे स्मरण भी नहीं हैं। केवल इतना स्मरण है कि जिस दिन मुझे माता की कृपा से दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई जिससे मैं प्रणयी युगल के चरम आनन्द की ओर देखने में समर्थ हुआ। उनकी वह क्रिया देखकर मुझमें साधारण मनुष्य बुद्धि का लेश मात्र भी उदय न होकर केवल ईश्वरी भाव का उद्दीपन ही हुआ जिससे मैं समाधिस्थ हो गया। उस दिन समाधि उतरने पर ब्राह्मणी मुझसे बोली, " बाबा ! तू तो अब सिद्धकाम बनकर दिव्य भाव में पूर्णतया अचल हो आनन्दासन पर बैठ गया ! वीरभाव का यही अन्तिम साधन है। " तन्त्रोक्त साधन करते समय सदैव मेरे मन में स्त्री जाति के प्रति मातृभाव वास करता था। उसी तरह कुछ साधनों में मद्य ग्रहण करने की आवश्यकता हुई पर मैंने कभी मद्य का स्पर्श तक नहीं किया। मद्य के केवल नाम से या गन्ध से मेरे मन में जगत्कारण ईश्वर का स्मरण हो आता था और मुझे एकदम समाधि लग जाती थी। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि " मुझे साधनकाल में किसी भी साधन के लिये तीन दिनों से अधिक समय नहीं लगा। मैं किसी भी साधन का प्रारम्भ करके उसका फल प्राप्त होते तक व्याकुल अन्तःकरण से हठपूर्वक श्री जगन्माता के पास बैठ जाता था। फलतः तीन दिनों के भीतर ही काम हो जाता था। "

दक्षिणेश्वर में एक दिन स्त्री जाति के प्रति निरन्तर मातृभाव रखने की बात बताते हुए श्रीरामकृष्ण हमें गणपति की एक कथा सुनाने लगे कि " बचपन में एक दिन एक बिल्ली गणपति के सामने आ पड़ी। उन्होंने लड़कपन के स्वभाव से उसे बहुत पीटा, यहां तक कि बेचारी के शरीर से रक्त निकल आया। वह बिल्ली किसी तरह अपनी जान बचाकर वहां से भागी। उसके चले जाने के बाद गणपति अपनी माता के पास पहुँचे और वहां देखते हैं तो उनकी माता के शरीर पर जगह २ मार के निशान पड़े हुए हैं। यह देख उन्हें अत्यन्त भय और दुःख हुआ और इसका कारण पूछा तो माता खिन्न होकर बोली, ' बेटा, यह सब तेरा ही पराक्रम है। ' इतना सुनते ही मातृभक्त गणपति को बड़ा अचरज

हुआ और दुःखित हो आँखों से आँसू बहाते हुए बोले, 'माता! मैंने तुझे कब मारा? तू योंही कुछ का कुछ कह देती है।' इस पर पार्वती बोलीं, 'आज तूने किसी जीव को पीटा या नहीं, ठीक २ याद कर भला।' गणपति बोले, 'हाँ, उस वक्त एक बिल्ली को मारा था।' गणपति ने समझा कि बिल्ली के मालिक ने हमारी माता को मारा है और फिर वे रोने लगे। तब पार्वती ने गणपति को छाती से लगा लिया और बोली, 'बेटा! रोओ मत। स्वयं मुझको किसी ने प्रत्यक्ष नहीं मारा है, पर वह बिल्ली भी तो मेरा स्वरूप ही है? इसी कारण मार के निशान मेरे शरीर पर भी दिखाई दे रहे हैं। अब यह बात तुझे मालूम न रहने के कारण तेरा इसमें कोई अपराध नहीं है। चुप हो जा, रो मत पर अब इतना ध्यान रख कि संसार में जितने स्त्री रूप हैं वे सभी मेरे अंश से उत्पन्न हुए हैं, और जितने पुरुष रूप हैं वे सब तेरे पिता के अंश से उत्पन्न हुए हैं। शिव और शक्ति के सिवाय इस संसार मे अन्य कुछ नहीं है।' श्री गणपति ने अपनी माता के वाक्य को पूर्णतः ध्यान में रखा। इसी से विवाह का समय आने पर उन्होंने किसी स्त्री से विवाह करना माता से ही विवाह करने के समान मानकर, अपना विवाह करना ही अस्वीकार कर दिया।"

स्त्री जाति के प्रति श्री गणेश जी का इस प्रकार के मातृभाव की चर्चा करते हुए श्रीरामकृष्ण बोले, "स्त्री जाति के प्रति यही भाव मेरा भी है। मैंने अपनी स्वयं खुद की पत्नी में भी श्री जगदम्बा का मातृ स्वरूप प्रत्यक्ष देखकर उसकी पूजा की।"

स्त्री जाति के प्रति मन में सतत मातृभाव रखते हुए तंत्रोक्त वीरभाव की साधना किसी साधक ने कभी की हो यह हमने नहीं सुना है। वीरभाव का आश्रय लेने वाले साधक आज तक साधनकाल में स्त्री का ग्रहण करते ही आये हैं। वीर मत के आश्रयी सभी साधकों को स्त्री ग्रहण करते देख लोगों की यह दृढ़ धारणा हो गई है कि वैसा किये बिना उन साधनों में सिद्धि या जगदम्बा की कृपा प्राप्त करना असम्भव है। इसी भ्रम के कारण ही तंत्रशास्त्र के विषय में भी

लोगों की धारणा भ्रमपूर्ण हो गई है। स्त्री जाति के प्रति मन में सदा दृढ़ मातृभाव रखते हुए श्रीरामकृष्ण के द्वारा तंत्रोक्त साधन करने में, सम्भव है श्रीजगन्माता का उद्देश लोगों का भ्रम दूर करना भी रहा हो।

उनका प्रत्येक वीरभाव का साधन बहुत ही अल्प समय में पूर्ण हो जाता था। इसी से यह स्पष्ट है कि स्त्री ग्रहण इन साधनों का साधन अंग नहीं। मन को वश में न रख सकने वाले साधक ही अपने मनोदौर्बल्य के कारण वैसा किया करते हैं। साधकों द्वारा ऐसा किया जाने पर भी तंत्रशास्त्र ने उन्हें क्षमा ही किया है, और यह कहकर निर्भीक कर दिया है कि और पुनः पुनः प्रयत्न करने पर साधक दिव्य भाव का अधिकारी होगा। इस पर से तंत्रशास्त्र की परम कारुणिकता मात्र दिखाई देती है। इससे यह भी दिखता है कि जो २ रूप रसादिक पदार्थ मनुष्य को मोहजाल में फँसाकर जन्म मरण के चक्कर में डाल देते हैं, तथा उसे ईश्वर दर्शन या आत्मज्ञान का अधिकारी नहीं बनने देते, उन सभी में ईश्वरमूर्ति की दृढ़ धारणा साधक के मन में संयम और सतत अभ्यास के द्वारा उत्पन्न करना भी तान्त्रिक क्रियाओं का उद्देश है। तंत्रशास्त्रों ने साधकों के संयम और मनोरचना का तारतम्यात्मक विचार करके ही उनके पशु, वीर और दिव्य— तीन विभाग किये हैं और क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय भावों के आश्रय से ईश्वरोपासना करने का उपदेश दिया है; कठोर संयम ही इन तन्त्रोक्त साधनों का मूल है, साधक लोग संयम से ही फल पा सकने की यथार्थता को कालक्रम के कारण प्रायः भूल ही गये थे और लोग ऐसे साधकों के किये हुए कुकर्मों का दोष तंत्रशास्त्र के ऊपर ही मढ़कर उस शास्त्र की ही निन्दा करने लगे थे। अतः श्रीरामकृष्ण ने स्त्री जाति के प्रति निरन्तर मातृभाव रखकर इन तन्त्रोक्त साधनों को किया और उनसे फल प्राप्त करके अपने उदाहरण से यथार्थ साधकों का अगणित उपकार कर दिया। फिर उन्होंने तन्त्रशास्त्र की प्रामाणिकता को भी सिद्ध कर दिखाया और उसकी महिमा को बढ़ा दिया।

श्रीरामकृष्ण ने तीन चार वर्षों तक तन्त्रोक्त गूढ़ साधनों का यथाविधि अनुष्ठान करते रहने पर भी हममें से किसी के पास उन साधनों की परम्परा का विवेचन कभी नहीं किया। तथापि उन साधनों के प्रति हमारे उत्साह उत्पन्न करने के लिये वे किसी २ साधन की केवल बात किया करते थे और क्वचित् एकाध साधक को कोई विशेष साधन करने के लिये भी कह देते थे। यह कहना उचित दिखता है कि श्रीरामकृष्ण द्वारा इन तन्त्रोक्त क्रियाओं का अनुष्ठान जगन्माता ने कराया होगा क्योंकि वे उनके फलों का स्वयं अनुभव किये विना भविष्य में उनके पास आने वाले भिन्न २ स्वभाव के भक्तों में से प्रत्येक की अवस्था के उपयुक्त या अनुकूल साधनों की योजना नहीं कर सकेंगे। अस्तु—

श्रीरामकृष्ण तंत्रोक्त साधनकाल में प्राप्त हुए दर्शनों और अनुभवों के सम्बन्ध में हम लोगों से कभी २ कहते थे कि "तंत्रोक्त साधन करते समय मेरा स्वभाव समूल बदल गया था। मैं यह सुनकर कि कभी २ श्री जगदम्बा शृगाल का रूप धारण कर लेती है और यह जानकर कि कुत्ता भैरव का वाहन है, उस समय उनका उच्छिष्ट प्रसाद जानकर ग्रहण कर लेने पर भी मेरे मन में कभी किसी प्रकार की घृणा उत्पन्न नहीं होती थी!"

"मैंने अपना देह, मन, प्राण इतना ही नहीं वरन् अपना सर्वस्व भी श्री जगदम्बा के पाद पद्मों में अर्पण कर दिया था। इसी कारण मैं उन दिनों अपने आपको सदा भीतर बाहर प्रत्यक्ष ज्ञानाग्नि से परिवेष्टित पाता था!"

"कुंडलिनी शक्ति जागृत होकर मस्तक की ओर ऊपर जाती हुई तथा मूलाधार से सहस्रार तक के सभी अधोमुख और मुकुलित कमल ऊर्ध्वमुख और उन्मीलित होते हुए और उनके उन्मीलित होने के साथ २ नाना प्रकार के अपूर्व और अद्भुत अनुभव हृदय में उदित होते हुए, उन दिनों मुझे प्रत्यक्ष दिखाई देते थे! कभी २ तो ऐसा भी दिखता था, कि मेरी उम्र का एक तेजः

पुंज दिव्य पुरुष सुषुम्ना नाड़ी के बीच से इन प्रत्येक कमलों के पास जा रहा है और उस कमल को अपनी जिव्हा से स्पर्श करके उसे प्रस्फुटित कर रहा है।"

एक समय स्वामी विवेकानन्द को ध्यान करने के लिए बैठते ही अपने सामने एक प्रचण्ड ज्योतिर्मय त्रिकोण दिखने लगता था और उसके सजीव होने का भास होने लगता था। दक्षिणेश्वर में आने पर एक दिन उन्होंने यह बात श्रीरामकृष्ण को बतलाई तब वे बोल उठे, "ठीक है, ठीक है, तुझे ब्रह्मयोनि का दर्शन हो गया। बिल्व वृक्ष के नीचे एक दिन साधन करते समय मुझे भी उसका दर्शन हुआ था और मुझे वह मानो प्रतिक्षण असंख्य ब्रह्माण्ड का प्रसव करती हुई भी दिखाई दी थी।"

उसी प्रकार वे कहते थे कि "ब्रह्माण्ड की सभी भिन्न २ ध्वनियाँ एकत्र होकर जगत में प्रतिक्षण एक प्रचण्ड प्रणवध्वनि हो रही है, यह भी मैंने प्रत्यक्ष देखा।" हममें से कोई कहते थे कि "श्रीरामकृष्ण से यह सुना है कि उस समय पशुपक्षी आदि मनुष्येतर सभी जीव जंतुओं की बोली वे समझ लेते थे।" श्रीरामकृष्ण कहते थे कि "उन दिनों मुझे यह दर्शन हुआ था कि साक्षात् श्री जगदम्बा स्त्री योनि में अधिष्ठित हैं।"

साधनकाल के अन्त में अपने में अणिमादि अष्ट सिद्धियों के आविर्भूत होने का अनुभव श्रीरामकृष्ण को हुआ। उन्होंने जब श्री जगदम्बा से पूछा कि हृदय के कहने से उनका प्रयोग कभी करना चाहिये या नहीं तब उन्हें विदित हुआ कि सिद्धियाँ विष्ठा के समान तुच्छ और त्याज्य हैं। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "यह बात जान लेने पर सिद्धियों का केवल नाम लेते ही मेरे मन में घृणा उत्पन्न होने लगी!"

श्रीरामकृष्ण कहते थे, "लगभग उसी समय मेरे मन में यह तीव्र उत्कण्ठा हुई कि मुझे श्री जगन्माता की मोहिनी माया का दर्शन हो तो मुझे एक दिन एक

अद्भुत दर्शन प्राप्त भी हो गया। एक अत्यन्त लावण्यवती स्त्री गंगा में से प्रकट होकर पंचवटी की ओर बहुत गम्भीरतापूर्वक आती हुई दिखाई दी। मेरे बहुत ही समीप आ पहुँचने पर वह मुझे गर्भवती मालूम हुई। ज्योंही वह स्त्री मेरे समीप आई त्योंही वह तुरन्त ही वहीं प्रसूत हो गयी और उसे एक अत्यन्त सुन्दर पुत्र हुआ और वह उसको बड़े प्रेम से, बड़ी ममता के साथ अंचल के भीतर छोंककर दूध पिलाने लगी। थोड़े ही समय में उस स्त्री का स्वरूप बदल गया। उसका मुँह बड़ा विकराल और भयंकर दिखने लगा। उसने चट एकदम उस बालक को उठाकर अपने मुख में डाल लिया और चबा २ कर उसे निगल गई। वह पुनः उसी मार्ग से वापस जाकर गंगा जी में कूद पड़ी।

इस अद्भुत दर्शन के सिवाय उन्हें श्री जगन्माता की द्विभुजा मूर्ति से लेकर दशभुजा मूर्ति तक, सब प्रकार की मूर्तियों के दर्शन उस समय प्राप्त हुए। उनमें से कोई २ मूर्तियाँ उनसे बोलती थीं और उन्हें नाना प्रकार के उपदेश देती थीं। इन मूर्तियों में अत्यन्त विलक्षण सौन्दर्य रहता था। इन सब में श्रीराजराजेश्वरी अथवा षोडशी मूर्ति का सौन्दर्य तो कुछ अपूर्व ही था। श्रीरामकृष्ण कहते थे—" षोडशी अथवा त्रिपुरसुन्दरी का सौन्दर्य मुझे ऐसा अद्भुत दिख पड़ा कि उसके शरीर से रूप लावण्य मानो सचमुच ही नीचे टपक रहा हो और चारों दिशाओं में फैल रहा हो।" इसके सिवाय उस समय अनेक भैरव, देवी, देवता के दर्शन श्रीरामकृष्ण को प्राप्त हुए। इस तन्त्र साधन के काल से श्रीरामकृष्ण को जितने नये २ दिव्य अलौकिक दर्शन और अनुभव प्राप्त हुए उन्हें वे ही जानें। दूसरों को तो उनकी कल्पना भी नहीं हो सकती।

तंत्रोक्त साधन के समय से श्रीरामकृष्ण का सुषुम्ना द्वार पूर्ण खुल गया जिससे उन्हें बालक की सी अवस्था प्राप्त हो गई, यह हमने उन्हीं के मुँह से

सुना है। इस समय से पहिनी हुई धोती और यज्ञोपवीत आदि को शरीर पर सदा धारण किये रहना उनके लिये प्रयत्न करने पर भी शक्य नहीं था। उनके बिना जाने ही धोती वस्त्र आदि न जाने कब और कहां गिर जाते थे, इसका उन्हें ध्यान ही नहीं रहता था! मन सदा श्रीजगदम्बा के पादपद्मों में तल्लीन रहने के कारण जब शरीर की ही सुध नहीं रहती थी तब धोती जनेऊ आदि का क्या ठिकाना? उन्होंने दूसरे परमहंसों के समान धोती त्यागकर जान बूझकर नग्न रहने का अभ्यास कभी नहीं किया, यह भी हमने उन्हीं के मुँह से सुना है। वे कहते थे—"साधनाएँ समाप्त होने पर मुझ में अद्वैत बुद्धि इतनी दृढ़ हो गई थी कि जो पदार्थ मुझे बचपन से ही बिल्कुल तुच्छ, अपवित्र, और त्याज्य मालूम होते थे, अब उनके प्रति भी अत्यन्त पवित्रता की दृढ़ भावना मेरे मन में होने लगी। तुलसी और भंग एक समान प्रतीत होते थे।"

इसके सिवाय इसी समय से आगे कुछ वर्षों तक उनके शरीर की कान्ति बड़ी तेजोमयी बन गई थी। लोग उसकी ओर सदा एकटक देखा करते थे। श्रीरामकृष्ण तो निरभिमानता की मूर्ति ही थे। उन्हें इसका बड़ा खेद होता था। वे अपनी दिव्य अंगकान्ति मिटाने के लिये बड़े व्याकुल अंतःकरण से श्री जगदम्बा की प्रार्थना करते थे--"माता तेरा यह बाह्य रूप मुझे नहीं चाहिये, इसे तू ले जा; और मुझे आन्तरिक आध्यात्मिक रूप का दान दे।" अपने रूप के लिये उनके मन में जो तिरस्कार भाव था, पाठकों को उसकी कुछ कल्पना "मथुरानाथ और श्रीरामकृष्ण" शीर्षक प्रकरण में हो ही गई होगी।

इन सब तन्त्रोक्त साधनाओं के कार्य में जिस प्रकार ब्राह्मणी ने श्रीरामकृष्ण को सहायता दी, आगे चलकर उसी तरह श्रीरामकृष्ण ने भी उसे दिव्य भाव मे आरूढ़ होनें के कार्य में सहायता दी। ब्राह्मणी का नाम "योगेश्वरी" था। श्रीरामकृष्ण बतलाते थे कि "वह साक्षात् योगमाया का ही अवतार थी।"

तन्त्रोक्त साधनों के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली दिव्य दृष्टि की सहायता से उन्हें इस समय विदित हो गया कि भविष्य में बहुत से लोग धर्म का उपदेश लेने के लिये मेरे पास आने वाले हैं। उन्होंने यह बात मथुरबाबू और हृदय को भी बतला दी थी। उसे सुनकर मथुरबाबू बड़े आनन्द से कहने लगे— "वाह! बाबा! तब तो बड़ा अच्छा है। हम सब मिलकर तुम्हारे साथ बड़ा आनन्द करेंगे!!"

२६–जटाधारी और वात्सल्यभाव साधन ।

(१८६४–६५)

"...फिर आने लगे रामायत पंथ के साधू !–उत्तम २ त्यागी भक्त वैरागी बाबाजी– ...... उनमें से एक के पास से तो 'रामलाला' मेरे पास आ गया !"

"उसको (जटाधारी को) प्रत्यक्ष दिखता था कि रामलाला नैवेद्य खा रहे हैं अथवा कोई पदार्थ माँग रहे हैं, या मुझे घूमने ले चलो कह रहे हैं !...और ये सब बातें मुझे भी दिखाई देती थीं !"

—श्रीरामकृष्ण ।

भैरवी ब्राह्मणी सन् १८६१ में दक्षिणेश्वर आई और अन्दाजन ३ वर्ष तक उसकी देखरेख में श्रीरामकृष्ण ने तन्त्रोक्त साधनों का यथाविधि अनुष्ठान किया। तत्पश्चात् भी भैरवी से उन्हें वात्सल्यभाव और मधुरभाव के साधन के समय बहुत सहायता मिली। श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक अवस्था के विषय में पहिले से ही मथुरबाबू की उच्च धारणा थी, और तन्त्रोक्त साधनकाल में तो उनकी आध्यात्मिक शक्ति के विकास को उत्तरोत्तर बढ़ते देखकर उनके आनन्द

और भक्ति में अधिकाधिक बाढ़ आ चली थी। रानी रासमणि की मृत्यु हो जाने पर मथुरबाबू ही उसकी अपार सम्पत्ति के व्यवस्थापक हुए; और वे श्रीरामकृष्ण के साधनकाल से जिस कार्य में हाथ लगाते थे उसमें उन्हें यश ही मिलता था। यह देखकर उनकी दृढ़ धारणा हो गई कि "मुझे जो कुछ धन, मान, यश मिलता है वह सब श्रीरामकृष्ण की कृपा से ही है; यथार्थ में इस सारी सम्पत्ति के मालिक वे ही हैं; मैं केवल उनका मुख्तार हूं। सब प्रकार से मेरी चिन्ता करने वाले और संकटों से छुड़ाने वाले वे ही हैं। वे ही मेरे सर्वस्व हैं। मैं उनकी निरन्तर सेवा करने के ही लिये हूँ; उनके साधन में उन्हें हर प्रकार की सहायता पहुँचाना तथा उनके शरीर का संरक्षण करना ही मेरा मुख्य काम है।" मथुरबाबू को श्रीरामकृष्ण के प्रति इस प्रकार की दृढ़ धारणा और विश्वास उत्पन्न हो जाने के कारण उनकी सेवा के सिवाय और कुछ नहीं सूझता था। श्रीरामकृष्ण के मुँह से शब्द निकलने की ही देरी रहती थी कि वह कार्य तत्क्षण ही हो जाता था। श्रीरामकृष्ण को आनन्द देने वाले कार्य वे सदा ढूंढ़ते रहते थे, और जब उससे श्रीरामकृष्ण को आनन्द प्राप्त हो जाता था तब तो वे अपने को अत्यन्त भाग्यवान् समझते थे। सन् १८६४ में मथुरबाबू ने अन्नमेरु व्रत का अनुष्ठान किया था। हृदय कहता था कि "उस समय मथुरबाबू ने उत्तम २ पण्डितों को बुलाकर उन्हें सोने चांदी के अलंकार, पात्र आदि दान में दिये। उसी प्रकार एक हज़ार मन चाँवल और एक हज़ार मन तिल का भी दान किया। उत्तमोत्तम हरिदास और गवैयों को बुलाकर बहुत दिनों तक दक्षिणेश्वर में रातदिन कीर्तन, भजन, गायन आदि कराया। मथुरबाबू यह सब सुनने के लिये सदा स्वयं हाज़िर रहते थे। घर में कोई मंगल कार्य होता हो तो जैसी अवस्था बालकों की हो जाती है, वैसी ही श्रीरामकृष्ण की अवस्था ऐसे समय पर हो जाती थी। उन्हें भक्तिरसपूर्ण गायन सुनने से बारम्बार भावावेश आ जाता था। जिस गवैयों के गाने से श्रीरामकृष्ण आनन्दित होकर समाधि में मग्न होते, मथुरबाबू उसी को उत्तमता की कसौटी निर्धारित करके उस गवैये को बहुमूल्यवान दुशाला, रेशमी वस्त्र

और सौ २ रुपये पुरस्कार में देते थे। इससे यह स्पष्ट है कि उनके मन में श्रीरामकृष्ण के प्रति कितनी भक्ति और निष्ठा थी।

लगभग इसी समय वर्द्वान के राजा के यहाँ रहने वाले प्रख्यात पण्डित पद्मलोचन के गुणों और निरभिमानता की कीर्ति श्रीरामकृष्ण के कानों में पड़ी और वे उनसे मिलने ही के लिये वहां गये। मथुरबाबू अन्नमेरु व्रत के अनुष्ठान में पद्मलोचन को बुलवाकर उनका सम्मान करने की अत्यन्त अभिलाषा कर रहे थे; और श्रीरामकृष्ण के प्रति उनकी विशेष भक्ति को जानकर तो मथुरबाबू ने उन्हें ख़ास तौर से निमन्त्रण देने के लिये हृदय को भेज ही दिया। अब तो पद्मलोचन को वहाँ आने के सिवाय दूसरी गति ही नहीं थी। उनके दक्षिणेश्वर आने पर मथुरबाबू ने उनका उचित सम्मान किया। पाठकों को पद्मलोचन का और अधिक वृत्तान्त आगे मिलेगा।

तन्त्रोक्त साधन समाप्त हो जाने पर श्रीरामकृष्ण के मन में वैष्णव मत के साधन करने की इच्छा उत्पन्न हुई। ऐसी इच्छा होने के कई स्वाभाविक कारण भी थे। प्रथम कारण यह था कि भक्तिमती भैरवी ब्राह्मणी वैष्णव तन्त्रोक्त पंच भावाश्रित साधनों में स्वयं पारंगत थी, और इनमें से किसी न किसी भाव में वह सदा तल्लीन रहा करती थी। नन्दरानी यशोदा के वात्सल्य भाव में वह श्रीराम-कृष्ण को गोपाल जानकर उन्हें भोजन कराती थी जिसका वृत्तान्त पीछे लिख ही चुके हैं। इसीलिये उसने तन्त्रोक्त साधन समाप्त कराने के बाद वैष्णव भावों की साधना करने के लिये श्रीरामकृष्ण से आग्रह किया होगा। द्वितीय कारण यह था कि वैष्णव कुल में जन्म लेने के कारण, वैष्णव मत के साधन करने की इच्छा होना श्रीरामकृष्ण के लिये बिल्कुल स्वाभाविक ही था। कामारपुकुर के पास वैष्णव मत का बहुत प्रचार होने के कारण, उस मत के प्रति उन्हें बचपन से ही श्रद्धा थी। इन्हीं कारणों से तन्त्रोक्त साधन समाप्त होने पर उनका ध्यान वैष्णव-तन्त्रोक्त साधनों की ओर आकर्षित हुआ होगा।

साधनकाल के द्वितीय चार वर्षों में (१८५६—६२) उन्होंने वैष्णव-तन्त्रोक्त शान्त, दास्य, और सख्य भावों का अवलम्बन करके साधनाएँ कीं और उन्हें उन सभी साधनाओं में सिद्धि प्राप्त हो चुकी थी। इसलिये अब उन्होंने शेष दो मुख्य भावों का—अर्थात् वात्सल्य और मधुर भावों का साधन प्रारम्भ किया (१८६३—६६)। श्री महावीर के दास्य भाव का आश्रय लेकर उन्होंने श्री रामचन्द्र का दर्शन पाया था, और श्री जगदम्बा की सखी अथवा दासी भाव के अवलम्बन में भी उन्होंने अपना कुछ काल विताया था।

दक्षिणेश्वर पुरी जाने के रास्ते पर होने के कारण वहां अनेक साधु, सन्यासी, फकीर, वैरागी लोग आकर ठहरते थे और रानी रासमणि के मन्दिर का २-३ दिन आतिथ्य स्वीकार किये विना आगे नहीं बढ़ते थे। श्रीरामकृष्ण कभी २ हमसे कहते थे—" केशवसेन यहां आने लगे तभी से यहां तुम्हारे सरीखे " यंग बेंगाल " मण्डली के लोगों का आना शुरू हुआ। उसके पहिले यहां कितने * ही साधुसन्त, त्यागी, वैरागी, सन्यासी, बाबाजी आया जाया करते थे जिसका तुम्हें पता नहीं है। रेलगाड़ी शुरू होने से वे लोग अब इधर नहीं आते जाते। रेलगाड़ी चलने के पहिले वे लोग गंगा के किनारे २ पैदल रास्ते से गंगा-सागर में स्नान करने और श्री जगन्नाथ जी के दर्शन के लिये जाया करते थे। रास्ते में यहां पर उनके एक दो मुक़ाम अवश्य ही होते थे। कुछ साधु लोग तो यहां कुछ दिनों तक रह भी जाते थे। साधु लोग " दिशा-जंगल " और अन्न-पानी के सुभीते के विना किसी जगह मुक़ाम नहीं करते। " दिशा-जंगल " यानी शौच के लिये निर्जन स्थान, और अन्न-पानी यानी भिक्षा। भिक्षा पर ही उनका शरीर निर्वाह चलने के कारण जहाँ भिक्षा मिल सके वहीं वे मुक़ाम करते हैं। यहां रासमणि के बगीचे में भिक्षा की अच्छी सुविधा थी और गंगा माई की

---

* इनका वृत्तान्त अगले प्रकरण में मिलेगा।

कृपा से पानी की भी कमी नहीं थी। इसके सिवाय दिशा-जंगल के लिये उत्तम स्थान था। इस कारण साधु लोग यहां एकाध मुकाम अवश्य ही करते थे।"

"एक बार मन में ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई कि यहां जितने साधुसन्त आते हैं उन्हें भिक्षा के सिवाय अन्य जिन वस्तुओं की आवश्यकता हो उन सब का यहीं मिलने का कुछ प्रबन्ध कर दिया जावे, जिससे वे बिल्कुल निश्चिन्त होकर साधन, भजन में मग्न रहा करेंगे, और उन्हें देखकर हम भी आनन्दित होंगे। मन में आते ही यह बात मैंने मथुर को भी बताई। वह बोला, 'अः! इतना ही न बाबा? उसमें रखा क्या है? देखिये मैं अभी सब प्रबन्ध किये देता हूं। जिसे जो देने की इच्छा हो सो देते जाइये।' काली मन्दिर के भण्डार से सभी को सीधा और लकड़ी मिलने की व्यवस्था पहिले से थी ही। इसके अतिरिक्त साधु लोगों को जिसे जो चाहिये—लोटे, कमण्डलु, आसन, कम्बल, नशा तथा धूम्रपान करने के लिये भंग, गांजा, तान्त्रिक साधुओं के लिये मद्य आदि सभी पदार्थ देने का प्रबन्ध मथुरबाबू ने कर दिया। उस समय वहां तान्त्रिक साधु बहुत आते थे। उनके श्रीचक्र के अनुष्ठान के लिये आवश्यक सभी वस्तुओं की व्यवस्था मैं पहिले से ही कर रखता था। जब वे उन सब पूजाद्रव्यों से श्रीजगदम्बा की पूजा करते थे, तब मुझे बड़ा सन्तोष होता था। श्रीचक्र के अनुष्ठान के समय कभी २ वे मुझे भी बुलाकर ले जाते थे और मद्य ग्रहण करने के लिये आग्रह करते थे। पर जब वे जान लेते थे कि मैं कभी भी मद्य ग्रहण नहीं कर सकता, उसके केवल नाम लेने से मुझे नशा हो जाता है, तब वे आग्रह करना छोड़ देते थे। उनके पास बैठने से मद्य ग्रहण करना ही पड़ता था, अतः मैं अपने कपाल पर उसकी टीका लगा लेता था या उसे सूंघ लेता था, या अधिक से अधिक उसकी एकाध बून्द उंगली से लेकर अपने मुख में डाल लेता था। उनमें से कुछ साधु मद्यपान करके ईश्वर-चिन्तन में तन्मय हो जाते थे, परन्तु बहुत से वे हिसाब प्याले पर प्याले चढ़ाकर मतवाले बन जाते थे। एक दिन तो मैंने इसका अतिरेक होते देख नशा करने के सब पदार्थ देना ही बन्द कर दिया।"

" एक समय में एक ही प्रकार के साधुओं का आगमन हुआ करता था। एक समय सन्यासी परमहंस साधु ही आये। ये अकारण पेट भरने वाले या पाखण्डी वैरागी नहीं थे। बल्कि ये लोग सच्चे सन्यासी परमहंस थे। (अपने कमरे की ओर उंगली दिखाकर) उस खोली में उनका अविराम आवागमन जारी रहता था। रात दिन एक ही सरीखे 'अस्ति', 'भाति', 'प्रिय' की व्याख्या तथा वेदान्त की ही चर्चा चला करती थी। रात दिन वेदान्त वेदान्त और वेदान्त इसके सिवाय अन्य कुछ नहीं! उस समय मुझे रक्त आमांश का रोग हो गया था। हाथ का लोटा अलग रखने का भी अवकाश नहीं मिलता था! कमरे के एक कोने में हृदय ने मेरे लिये एक घमेला रख दिया था। इधर यह भोग भोगना और उधर उनके विचार सुनना दोनों चलते रहते थे। जब कोई प्रश्न उनके वाद-विवाद से सिद्ध होने लायक़ नहीं रहता था, तब (अपनी ओर उंगली दिखाकर) भीतर से एकाध सरल बात माता कहला देती थी। उसे सुनकर उनके प्रश्न का समाधान हो जाता था और उनका विवाद मिट जाता था। इस प्रकार कई दिन बीत गये। फिर आने वाले इन सन्यासी परमहंस साधुओं की संख्या कम होने लगी। उनका आना कम होने पर रामायत पन्थ के साधु आने लगे। ये साधु उत्तम त्यागी, भक्त और वैरागी बाबाजी थे। दिन पर दिन उनके जत्थे के जत्थे आने लगे। अहाहा! उनकी भक्ति, विश्वास और निष्ठा कितनी उच्च श्रेणी की थी! उनमें से एक के पास से तो रामलाला जी मेरे पास आ गये।"

जिस रामायत पन्थी साधु के पास से "रामलाला" श्रीरामकृष्ण को मिले उनका नाम जटाधारी था। श्री रामचन्द्र पर उनका जो अद्भुत अनुराग और प्रेम था उसका उल्लेख श्रीरामकृष्ण बारम्बार करते थे। श्री रामचन्द्र की बालमूर्ति उन्हें अत्यन्त प्रिय थी। उस मूर्ति की बहुत दिनों तक भक्तियुक्त अन्तःकरण से पूजा करने के कारण उनका मन निरन्तर श्री रामचन्द्र के चरणों में तन्मय रहा करता था। श्री रामचन्द्र जी की ज्योतिर्मयी बालमूर्ति उनके सन्मुख सचमुच प्रकट

होकर उनकी पूजा ग्रहण करती हुई, उन्हें दक्षिणेश्वर आने के पूर्व से ही दर्शन दिया करती थी। प्रारम्भ में ऐसा दर्शन उन्हें सदा प्राप्त नहीं होता था; परन्तु उनकी भक्ति और विश्वास ज्यों २ बढ़ता गया, त्यों २ यह दर्शन भी उन्हें बारम्बार प्राप्त होने लगा। उन्हें यह दिखने लगा था कि श्री रामचन्द्र जी की बालमूर्ति सदा सर्वकाल अपने साथ रहा करती है! अतः उनका चित्त अन्य विषयों की ओर बिल्कुल नहीं जाता था। जटाधारी को जिस प्रतिमा की सेवा से यह दिव्य दर्शन प्राप्त हुआ था, वे उसी बाल रामचन्द्र की "रामलाला" नामक मूर्ति को साथ लेकर सदैव आनन्द में तल्लीन रहते हुए अनेक तीर्थ-पर्यटन करते २ दक्षिणेश्वर आ पहुँचे।

रामलाला की सेवा में सदा तन्मय रहने वाले जटाधारी ने श्री रामचंद्र जी की बालमूर्ति के अपने दर्शन की बात कभी किसी से प्रकट नहीं की थी। लोगों को तो केवल इतना ही दिखाई देता था कि वे सदा श्री रामचन्द्र की एक बाल-मूर्ति की अत्यन्त अपूर्व निष्ठापूर्वक सेवा करने में निमग्न रहते हैं। परन्तु भावराज्य के अद्वितीय अधीश्वर श्रीरामकृष्ण ने जटाधारी के साथ प्रथम भेंट मात्र से उनके गूढ़ रहस्य को जान लिया। इसी कारण उनके प्रति उनके मन में विशेष श्रद्धा उत्पन्न हो गई और उन्होंने उनके लिये आवश्यक वस्तुओं का उचित प्रबंध भी कर दिया। वे हर रोज़ जटाधारी के पास बहुत समय तक बैठकर उनकी पूजा विधि को ध्यानपूर्वक देखा करते थे। इस तरह जटाधारी बाबाजी के प्रति श्रीरामकृष्ण की श्रद्धा दिनों दिन अधिकाधिक बढ़ने लगी।

पीछे कह आये हैं कि इस समय श्रीरामकृष्ण श्री जगदम्बा की सखी या दासी के भाव में ही लीन रहते थे। श्री जगदम्बा के लिये पुष्पों की सुन्दर २ मालाएँ गूंथना, उनको पंखे से हवा करना, मथुरबाबू से नये २ आभूषण बनवाकर उनको पहिनाना और स्वयं स्त्री वेष धारण करके उन्हें गाना सुनाना आदि में वे सदा भूले रहते थे। ऐसे समय में जटाधारी का आगमन दक्षिणेश्वर

में हुआ था। उनके (श्रीरामकृष्ण के) मन में श्री रामचन्द्र जी के, प्रति प्रीति और भक्ति जागृत हो उठी। उन्हें प्रथम जो श्री रामचन्द्र जी का दर्शन हुआ था वह उनकी बालमूर्ति का ही था। यदि पूर्वोक्त प्रकृति भाव की प्रबलता से इस दिव्य बालक के प्रति उनके मन में वात्सल्यभाव ही उत्पन्न हो गया तो यह स्वाभाविक ही है। जिस प्रकार माता के हृदय में अपने बालक के प्रति एक अपूर्व प्रेमभाव का अनुभव होता है, ठीक उसी प्रकार का भाव उस बालमूर्ति के प्रति श्रीरामकृष्ण के हृदय में उत्पन्न हुआ। अब तो उन्हें सदैव रामलाला की संगति में रहते हुए समय आदि का भी स्मरण नहीं रहता था।

श्रीरामकृष्ण के मन की रचना बड़ी विचित्र थी। उन्हें कोई काम अधूरा करना बिल्कुल पसन्द नहीं था। जैसा उनका यह स्वभाव सभी सांसारिक व्यवहारों में दिखाई देता था, वैसा ही वह आध्यात्मिक विषयों में भी था। जब उन्हें एक बार कोई भाव स्वाभाविक प्रेरणा से मन में उत्पन्न हुआ जान पड़ता तो वे उसमें इतने तल्लीन हो जाते कि उसे उसकी चरम सीमा तक पहुँचाकर ही वे शान्त होते। शायद कोई इस पर से यह कहे कि " ऐसा होना क्या अच्छा है ? मन में एक बार विचार उत्पन्न होते ही, क्या उसी के अनुसार पुतली के समान नाचने से मनुष्य का कल्याण होना कभी संभव है ? मनुष्य के मन में भले और बुरे दोनों तरह के विचार आया ही करते हैं। तब क्या उसे दोनों प्रकार के विचारों के अनुसार बरतना ही चाहिये ? एक श्रीरामकृष्ण के मन में कुविचार आना भले ही सम्भव न हो, पर सभी मनुष्य तो श्रीरामकृष्ण नहीं हैं। तब उनका क्या होगा ? क्या, उन्हें अपने मन को संयम द्वारा काबू में रखकर अपने बुरे विचारों को रोकना नहीं चाहिये ? "

इस बात का बाह्यरूप युक्ति-संगत भले ही दिखे, पर हमें भी उसके सम्बन्ध में कुछ कहना है। काम कंचनासक्त, भोग लोलुप मनुष्यों को अपना आत्म-विश्वास बहुत अधिक न रखकर उन्हें संयम आदि की ओर विशेष ध्यान

देना चाहिये। परन्तु शास्त्रों का कहना है कि कुछ साधकों को तो संयम का अभ्यास बिल्कुल श्वासोच्छ्वास के समान सहज ही हो जाता है; इससे उनका मन विषय-लिप्सा से पूर्णतः मुक्त होकर सदा केवल अच्छे ही भावों और विचारों में लग जाता है। श्रीरामकृष्ण कहते थे—"जिस मनुष्य ने अपना सब भार श्री जगदम्बा पर छोड़ दिया है, उसकी ओर कोई भी कुभाव अपनी छाया तक नहीं डाल सकता। माता उसके पैर कुमार्ग में कभी पड़ने नहीं देती!" ऐसी अवस्था को प्राप्त मनुष्य का अपने प्रत्येक मनोभाव पर विश्वास रखने पर कभी भी अनिष्ट नहीं हो सकता। क्योंकि जिस देहाभिमान विशिष्ट क्षुद्र अहंकार की प्रेरणा से हम स्वार्थपरायण बनते तथा संसार के सर्व भोग, सुख, अधिकार आदि प्राप्त करने की लालसा करते हैं, उसी अहंकार को ईश्वरेच्छा में सदा के लिये मिला देने के बाद मन में फिर स्वार्थसुख का विचार उठना ही असम्भव हो जाता है। उसकी यह दृढ़ भावना हो जाती है कि मैं केवल यन्त्र हूं और वह यन्त्र ईश्वर की मर्ज़ी के मुताबिक़ चलता रहता है। अपने मन में उत्पन्न हुए विचार ईश्वर की इच्छा से ही हैं यही दृढ़ धारणा होने पर मनुष्य के मन में अनिष्ट और अपवित्र भाव का उदय ही नहीं होता और यदि वह ऐसे मन में उदित होने वाले भावों पर अवलंबित होकर व्यवहार करने लगा तो उसका अकल्याण कभी भी नहीं हो सकता। अतः श्रीरामकृष्ण की पूर्वोक्त मनोरचना से सर्व साधारण लोगों को न सही पर पूरे स्वार्थ की गन्ध से रहित साधकों के लिये तो बहुत सा सबक सीखने लायक़ है। इस अवस्था वाले पुरुष के आहार विहार आदि सामान्य स्वार्थवासनाओं को शास्त्रों ने भुने हुए बीज की उपमा दी है। जैसे बीज को भूंजने के बाद उसकी जीवनशक्ति का नाश हो जाता है, जिससे उस बीज से पेड़ उत्पन्न नहीं हो सकता, वैसे ही इस प्रकार के पुरुषों की सारी संसार-वासना संयम और ज्ञानाग्नि से दग्ध होकर उसमें से भोग-तृष्णारूपी अंकुर कदापि नहीं फूटता। श्रीरामकृष्ण कहते थे—"पारस के स्पर्श से लोहे की तलवार का सोना बन जाने पर उसका वह आकार

भाव क़ायम रहता है, पर हिंसा के काम में वह कभी नहीं आ सकती।"

उपनिषत्कार कहते हैं कि ऐसी अवस्था प्राप्त करने वाले साधक सत्य-संकल्प होते हैं; उनके मन में उत्पन्न होने वाले सब संकल्प सदा सत्य ही रहते हैं। अनन्त भावमय श्रीरामकृष्ण के मन में समय २ पर उत्पन्न होने वाले भावों की हमने जितने बार परीक्षा की उतनी बार हमें उनके वे सब भाव सत्य ही प्रतीत हुए। हमने यह देखा है कि यदि किसी के दिये भोज्य पदार्थ को श्रीरामकृष्ण ग्रहण न कर सकते, तो जाँच करने पर यही पता लगता कि सचमुच ही वह पदार्थ स्पर्शदोष से दूषित हो गया था। यदि किसी व्यक्ति से ईश्वर चर्चा करते समय उनका मुँह बीच में ही बन्द हो जाता, तो जान पड़ता कि वह व्यक्ति उस विषय का बिल्कुल अनधिकारी था। किसी व्यक्ति को इस जन्म में धर्मलाभ न होगा या कम होगा इस बात के सम्बन्ध में उनकी धारणा हो जाने पर वह बात सत्य ही निकली है। जब किसी को देखते ही उनके मन में किसी विशिष्ट भाव का या किसी देवी देवता का स्मरण हो जाता, तब पता लगाने पर यही मालूम होता था कि वह मनुष्य उस भाव का साधक है या उस देवता का भक्त है। उनकी अन्तःस्फूर्ति में किसी व्यक्ति से एका एक कोई बात कह डालने पर वह बात उस व्यक्ति के लिये विशेष रीति से मार्गदर्शक हो जाती थी, उतने से उसके जीवन की दिशा बिल्कुल बदल जाती थी। श्रीरामकृष्ण के बारे में ऐसी कितनी ही अनेक बातें बताई जा सकती हैं। अस्तु—

उन्होंने अपने कुल के इष्टदेव श्री रघुवीर की यथाविधि पूजा-अर्चा स्वयंकर सकने के हेतु से बचपन में ही राम मन्त्र ले लिया था। परन्तु अब उनके हृदय में श्री रामचन्द्र जी की बालमूर्ति के प्रति वात्सल्यभाव उत्पन्न हो जाने के कारण उन्हें उस मन्त्र को जटाधारी से यथाशास्त्र लेने की अत्यन्त उत्कट इच्छा हुई। यह बात जटाधारी से कही जाने पर उन्होंने श्रीरामकृष्ण को अपने इष्टदेव के मन्त्र की दीक्षा आनन्द से दे दी और श्रीरामकृष्ण उसी बालमूर्ति के चिन्तन में सदा तन्मय रहने लगे।

श्रीरामकृष्ण कहते थे * —"जटाधारी बाबा रामलाला की सेवा कितने ही दिनों से कर रहे थे। वे जहाँ जाते रामलाला को वहीं अपने साथ ले जाते थे, और जो भिक्षा उन्हें मिलती थी उसका नैवेद्य प्रथम रामलाला को अर्पण करते थे। इतना ही नहीं उन्हें तो यह प्रत्यक्ष दिखाई देता था कि रामलाला मेरा दिया हुआ नैवेद्य खा रहे हैं, या कोई पदार्थ माँग रहे हैं, या मुझे घूमने ले चलो कह रहे हैं अथवा किसी बात के लिये हठ पकड़े बैठे हैं। जटाधारी रामलाला की सेवा में ही सदा निमग्न रहकर उसी में आनंदित रहते तथा उसी में अपने देह की स्मृति भी भूले रहते थे। रामलाला यह सब कार्य करते हुए मुझे भी दिखते। इसी-लिये तो मैं भी उन्हीं बाबाजी के निकट रात दिन बैठकर रामलाला की लीला देखता रहता था।"

"जैसे २ दिन बीतने लगे, तैसे २ रामलाला की प्रीति भी मुझ पर बढने लगी। जब तक मैं बाबाजी के पास बैठा रहता था तब तक रामलाला भी वहां अच्छा रहता था; बड़े उत्साह से खेलता था, मजा करता था, और ज्योंही मैं वहाँ से उठकर अपने घर की ओर आने लगता था त्योंही रामलाला भी मेरे पीछे दौड़ने लग जाता था। मैं कितना ही कहता कि मेरे पीछे २ मत आओ पर सुनता कौन? पहले तो मुझे यही मालूम हुआ यह सब मेरे ही मस्तिष्क का भ्रम है, अन्यथा यह तो ठहरा बाबाजी के नित्य पूजा का देवता। पुनश्च बाबाजी का उस पर अगाध प्रेम है इतना होते हुए ये यह बाबाजी को छोड़कर मेरे पास आता है—यह कैसी बात है? रामलाला तो कभी मेरे आगे २ कभी मेरे पीछे २ नाचते २ मेरे साथ आता हुआ मुझे दिखता था-बिल्कुल उसी प्रकार दिखता था जैसे तुम लोग सब अभी इस समय मुझको दिखाई दे रहे हो। किसी समय वह गोदी में बैठने की ही हठ पकड़ लेता था। कभी, उसे गोदी में ही बैठाल लो तो फिर नीचे

* रामलाला के ये वृत्तान्त श्रीरामकृष्ण ने भिन्न २ समयों पर बतलाये हैं। तथापि विषय की दृष्टि से वे सभी वृत्तान्त यहां एकत्र दिये जाते हैं

उतरने की जल्दी पड़ जाती थी। कुछ भी करो गोदी में ठहरता ही नहीं था।
ज्योंही नीचे उतरा कि पहुँचा धूप में खेलने! चला कांटे-खूंटी में फूल तोड़ने, तो कभी गंगा जी में जाकर डुबकी ही लगा रहा है इस तरह सारे खेल हो रहे है। उससे कितना ही कहा जाय--'बाबू, धूप में मत रहो' पैर में फफोले आ जावेंगे; पानी में मत खेलो सर्दी हो जायगी।' पर ये सब बाते सुनता कौन? वह तो ऐसे बन जाता था कि मानो मैं किसी दूसरे से कह रहा हूँ। अधिक से अधिक एकाध बार अपने कमलवत् सुन्दर नेत्रों से मेरी ओर एकटक निहारकर ज़ोर से हँस पड़ता था!—पर उसका उपद्रव जारी ही रहता था। तब मुझे क्रोध हो आता था और मैं कहता था, 'अच्छा ठहर! अभी मैं तुझको पकड़-कर ऐसी मार मारता हूं कि अच्छी तरह याद रहेगी।' यह कहता हुआ मैं उस को धूप में से--या कभी पानी में से खींचकर घर ले आता था, और कुछ खेलने की चीज़ देकर घर ही में बैठाल रखता था! फिर भी क्या? उसके उप-द्रव शुरू ही रहते थे। तब मैं एक दो चपंत मार भी देता था! इस तरह जब मार पड़ जाती थी, तब उसकी आँखें डबडबा जाती थीं और अत्यन्त करुण मुद्रा से मेरे मुंह की ओर ताकने लगता था। उसका वह दयनीय चेहरा देखकर मेरे मन में बड़ा दुःख होता था, तब मैं उसे गोदी में लेकर पुचकारता उसका दिल बहलाता और उसे चुप कराता था।"

"एक दिन मैं स्नान करने जा रहा था, कि इसने भी मेरे साथ चलने की हठ पकड़ी। मैं भी उसे साथ ले चला। तब फिर नदी पर उसने क्या किया? जो वह एक बार नदी में कूदा फिर बाहर आता ही नहीं। मैंने न जाने कितनी बार मना किया पर उसका असर कुछ भी नहीं हुआ। उसका डुबकी लगाना चला ही था। तब मुझे गुस्सा आ गया, और मैं भी नदी में उतरा और उसको पानी के भीतर दबाकर बोला, 'अब डूब कैसे डूबता है? मैं कब से मना कर रहा हूं, तू मानता ही नहीं, कब से ऊधम कर रहा है।' फिर क्या कहना था?

सचमुच ही उसके प्राण निकलने की नौबत आ गई, और वह चट् पानी में एकदम खड़ा हो गया और पैर पटक २ कर रोने लगा। उसकी ऐसी अवस्था देखकर मेरी आँखों से आँसू बह निकले और मैंने अपने मन में 'अरे अरे, मैं चांडाल यह क्या कर बैठा?' कहता हुआ उसको छाती से लगा लिया और उसे नदी से लेकर घर आ गया।"

"एक दिन फिर उसके लिये मेरे मन में बड़ा दुःख हुआ और मैं बहुत रोया। उस दिन वह कुछ ऐसी ही हठ पकड़े बैठा था। मैंने उसे समझाने के लिये कुछ चूड़ा (चिवड़ा) बिना साफ़ किया हुआ ही—खाने के लिये दे दिया। थोड़ी देर बाद मैंने देखा तो उसकी कोमल जीभ मूसी से छिल गई थी। यह देखकर मैं तो व्याकुल हो गया। मैंने उसे फिर अपनी गोद में ले लिया और गला फाड़ २ कर रोने लगा। 'हाय! हाय! देखो तो जिनके मुँह में कहीं पीड़ा न हो जाय इस डर से माता कौशल्या बड़ी सावधानी के साथ इनको दूध, मक्खन आदि सरस २ पदार्थ खिलाती थी, उन्हीं के मुँह में ऐसा कठोर तुच्छ चूड़ा डालते समय मुझ चाण्डाल को ज़रा भी हिचकिचाहट नहीं हुई!" श्रीरामकृष्ण इस प्रकार बता रहे थे कि उनका वह शोक पुनः उमड़ पड़ा, और वे हमारे ही सामने गला फाड़कर चिल्ला २ कर इस तरह रोने लगे कि यद्यपि उनके इस दिव्य प्रेम का लेश मात्र भी हमारी समझ में नहीं आया पर तो भी हमारी आँखें डबडबा गईं।

हम लोग मायाबद्ध मनुष्य हैं, रामलाला की यह अद्भुत वार्ता सुनकर आश्चर्य चकित और हतबुद्धि हो गये। डरते २ रामलाला की ओर छिपी नजर से देखने लगे कि हमें भी कहीं श्रीरामकृष्ण के सरीखे कुछ दिख जाय? पर कुछ भी नहीं! कुछ दिखे भी कैसे? रामलाला पर श्रीरामकृष्ण का जो प्रेम था उसका शतांश भी हम में कहाँ? श्रीरामकृष्ण की भाव-तन्मयता ही हमारे पास कहाँ है जिससे हम इन चर्म चक्षुओं द्वारा रामलाला की सजीव मूर्ति देख सकें। हमें तो

उसमें मूर्ति के सिवाय और कुछ नहीं दिखता। पर मन में होता है कि क्या श्रीरामकृष्ण जैसा कहते हैं वैसा सचमुच ही हुआ होगा? संसार के सभी विषयों में हमारी यही स्थिति रहा करती है; संशय-पिशाच सदा हमारी गर्दन पर सवार रहता है, अविश्वास सागर में हम सदा गोते लगाया करते हैं। देखिये न, ब्रह्मज्ञ ऋषियों का वाक्य है—" सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन—।" जगत में एक सच्चिदानन्दमय ब्रह्मवस्तु को छोड़कर दूसरा कुछ नहीं है—जगत में दिखने वाले " नाना " पदार्थों और " नाना " व्यक्तियों में से एक भी वास्तव में सत्य नहीं है। हम मन में कहने लगे—" शायद ऐसा ही हो! " और संसार की ओर घटी कटी दृष्टि से हम देखने लगे पर " एकमेवाद्वितीयं " ब्रह्मवस्तु का हमें नाम को भी पता नहीं लगा। हमें तो दिखा केवल मिट्टी-पत्थर, लोहा-लकड़ी, घर-द्वार, मनुष्य, जानवर तथा नाना प्रकार के रंग बिरंगे पदार्थ! इन सब को देख हमें ऐसा लगने लगा कि कहीं ऋषियों ने भंग तो नहीं पी ली थी? अन्यथा यह ऊटपटांग सिद्धान्त उन्होंने कैसे बता दिया? पर ऋषियों का पुनः कहना है कि " भाइयो! वैसा नहीं है, पहिले तुम काया, वचन, मन से संयम और पवित्रता का अभ्यास करो, अपने चित्त को स्थिर करो, तभी तुम्हें हमारा कथन ठीक २ समझ में आवेगा और तुम्हें यह प्रत्यक्ष अनुभव भी होगा कि यह जगत केवल तुम्हारी आन्तरिक कल्पना का बाह्य प्रकाश मात्र है। तुम्हारे भीतर ' नाना ' है, इसीलिये बाहर भी ' नाना ' ही दिखाई देता है।" हम कहते हैं, " ऋषियों! इस पेट की चिन्ता और इन्द्रियों की झंझट के सामने हमें यह सब करने की फ़ुरसत कहां है?" अथवा हम यह कहते हैं कि " ऋषियो! आप उस ब्रह्मवस्तु को देखने के लिये हमें जो २ उपाय करने को कहते हैं, वे कुछ दो चार दिन, वर्ष दो वर्ष में तो हो नहीं सकता, सारा आयुष्य भी उसके लिये काफ़ी हो, न हो! भला समझिये, आप की बात मानकर हम इसके पीछे लग गये और मान लीजिये, हमें आपकी वह ब्रह्मवस्तु दिखाई नहीं दी, और

आपका वह अनन्त आनन्दलाभ और शान्ति आदि की बातें कविकल्पना ही निकलीं, तब तो हमारा न यह भी पूरा हुआ न वह भी और हमारी त्रिशंकुवत् कष्टदायक स्थिति हो जावेगी! क्षणभंगुर हो, या और कुछ हो, इस पृथ्वी के सुख से हम हाथ धो बैठेंगे, और आपका वह अनन्त सुख भी हमारे हाथ नहीं लगेगा! छिः २! ऋषियो, बस कीजिये आप ही अपने अनन्त सुख का स्वाद खुशी से लेते रहिये, आपका सुख आप ही को फले। हमें तो अपने इन्हीं रूपरसादिक विषयों से जो कुछ थोड़ा बहुत मिल सकता है, वही बस है। व्यर्थ ही हजारों युक्तियों, तर्क और विचारों की झंझट में हमें डालकर नाहक मत भटकाइये। हमारे इस सुख को व्यर्थ ही मिट्टी में मत मिलाइये।"

अब इस ब्रह्मज्ञान की बात को छोड़िये। पर क्या अन्य बातों में— सांसारिक बातों में ही हमारा मन सर्वथा संशयहीन रहता है? आप्त वाक्यों पर पूर्ण विश्वास रखकर—चाहे जैसा प्रसंग आवे—उसी के अनुसार आचरण करने का धैर्य कितने लोगों में दिखाई देता है? विश्वास और श्रद्धा का बल न हो, हाथ में लिये हुए कार्य को अन्त तक पहुँचाने के लिये पूर्ण प्रयत्न करने की तत्परता न हो, तो सांसारिक विषयों में भी हमें सिद्धि कैसे प्राप्त हो? अस्तु—

रामलाला की इस प्रकार की अद्भुत कथा कहते २ श्रीरामकृष्ण बोले— "आगे चलकर ऐसा होने लगा कि बाबा जी नैवेद्य तैयार करके कितनी देर से राह देख रहे हैं पर रामलाला का कहीं पता ही नहीं है। इससे उन्हें बहुत बुरा लगता है और वे उन्हें ढूँढ़ते २ यहां आकर देखते हैं, तो रामलाला घर में आनन्द से खेल रहे हैं। तब वे अभिमान के साथ उन्हें बहुत उलहना देते थे। वे कहते थे—"मैं कब से नैवेद्य तैयार करके तुझे खिलाने के लिये तेरी राह देख रहा हूं, और तू यहां आनन्द से खेल रहा है? तेरी यही कुटेव पड़ गई है, जो मन में आता है वही करता है। दया, ममता तो तुझ में कुछ है ही नहीं। माँ बाप को छोड़कर वन को चला गया। बाप बेचारा तेरे नाम से आँसू बहाते २ मर

गया, पर तू इतने पर भी नहीं लौटा और उसे तूने दर्शन तक नहीं दिया!" इसी तरह बाबा जी उन्हें बहुत झिड़कते थे और फिर उनका हाथ पकड़कर उन्हें खींचते ले जाते थे और भोजन कराते थे! इसी तरह कई दिनों तक चला। बाबा जी यहां बहुत दिनों तक रम गये थे क्योंकि रामलाला मुझे छोड़कर जाते ही नहीं थे और बाबा जी से भी रामलाला को यहीं छोड़कर जाते नहीं बनता था।"

"आगे चलकर एक दिन बाबा जी मेरे पास आये और अश्रुपूर्ण नेत्रों से मेरी ओर देखकर बोले—'रामलाला ने मेरी इच्छानुसार दर्शन देकर आज मेरे चित्त की व्याकुलता शान्त कर दी। अब मुझे कोई भी इच्छा नहीं और न मुझे कोई दुःख ही है। उसकी इच्छा तुमको छोड़कर मेरे साथ जाने की नहीं है। तुम्हारे पास वह आनन्द से रहता है और खेलता है, यही देखकर मैं आनन्द मानूंगा। बस मैं चाहता हूं कि वह जहां भी रहे, आनन्द से रहे! इसलिये अब उसे तुम्हारे पास छोड़कर किसी दूसरी ओर जाने में कोई हर्ज नहीं समझता। वह तुम्हारे पास सुखी है, यही ध्यान करते हुआ मैं आनन्द से दिन बिताऊंगा!' जब से बाबा जी ऐसा कहकर रामलाला को मुझे सौंपकर यहां से दूसरी ओर निकल गये हैं तब से रामलाला यहीं हैं।"

रामायत पन्थी साधुओं से श्रीरामकृष्ण ने बहुत से पद सीखे थे। वे किसी २ पद को बाद में कभी २ गाया भी करते थे।

२७—भिन्न २ साधुसम्प्रदाय, पद्मलोचन और नारायण शास्त्री।

पिछले प्रकरण में बता ही चुके हैं कि जब श्रीरामकृष्ण अपने साधन में निमग्न रहते थे उस समय भिन्न २ पन्थों के साधुसन्तों का दक्षिणेश्वर में आना प्रारम्भ हुआ था। इतना ही नहीं, वे जिस भाव के साधन में लगते थे, उसी भाव के साधकों का दक्षिणेश्वर में तांता लग जाता था। जब उन्होंने श्री रामचन्द्र की उपासना करके उनका दर्शन प्राप्त कर लिया, तभी रामायत पन्थ के साधु आने लगे। वैष्णव तन्त्रोक्त साधन में उन्होंने सिद्धि प्राप्त की कि तुरन्त ही उस भाव के यथार्थ साधक उनके पास आने लगे। जब उन्हें वेदान्तोक्त अद्वैत-ज्ञान की चरम सीमा निर्विकल्प समाधि प्राप्त हो गई, तभी ऐसा दिखता है, कि वेदान्त सम्प्रदाय के साधक आने लगे।

इस प्रकार भिन्न २ सम्प्रदाय के साधकों के उसी २ समय आने में एक विशेष गूढ़ अर्थ दिख पड़ता है। श्रीरामकृष्ण कहते थे—" फूल के खिलने पर भ्रमर उसके पास चारों ओर से दौड़कर आते हैं।" स्वयं श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में भी यह नियम सत्य होते दिखाई पड़ता है। कोई अवतारी महापुरुष किसी विशेष प्रकार के सत्य का अनुभव प्राप्त करके सिद्ध हो जाता है, तब उस अनुभव को लेने के लिये यथार्थ जिज्ञासु साधक उसके पास आप ही आप आने लगते हैं। यह बात प्रत्येक धर्म के इतिहास में दिखाई देती है। वर्तमान युग के अनन्त भावमय अवतार श्रीरामकृष्ण जब हर एक पन्थ के प्रत्येक साधन का स्वयं अनुभव लेकर उनमें जैसे २ सिद्ध होते जाते थे, वैसे २ उन मार्गों के साधक उनके अनुभव का लाभ उठाने के लिये किसी अज्ञात शक्ति द्वारा उनकी ओर आकर्षित होते थे।

इन भिन्न २ पन्थों को साधते समय श्रीरामकृष्ण उनमें ऐसे तन्मय हो जाते थे कि उस समय उस साधन को छोड़ अन्य कोई भी बात उनके मन में नहीं आती थी। साधारणतः लोग उनकी इस असम्बद्धता (ग्रहण करने और छोड़ने) का अर्थ न समझने के कारण तथा उनकी उच्च आध्यात्मिक अवस्था को समझ सकने लायक उन लोगों में ज्ञान न रहने के कारण उन्हें पागल कहा करते थे। पर बाद में लोग इस विलक्षण पागल की अलौकिक शक्ति के विकास को जैसे २ जानने लगे, उनके मत में भी वैसे २ परिवर्तन होने लगा। तथापि कोई २ उन्हें पागल ही समझते थे।

ब्रह्म समाज के एक आचार्य परम पूज्य शिवनाथ शास्त्री ने हम में से किसी २ के पास यह ज़ाहिर किया कि श्रीरामकृष्ण की भावसमाधि यथार्थ में कोई स्नायु विकार जन्य रोग है और ऐसे रोग वाले मनुष्य को जिस तरह समय २ पर मूर्छा आया करती है, वैसा ही श्रीरामकृष्ण को भी होता है। यह बात श्रीरामकृष्ण के कान तक पहुँची। शिवनाथ शास्त्री श्रीरामकृष्ण के पास बहुत दिनों से आ रहे थे। एक दिन जब वे दक्षिणेश्वर में आये हुए थे, तब उनसे श्रीरामकृष्ण बोल उठे, "क्यों जी शिवनाथ! मैंने सुना है कि आप इसे रोग मानते हैं, और कहते हैं कि इस रोग के ही कारण मुझे मूर्छा आ जाया करती है। तो क्या नमक-तेल-लकड़ी, मिट्टी-पत्थर, रुपया-पैसा, धन-सम्पत्ति आदि जड़ वस्तुओं का ही रात दिन चिन्तन करते २ आपका दिमाग ठीक रहता है? और जिसकी शक्ति से यह सारा जगत चैतन्यमय हो रहा है उसका चिन्तन नित्य करने से मुझे रोग हो गया तथा मेरा दिमाग बिगड़ गया—मेरा माथा फिर गया है! यह कहां की बुद्धिमानी है आपकी?" इतना सुनकर शिवनाथ बाबू निरुत्तर हो गये।

"दिव्योन्माद" "ज्ञानोन्माद" आदि शब्दों का प्रयोग श्रीरामकृष्ण के बोलने में नित्य हुआ करता था। वे सभी के पास कहा करते थे कि "मेरे

जीवन में १२ (बारह) वर्ष तक ईश्वरानुराग का प्रचण्ड तूफ़ान उमड़ा हुआ था। आँधी से जिस प्रकार दशों दिशाओं में धूलि भर जाती है, और फिर पेड़ों तक को नहीं पहचान सकते; इतना ही नहीं उन्हें उस वक्त देख भी नहीं सकते—ठीक वही अवस्था मेरी थी। भला-बुरा, निन्दा-स्तुति, शुचि-अशुचि, ये सारे भेदभाव नष्ट हो चुके थे! मन में रातदिन एक यही धुन समाई थी कि 'ईश्वर प्राप्ति कैसे हो?' रातदिन केवल उसी के लिये खटपट चला करती थी। इससे लोग कहते थे—" यह पागल हो गया है!"

इसी तरह दूसरे समय बात निकलने पर श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द से बोले—" बच्चा! ऐसा समझ, कि किसी कोठरी में एक चोर बैठा हुआ है और उसी के पास की कोठरी में एक सन्दूक में सोने की ईंट रखी हुई है, इस बात को चोर जानता है। तब क्या वह चोर वहां सुखपूर्वक बैठ सकेगा? उस सोने की ईंट पर हाथ मारने के लिये वह चोर जिस तरह अधीर या व्याकुल हो जावेगा और मौक़ा पड़ने पर अपनी जान को भी जोखिम में डालने के लिये आगा पीछा नहीं करेगा ठीक वही स्थिति ईश्वर प्राप्ति के सम्बन्ध में मेरी उस समय हो गई थी।" अस्तु—

श्रीरामकृष्ण के विशिष्ट साधनों के करते समय दक्षिणेश्वर में जिस २ पन्थ के जो साधुसन्त और साधक आये थे, उनमें से किसी २ की बातें वे हम लोगों को बताया करते थे। वे कहते—" एक बार एक साधु आया। उसका मुखमण्डल अत्यन्त तेजःपुंज दिखता था। वह केवल एक ही स्थान में बैठता था और लगातार हँसता रहता था! केवल प्रातःकाल एकबार और सायंकाल में एकबार घर से बाहर निकलता था, और पेड़, आकाश, गंगा, मन्दिर की ओर अच्छी तरह निहारकर देखता था और आनन्द में मग्न होकर दोनों हाथ ऊपर उठाकर नाचता था! कभी हँसते २ इधर उधर लोटने लगता था और

कहता था, 'अहाहा! कैसी माया है! कैसा प्रपंच रचा है!' यही उसकी उपासना थी! उसे आनन्द लाभ हो चुका था।"

"और एक दिन की बात है कि एक दूसरा साधु आया था। उसे था ज्ञानोन्माद। दिखने में वह एक पिशाच के समान था। नंगा शरीर और सिर में धूल, नख और केश बहुत बढ़े हुए, केवल कंधे पर एक वस्त्र पड़ा हुआ था जैसे मृतक पर रहता है। वह काली मन्दिर के सामने आकर खड़ा हो गया और इस प्रकार स्तवन करने लगा कि मानो मन्दिर कम्पायमान हो रहा हो और श्री जगन्माता प्रसन्न होकर मानो हँस रही हो। तत्पश्चात् भिखारियों को जहां अन्न बांटा जाता है वहीं उन्हीं के साथ अन्न मिलेगा यह समझकर जा बैठा, परन्तु उसका वह ध्यान देखकर पहरेदारों ने उसे वहां से मारकर भगा दिया। वहां से उठकर वह उस स्थान में पहुँचा, जहां जूठी पत्तलें फेंकी जाती हैं। वहां एक कुत्ता पत्तल चाट रहा था, उसके शरीर पर हाथ रखकर बोला, 'वाह! वाह! यह क्या है भला? तुम्हीं अकेले खाओ और हम लंघन करें।' ऐसा कहकर उस कुत्ते के साथ वह उन पत्तलों में से जूंठन बटोरकर खाने लगा! वह कुत्ता भी वहीं आनन्द से पत्तलें चाट रहा था! यह सब दृश्य देखकर मुझे डर लगा और मैं दौड़ता हुआ जाकर हृदय के गले से लिपट कर बोला, 'हृदू, क्यों रे! क्या अन्त में मेरी भी यही अवस्था होगी और मुझे भी ऐसा ही भटकना होगा? यह तो पागल नहीं है, इसे है ज्ञानोन्माद!' यह सुनकर हृदय उसे देखने गया। उस समय वह बगीचे से बाहर जा रहा था। हृदय उसके साथ बड़ी दूर तक जाकर उससे बोला, 'महाराज! ईश्वर प्राप्ति कैसे होगी? कोई उपाय बताइये।' प्रथम तो उसने कोई उत्तर ही नहीं दिया, पर हृदय ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। वह उसके पीछे ही चला जा रहा था। तब वह कुछ समय में बोला, 'इस नाली का पानी और गंगा का पानी दोनों एक समान पवित्र हैं ऐसा ज्ञान (बोध) जिस समय होगा उसी समय ईश्वर प्राप्ति होगी।' वह और भी कुछ बोले इस हेतु से हृदय ने उसका बहुत पीछा किया और फिर बोला,

'महाराज ! मुझे अपना चेला बना लीजिये '—पर कोई उत्तर नहीं मिला। तो भी हृदय उसके साथ चला ही जाता था। यह देखकर उसने एक पत्थर उठाया और हृदय पर फेंकना चाहा। तब तो हृदय वहां से भागा और पीछे फिरकर देखता है तो साधु गायब ! इस तरह के साधु लोगों के व्यर्थ कष्ट से डरकर ऐसे वेष में रहते हैं। इस साधु की अत्यन्त उच्च परमहंस अवस्था थी।"

"किसी दिन एक और साधु आया। वह रामायत पन्थी था। उसका नाम पर अत्यन्त विश्वास था। उसके पास सिर्फ एक लोटा और एक पोथी छोड़कर कोई दूसरा सामान नहीं था। उस पोथी पर उसकी बड़ी भक्ति थी। वह नित्य प्रति उस पोथी की चन्दन पुष्प चढ़ाकर पूजा करता था और बीच २ में उसे खोलकर देखता था। उससे मेरा थोड़ा परिचय हो जाने पर एक दिन मैंने उसकी पोथी देखने के लिये माँगी। नहीं २ करते २ उसने आखिर में मेरा अत्यन्त आग्रह देखकर वह पोथी मेरे हाथ में दे दी। मैंने बड़ी उत्सुकता से खोलकर देखा तो उसमें क्या मिला ? भीतर लाल स्याही से बड़े २ अक्षरों में केवल 'ॐ राम' ये ही अक्षर आदि से अन्त तक लिखे हुए थे। वह साधु बोला—' व्यर्थ कूड़ा-कर्कट भरा ग्रन्थ पढ़कर क्या करना है ? एक भगवान् से ही तो वेद पुराणों की उत्पत्ति हुई है और वह भगवान् और उसका नाम दोनों तो एक ही हैं। तो फिर चार वेद, छः शास्त्र, अठारह पुराण में जो कुछ है वह सब उसके नाम में है ही ! इसीलिये तो मैंने उसका नाम ही पकड़ रखा।' उस साधु का नाम पर इतना अखण्ड विश्वास था।"

श्रीरामकृष्ण के पास आने वाले कितने ही साधक उनसे दीक्षा और संन्यास लेकर वापस गये। उन्हीं में से पण्डित नारायण शास्त्री भी एक थे। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि "पूर्वकाल के ब्रह्मचारियों के समान नारायण शास्त्री ने गुरु-गृह में रहकर भिन्न २ शास्त्रों का अध्ययन करने में २५ वर्ष बिताये थे। उन्होंने काशी आदि कई स्थानों में भिन्न २ गुरुओं के साथ रहकर षड् दर्शनों में

प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। परन्तु बंगाल के नवद्वीप के सुप्रसिद्ध नैयायिकों को छोड़कर अन्यत्र न्यायदर्शन का सांगोपांग अभ्यास होना असम्भव समझकर उन्होंने अपने दक्षिणेश्वर आने के पूर्व ८ वर्ष तक नवद्वीप में रहकर न्यायशास्त्र का सांगोपांग अभ्यास करके उसमें भी प्रवीणता प्राप्त की। वे घर जाने के पहले एक बार कलकत्ता शहर देखने की इच्छा से वहां होते हुए दक्षिणेश्वर आये थे।

बंगाल में आने के पूर्व ही उनके पाण्डित्य की ख्याति चारों ओर फैल चुकी थी। एक बार जयपुर के महाराजा ने उन्हें अपनी सभा के पण्डित पद स्वीकार करने के लिये विनती की थी, परन्तु न्यायशास्त्र का अध्ययन शेष रहने के कारण उन्होंने महाराजा का कहना नहीं माना।"

नारायण शास्त्री अन्य साधारण पण्डितों के समान कोरे पुस्तकी पण्डित नहीं थे। शास्त्रज्ञान के साथ २ उनके हृदय में वैराग्य का उदय भी हो गया था। वेदान्तशास्त्र में वे प्रवीण थे और वे यह भी जानते थे कि यह शास्त्र केवल पढ़ने का नहीं वरन् अनुभव करने का है। अतः वाचन हो जाने पर ज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने के लिये साधन करने की व्याकुलता उनके मन में थी और घर लौटकर साधन में संलग्न होने का उनका संकल्प भी था। ऐसी मनः-स्थिति में उनका दक्षिणेश्वर में आगमन हुआ था। वहां उनकी श्रीरामकृष्ण से भेंट होने पर उनके प्रति नारायण शास्त्री के मन में बड़ा प्रेम उत्पन्न हो गया।

नारायण शास्त्री यशस्वी पण्डित थे, अतः दक्षिणेश्वर में उनके लिये अच्छा प्रबन्ध कर दिया गया। दक्षिणेश्वर का रम्य स्थान, तिस पर फिर वहां खाने पीने की पूरी सुविधा और इसके सिवाय श्रीरामकृष्ण का दिव्य सत्संग, इन सब बातों को देखकर शास्त्री जी ने वहां कुछ दिन बिताने के बाद घर लौटने का विचार किया परन्तु उन्हें श्रीरामकृष्ण के संग में इतना आनन्द आता था कि उन्हें छोड़कर जाने की इच्छा ही नहीं होती थी। सरल हृदयी श्रीरामकृष्ण को भी

नारायण शास्त्री के सहवास में आनन्द मालूम होता था। इस तरह ईश्वरीय कथा प्रसंग में उन दोनों के ही दिन आनन्द से व्यतीत होने लगे।

वेदान्तोक्त सप्तभूमिका तथा समाधि आदि की बातें शास्त्री जी पढ़े हुए थे; परन्तु श्रीरामकृष्ण के सहवास से ये सब बातें उन्हें प्रत्यक्ष देखने को मिल गईं। उन्हें यह विदित हो गया कि हम समाधि आदि शब्द केवल मुँह से कहा करते हैं, पर ये महापुरुष तो उस अवस्था का सदा सर्वकाल प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं। उन्होंने विचार किया कि "ऐसे अवसर को हाथ से जाने देना ठीक नहीं है। शास्त्रों के गूढ़ अर्थ को समझाने वाला इनके सिवाय कोई दूसरा अधिक योग्य पुरुष कहां मिलेगा? अतः चाहे जैसा हो, इन से ब्रह्मसाक्षात्कार करा लेने का प्रयत्न करना ही चाहिये।" ऐसा सोचकर उन्होंने घर लौटने का विचार छोड़ दिया।

दिन पर दिन बीतने लगे, और श्रीरामकृष्ण की दिव्य संगति में नारायण शास्त्री के अन्तःकरण में वैराग्य और व्याकुलता बढ़ने लगी। अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करके सभी को चकित कर देने का जोश और महामहोपाध्याय बनकर संसार में सब से श्रेष्ठ नाम, यश और प्रतिष्ठा प्राप्त करने की चाह ये सब बातें अब उन्हें तुच्छ मालूम पड़ने लगीं। वे अपना सब समय श्रीरामकृष्ण की संगति में बिताते थे, उनके मुख से निकलने वाले शब्दों को एकाग्रचित्त हो सुनते थे और मन में कहते थे—"आहाहा! इस मनुष्य जन्म में जो कुछ जानने योग्य और समझने योग्य है उस सब को समझकर और जानकर, यह महापुरुष किस प्रकार निश्चिन्त होकर बैठा है! मृत्यु भी इसको नहीं डरा सकती! उपनिषद् कहते हैं कि इस प्रकार के पुरुष सिद्ध संकल्प होते हैं, उनकी कृपा होने पर मनुष्य की संसारवासना नष्ट होकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है; तब फिर इन्हीं की शरण में क्यों न जाँय?"

उस समय शास्त्री जी के हृदय में जो तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो गया था वह नीचे लिखी बात से मालूम हो सकता है। एकबार प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदन दत्त किसी काम से दक्षिणेश्वर आये थे। वे उस काम को समाप्त करके श्रीरामकृष्ण से भेंट करने गये। शास्त्री जी उस वक्त वहीं थे। शास्त्री जी ने माइकेल से ख्रिस्तीधर्म स्वीकार करने का कारण पूछा। माइकेल बोले, "मैंने पेट के लिये ऐसा किया।" इस उत्तर को सुनकर शास्त्री जी क्रोध में आकर बोल उठे, "क्या? इस क्षणभंगुर संसार में पेट की खन्दक को भरने के लिये अपने स्वधर्म का त्याग किया? धिक्कार है ऐसे मनुष्य को! एक दिन मरना तो है ही, यदि अपने धर्म में ही रहते हुए आप मर जाते तो क्या संसार सूना हो गया होता?" माइकेल के चले जाने पर शास्त्री जी ने श्रीरामकृष्ण के कमरे के दरवाज़े के पास दीवाल पर कोयले से लिख दिया "पेट के लिये स्वधर्म त्यागने वालों को धिक्कार है!" अस्तु—

शास्त्री जी के मन में वैराग्य दिनों दिन बढ़ने लगा और वे श्रीरामकृष्ण की कृपा प्राप्त करने की चिन्ता में हर क्षण बिताने लगे। दैवात् एक दिन श्रीरामकृष्ण से उनकी भेंट एकान्त में हो गई। झट उन्होंने "मुझे संन्यास दीक्षा दीजिये" कहकर उनके पास धरना देकर बैठ गये। श्रीरामकृष्ण स्वभावतः इस बात के लिये एकदम सहमत तो नहीं हुए, परन्तु शास्त्री जी का तीव्र वैराग्य देखकर उन्होंने उनको संन्यास दीक्षा दे दी। शास्त्री जी ने अपनी इच्छा को पूर्ण हुई देख अपने को धन्य माना और उन्होंने वशिष्ठाश्रम में जाकर तपश्चर्या करने का संकल्प कर लिया। तत्पश्चात् उन्होंने श्रीरामकृष्ण से शीघ्र विदा लेकर वशिष्ठाश्रम की ओर प्रस्थान किया। अत्यन्त उग्र तपश्चर्या करने के कारण उनका शरीर क्षीण होकर वहीं उनका देहान्त हो गया।

किसी स्थान में यथार्थ साधु, साधक, भगवद्भक्त या कोई शास्त्रज्ञ पण्डित के रहने का समाचार पाते ही श्रीरामकृष्ण को उनसे भेंट करने की इच्छा होती

थी। उनके पास किसी भी तरह जाकर उनसे ईश्वरी चर्चा किये बिना स्वस्थ नहीं बैठते थे। वहां जाने पर वे अपना योग्य सन्मान अथवा लोगों के कुछ कहने का कुछ भी विचार नहीं करते थे। पण्डित पद्मलोचन, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि के पास तो वे ऐसे ही स्वयं चले गये थे।

पण्डित पद्मलोचन न्यायशास्त्र में अत्यन्त निपुण थे। न्यायशास्त्र का अध्ययन पूर्ण होने पर काशी में उन्होंने वेदान्तशास्त्र का उत्तम अध्ययन किया और उसमें भी प्रवीणता प्राप्त की। उनकी विद्वत्ता की ख्याति सुनकर बरद्वान के महाराजा ने उन्हें अपने यहां मुख्य सभा पण्डित नियुक्त किया था।

पण्डित पद्मलोचन अत्यन्त उदार अन्तःकरण के थे। वे अपने ही मत को ठीक जानकर दूसरों के मत को तिरस्कार नहीं कर देते थे। पक्षपात उन्हें बिल्कुल नापसन्द था। श्रीरामकृष्ण कहते थे—"एकबार बरद्वान की राजसभा में पण्डितों के बीच यह विवाद उपस्थित हुआ कि 'शिव श्रेष्ठ है या विष्णु श्रेष्ठ है।' शास्त्रों से प्रमाण बताकर और शब्दों की खींचातान करके हर कोई बाल की खाल निकालकर अपने २ पक्ष का समर्थन कर रहा था। परन्तु इस तरह बहुत समय तक बड़े ज़ोर शोर का वादविवाद चलने के बाद भी कोई निर्णय नहीं हो सका। सभा में पद्मलोचन नहीं थे। आते ही वे प्रश्न को सुनकर बोले—'मैंने न तो कभी शिव को देखा है न विष्णु को ही। तब ये श्रेष्ठ हैं या वे, यह मैं कैसे बताऊँ? तथापि शास्त्रों के आधार से यदि निश्चय करना है तो यही कहना होगा कि शैवशास्त्रों में शिव को और वैष्णव शास्त्रों में विष्णु को श्रेष्ठ बताया गया है। जिसका जो इष्ट हो वही उसके लिये अन्य देवताओं की अपेक्षा श्रेष्ठ है।' ऐसा कहकर पण्डित जी ने शिव और विष्णु की श्रेष्ठता बताने वाले कुछ श्लोक कहे। फिर उन्होंने शिव और विष्णु दोनों की समान श्रेष्ठता पर अपना मत सभा में प्रकट किया। पण्डित जी के सरल और स्पष्ट भाषण से विवाद मिट गया और सभी लोग उनकी प्रतिभा की प्रशंसा करने लगे।"

पद्मलोचन कोरे पण्डित ही नहीं थे वरन् अत्यन्त सदाचारी, निष्ठावान्, और उदारचित्त वाले थे तथा वे तपस्वी, वैराग्यवान् और भगवद्भक्त भी थे। श्रीरामकृष्ण ने उनके गुणों की कीर्ति सुनकर उनसे भेंट करने के लिये जाने का निश्चय किया। मथुरबाबू ने श्रीरामकृष्ण की इच्छा देखकर उन्हें बरद्वान भेजने की तैयारी की। पर इतने ही में उन्हें पता लगा कि पण्डित जी का स्वास्थ्य कुछ ख़राब होने के कारण, हवा बदलने के लिये और औषधोपचार के लिये, वे कलकत्ते ही में आरियादह के घाट के समीप वाले एक बगीचे में पहुँचा दिये गये हैं, जहां उनका स्वास्थ्य सुधर रहा है। उन्होंने इस समाचार का ठीक पता लगाने के लिये हृदय को भेजा। हृदय ने आकर बताया कि बात सत्य है और श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध की बातें सुनकर पण्डित जी के मन में उनसे भेंट करने की बड़ी प्रबल इच्छा है। श्रीरामकृष्ण ने यह सुनकर उनके पास स्वयं जाने का इरादा करके दिन भी निश्चित कर लिया।

उस दिन हृदय को साथ लेकर श्रीरामकृष्ण पण्डित जी से भेंट करने चल दिये और परस्पर भेंट होने पर दोनों को ही सन्तोष हुआ। पण्डित जी के गुणों की कीर्ति की यथार्थता वहां श्रीरामकृष्ण को दिखाई पड़ी और श्रीरामकृष्ण की उच्च आध्यात्मिकता तथा उनकी समाधि अवस्था देखकर पण्डित जी को भी उनके महापुरुषत्व का निश्चय हो गया। श्रीरामकृष्ण के मुख से जगदम्बा के एक दो गीत सुनकर पण्डित जी के नेत्र भर आये। श्रीरामकृष्ण की भाव-तन्मयता तथा बारम्बार उनकी बाह्य चैतन्यता का लोप होना देखकर और उनके मुँह से उस अवस्था में प्राप्त हुए उनके अनुभव को जानकर पण्डित जी चकित हो गये।

तत्पश्चात् श्रीरामकृष्ण और पण्डित जी की भेंट कईबार होती रही, जिससे पण्डित जी को श्रीरामकृष्ण की अलौकिकता का अधिकाधिक परिचय

और निश्चय उत्तरोत्तर होने लगा। अन्त में वे श्रीरामकृष्ण की भक्ति साक्षात् ईश्वर-भाव से करने लगे।

श्रीरामकृष्ण में पण्डित जी को इतना दृढ़ विश्वास हो जाने का एक कारण था। वे वेदान्त-ज्ञान और विचार के साथ थोड़ी बहुत तांत्रिक साधनाएँ भी करते थे। उन्हें उनका थोड़ा बहुत फल भी मिल गया था। उनके साधन से प्रसन्न होकर उनके इष्ट देव ने उन्हें एक वर दिया था जिससे वे बड़े २ पण्डितों की सभा में भी सदा विजयी ही हुआ करते थे। बात यह थी कि उनके पास हर समय पानी से भरा हुआ एक लोटा और छोटा सा रूमाल रहता था। किसी भी विषय पर शास्त्रार्थ करने के पूर्व वे उस लोटे को हाथ में लेकर कुछ समय तक इधर उधर घूमते थे और उसी पानी से मुँह धोकर कुल्ला किया करते थे; फिर हाथ पैर पोंछकर अपने कार्य में लग जाते थे। जब वे इस प्रकार तैयार होकर विवाद करते, तब उन्हें पराजय करने के लिये कोई भी समर्थ नहीं होता था। यह बात पण्डित जी ने किसी से कभी प्रकट नहीं की थी; और उनके इस प्रकार हाथ, पैर, मुँह धोने में जो रहस्य था उसकी कल्पना भी किसी के मन में नहीं आई थी।

श्रीरामकृष्ण कहते थे कि "माता की कृपा से मैं इस बात को जान गया और एक दिन मैंने उनका वह लोटा और हाथ रूमाल उनके बिना जाने छिपाकर रख दिया। उस दिन भी कोई ऐसा ही प्रश्न सामने आ गया, जिसे हल करने के लिये पण्डित लोग जुटे थे। पण्डित जी अपने सदा के नियम के अनुसार वहां भी मुँह धोने के लिये अपना लोटा ढूंढ़ने लगे, परन्तु वह कहीं नहीं दिखा। इसलिये वे बिना मुँह धोये ही सभा में गये; परन्तु वहां उस शास्त्रार्थ में उनकी बुद्धि काम नहीं कर सकी। अन्त में वे वहां से लौटकर अपना लोटा और हाथ रूमाल पुनः ढूंढ़ने लगे। उन्हें जब यह पता लगा कि उस लोटे को मैंने जानबूझकर छिपा दिया है तब उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। मुझे प्रत्यक्ष इष्ट देव मान-

कर वे मेरी स्तुति करने लगे। " उस दिन से पण्डित जी श्रीरामकृष्ण को साक्षात् ईश्वरावतार जानकर उनकी उसी प्रकार की भक्ति करने लगे। श्रीरामकृष्ण कहते थे—"पण्डित पद्मलोचन इतने भारी विद्वान् होकर मेरी देवता के समान भक्ति करते थे। वे कहते थे, 'मैं सभी पण्डितों की सभा करके सब को बताता हूं कि आप ईश्वरावतार हैं; किसी की हिम्मत हो, तो सामने आकर मेरी उक्ति का खण्डन करें।' मथुरबाबू ने एक बार किसी कार्य के लिये पण्डितों की सभा बुलवाई थी। पद्मलोचन थे अत्यन्त आचारवान् और निर्लोभी पण्डित; उन्हें शूद्र का दान लेना मान्य नहीं था। अतः वे कदाचित् सभा में न आवें सोचकर, मथुर-बाबू ने उनसे आने का आग्रह करने के लिये मुझ से कहा। मेरे पूछने पर उन्होंने कहा कि 'जब आप साथ हैं तो मैं किसी भङ्गी के घर में भी भोजन करने को तैयार हूं! तब ढीमर के यहां की सभा की बात ही क्या रही?"

अन्त में सभा हुई, परन्तु पद्मलोचन उस सभा में उपस्थित न हो सके। सभा बुलाने के पूर्व ही उनका स्वास्थ्य अधिक ख़राब हो गया था। इसीलिये पुनः हवा बदलने को जाने के लिये उन्होंने श्रीरामकृष्ण से अत्यन्त गद्गद हृदय होकर विदा ली। वहां से वे काशी गये और वहीं थोड़े ही दिनों में उनका देहान्त हो गया।

तत्पश्चात् कुछ काल के उपरान्त जब कलकत्ते के भक्त लोग श्रीरामकृष्ण के चरण कमलों के आश्रय में आने लगे, तब उनमें से कई भक्ति-विशेष के कारण खुलेआम उन्हें ईश्वरावतार कहने लगे। यह बात श्रीरामकृष्ण के कान में पहुँचते ही उन्होंने उन लोगों को ऐसा करने से मना कर दिया। परन्तु भक्ति के आवेश में ये भक्त लोग अपना कहना नहीं मानते यह सुनकर वे एक दिन क्रुद्ध होकर हम लोगों से बोले—"कोई डॉक्टरी करता है, कोई थिएटर का मैनेजर है, और ऐसे लोग यहां आकर मुझे अवतार कहते हैं। वे समझते हैं कि मुझे अवतार कहकर वे मेरी बहुत कीर्ति बढ़ा रहे हैं और मुझे किसी बड़े पद पर चढ़ा रहे हैं। अवतार किसे कहते हैं इस बात का ज्ञान उनको क्या है कौन जाने? इनके आने के पूर्व नारायण

शास्त्री, पद्मलोचन सरीखे कितने धुरन्धर और दिग्गज पण्डित—किसी ने तीन तो किसी ने छः शास्त्रों का अध्ययन किया था और अपना सारा जन्म ईश्वर-चिन्तन में बिताया था—यहां आकर मुझे अवतार कह गये। अब मुझे अपने को अवतार कहलवाना अत्यन्त तुच्छ मालूम पड़ता है, ये लोग मुझे अवतार कहकर ढंढोरा पीटकर कौन सी कीर्ति बढ़ावेंगे, कौन जाने?"

पण्डित पद्मलोचन के सिवाय और भी अनेकों पण्डितों ने श्रीरामकृष्ण से भेंट की। श्रीरामकृष्ण को उन लोगों में जो २ गुण दिखते थे उनकी चर्चा कभी २ वे अपने सम्भाषण में किया करते थे।

आर्यमतप्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती एक बार किसी कार्य के लिये कलकत्ता आये हुए थे। उस समय उनके पाण्डित्य की ख्याति चारों ओर फैली हुई थी। उन्होंने उस समय आर्य समाज की स्थापना नहीं की थी। श्रीरामकृष्ण उनसे भेंट करने के लिये उनके ठहरने के स्थान में गये थे। उनके विषय में श्रीरामकृष्ण कहते थे कि "दयानन्द से भेंट करने गया। मुझे ऐसा दिखा कि उन्हें थोड़ी बहुत शक्ति प्राप्त हो चुकी है। उनका वक्षःस्थल सदैव आरक्त दिखाई पड़ता था। वे वैखरी अवस्था में थे। वे रात दिन चौबीसों घण्टे एक सरीखे शास्त्रों की चर्चा ही किया करते थे। अपने व्याकरण-ज्ञान बल पर उन्होंने अनेक शास्त्र वाक्यों के अर्थ में बहुत उलट पुलट कर दिया है। 'मैं ऐसा करूंगा, मैं अपना मत स्थापित करूंगा' ऐसा कहने में उनका अहंकार दिखाई दिया।"

जयनारायण पण्डित के सम्बन्ध में वे कहते थे—"इतना बड़ा पण्डित होने पर भी उसमें अहंकार लेश मात्र भी नहीं है। अपनी मृत्यु का समय उन्हें विदित हो गया था। वे एक बार बोले कि 'मैं काशी जाऊंगा और वहीं मेरा अन्त होगा।' अन्त में वैसा ही हुआ।"

आरियादह निवासी कृष्णकिशोर भट्टाचार्य की श्री रामचन्द्र में अपार भक्ति का उल्लेख वे कईबार किया करते थे। कृष्णकिशोर के घर में श्रीरामकृष्ण

सदा आया जाया करते थे और कृष्णकिशोर और उनकी परमभक्तिमती पत्नी दोनों की श्रीरामकृष्ण पर अत्यन्त गहरी निष्ठा थी। रामनाम पर कृष्णकिशोर की जैसी अटल निष्ठा थी उसी तरह—पुरातन ऋषियों के वाक्य के कारण—'मरा' 'मरा' शब्द पर भी वैसी ही निष्ठा थी! कारण कि कई पुराणों में वर्णन है कि नारद जी ने बाली नामक व्याध को इसी मन्त्र के जपने का उपदेश दिया था और इस मन्त्र के प्रभाव से बाली व्याध वाल्मीकि ऋषि बन गये। कृष्णकिशोर को संसार में कई आघात सहने पड़े। उनका एक कर्ता-धर्ता लड़का मर गया। श्रीरामकृष्ण कहते थे—"पुत्रशोक का प्रभाव बड़ा प्रबल होता है। इतना अधिक विश्वासी भक्त कृष्णकिशोर! परन्तु पुत्रशोक ने उसे भी कुछ दिनों तक पागल कर दिया।"

इसके सिवाय श्रीरामकृष्ण महर्षि देवेंद्रनाथ, पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि से भी भेंट करने गये थे। वे महर्षि के उदार अन्तःकरण तथा भक्ति और ईश्वरचन्द्र के निष्काम कर्म योग तथा उनकी अपार दया की प्रशंसा हम लोगों के पास कई बार किया करते थे।

२८—मधुरभाव की मीमांसा।

"कामगन्धशून्य हुए बिना, महाभावमयी श्रीमती राधा के भाव को समझना असम्भव है।"

"तुम इस लीला में श्रीकृष्ण के प्रति राधा के अलौकिक प्रेम पर ही ध्यान दो यही बस है। ईश्वर के प्रति इतना ही प्रेम मन में उत्पन्न हो जाने से उसकी प्राप्ति हो जाती है। देखो भला वृन्दावन की गोपियों को, पतिपुत्र, कुल-शील, मान–अपमान, लज्जा–संकोच, लोकभय–समाजभय इन सब को त्याग कर वे श्रीकृष्ण के लिये किस प्रकार पागल हो गई थीं? तुम यदि परमेश्वर के लिये इसी तरह दीवाने हो जाओ, तो तुम्हें भी उस (ईश्वर) की प्राप्ति होगी।"

—श्रीरामकृष्ण।

स्वयं साधक बने बिना किसी साधक के जीवन का इतिहास समझना कठिन है। क्योंकि साधन सूक्ष्म भावराज्य की बातें हैं। वहां रूप रसादिक विषयों की स्थूल मोहक मूर्ति दृष्टि गोचर नहीं होती। बाह्य वस्तु और व्यक्ति से होने वाले सम्बन्ध वहां नहीं रहते। राग द्वेषादि से पूर्ण मानव-मन प्रवृत्ति-प्रेरणा

से अस्थिर होकर अनेक प्रकार के भोग-सुख प्राप्त करने के लिये जिस तरह खटपट करता रहता है—और जिन्हें संसार में 'शूरता', 'वीरता', 'महत्त्वाकांक्षा' आदि मधुर नाम दिये जाते हैं--उस तरह की खटपट भी वहां नहीं करनी पड़ती। वहां तो खुद साधक का अन्तःकरण और उसके जन्म जन्मांतर के संस्कार-समूह को छोड़कर और कुछ भी नहीं रहता। वाह्य वस्तु और व्यक्ति के सम्बन्ध में पड़कर उच्च भाव और उच्च ध्येय की ओर आकृष्ट होना, उस उच्च भाव और ध्येय की ओर मन को एकाग्र करने तथा उस ध्येय को प्राप्त करने के लिये प्रतिकूल संस्कारों के विरुद्ध लगातार घोर संग्राम करना, ये ही बातें भावराज्य में हुआ करती हैं। वहाँ साधक वाह्य विषयों से विमुख होकर आत्मानन्द में रत होने के लिये लगातार प्रयत्न करता रहता है। इस प्रयत्न के जारी रहने से साधक क्रमशः अन्तःराज्य के अधिकाधिक गहन प्रदेश में प्रविष्ट होकर सूक्ष्मभावों का अधिकाधिक अनुभव प्राप्त करता है और अन्त में अपने अस्तित्व के अत्यन्त गहन प्रदेश में पहुँचकर अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, एकमेवाद्वितीय वस्तु का साक्षात्कार करके उसी के साथ वह एक हो जाता है। आगे चलकर उसके अनन्त जन्मोपार्जित संस्कार-समूह समूल नष्ट होकर जब तक संकल्प विकल्पात्मक धर्म स्थायीरूप से नष्ट नहीं हो जाता तब तक, उसे जिस मार्ग द्वारा अद्वय वस्तु का साक्षात्कार होता रहता है, उसी मार्ग से उसका मन विलोम भाव द्वारा समाधि अवस्था में से, वाह्य संसार में उतरता रहता है। इसी रीति से उनके मन का बाह्य जगत से समाधि में और समाधि से वाह्य जगत में आना जाना लगातार जारी रहता है। जगत के आध्यात्मिक इतिहास में कुछ ऐसे भी अलौकिक साधक देखने में आये हैं कि जिनके मन की पूर्वोक्त समाधि-अवस्था ही स्वाभाविक अवस्था हुआ करती है। वे अपनी स्वाभाविक समाधि-अवस्था को बलपूर्वक अलग रखकर साधारण मनुष्यों के कल्याण के हेतु ही वाह्य जगत में कुछ काल तक निवास करते हैं। श्रीरामकृष्ण देव के साधन-इतिहास को ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे भी इसी श्रेणी के थे। हमें उन्होंने स्वयं बताया है कि "मैं छोटी मोटी

एकाध वासना जान बूझकर रखता हूं, उसी की सहायता से अपने मन को तुम लोगों के लिये नीचे की श्रेणी में रोककर रखता हूं। अन्यथा उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति अखण्ड में मिल जाने की ओर है।"

समाधि-अवस्था में जिस अखण्ड अद्वय वस्तु का साक्षात्कार होता है उसे प्राचीन ऋषियों में से कोई २ "सर्व भावों का अभाव" या "शून्य" और कोई २ "सर्वभावों की सम्मिलन भूमि" या "पूर्ण" कह गये हैं। नामों की भिन्नता होते हुए भी सभी के कथन का सारांश एक ही है। सभी को यह मान्य है कि सर्व भावों की उत्पत्ति और अन्त वहीं होता है, भगवान् बुद्ध ने उसे "सर्वभावों की निर्वाण भूमि, शून्य वस्तु" कहा है। भगवान् शंकराचार्य ने उसी को "सर्वभावों की सम्मिलन भूमि, पूर्ण वस्तु" कहा है।

"शून्य" या "पूर्ण" नाम से पहिचाने जाने वाली अद्वैत भाव भूमि को ही उपनिषद और वेदान्त में भावातीत अवस्था कहा है। उसी अवस्था में साधक का मन निश्चल होने पर वह सगुण ब्रह्म या ईश्वर के सृजन, पालन, संहार आदि लीलाओं के सीमा पार हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य का मन आध्यात्मिक राज्य में प्रविष्ट होकर शान्त, दास्य आदि जिन पञ्च भावों के अवलम्बन द्वारा, ईश्वर के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है, उन पञ्च भावों से अद्वैत भाव एक भिन्न वस्तु है। जब मनुष्य का मन इहलोक और परलोक में प्राप्त होने वाले सभी सुख भोगों के सम्बन्ध में उदासीन होकर अत्यन्त पवित्र हो जाता है तभी उसे इस अद्वय भाव का अनुभव प्राप्त होता है और वह उसी की सहायता से निर्गुण ब्रह्मवस्तु का साक्षात्कार करके कृतार्थ हो जाता है।

अद्वैत भाव और उससे प्राप्त निर्गुण ब्रह्म दोनों को छोड़ देने पर आध्यात्मिक जगत में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर ये भिन्न २ पांच भाव ही दिखाई देते हैं। इनमें से प्रत्येक की साध्य वस्तु ईश्वर या सगुण ब्रह्म है।

अर्थात् इन पांचों में से किसी एक भाव को लेकर साधक सर्व शक्तिमान्, सर्वनियन्ता, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाववान् ईश्वर का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है। और सर्वान्तर्यामी, सर्वभावाधार ईश्वर भी साधक के मन की एकान्तिक (अनन्य) निष्ठा को देखकर, उसके भावानुरूप ही रूप का दर्शन देकर उसे कृतार्थ करता है। इस तरह भिन्न २ युगों में ईश्वर के भिन्न २ भावमय चिद्घन रूप धारण करने के—इतना ही नहीं वरन् कई बार साधकों के कल्याण के लिये स्थूल मनुष्य रूप धारण करने के प्रमाण शास्त्रों में पाये जाते हैं।

इस संसार में मनुष्य जन्म लेकर जिन भिन्न भिन्न भावों से अन्य सभी के साथ सम्बन्ध बांधता है, उस स्थूल भाव समूह के ही सूक्ष्म और शुद्ध रूप शांत, दास्य आदि पञ्च भाव हैं। इस संसार में पिता, माता, बन्धु, भगिनी, पति, पत्नी, सखा, प्रभु, भृत्य, पुत्र, कन्या, राजा, प्रजा, गुरु, शिष्य आदिकों से हमें अपने भिन्न भिन्न सम्बन्ध होने का अनुभव होता है, और हम शत्रु के सिवाय दूसरों के साथ सदा शान्त भाव से व्यवहार करना अपना कर्तव्य समझते हैं। भक्ति के आचार्यों ने इन भिन्न २ सम्बन्धों के पांच विभाग किये हैं। इन पांचों में से हमें अपने और परमेश्वर के बीच किसी एक सम्बन्ध की कल्पना कर उसी भाव के आधार पर परमेश्वर की भक्ति करना चाहिये—यही उनका उपदेश है। संसार में इन्हीं भावों का स्थूल रूप में प्रत्यक्ष अनुभव होता रहता है, और इन भावों में से किसी एक का ईश्वर के प्रति आरोपण करके उसी भाव के द्वारा उस (ईश्वर) की भक्ति करना मनुष्य के लिये आसान होगा। इतना ही नहीं, वरन् संसार में उसके सब से अनेक रूप से सम्बद्धित होने के कारण जो राग द्वेष आदि वृत्तियां उसमें होती हैं और जो उससे अनेक प्रकार के कुकर्म कराती हैं, उन वृत्तियों को वहां से हटाकर उन्हें दूसरी दिशा में मोड़ने से मनुष्य ईश्वर दर्शन के लक्ष्य की ओर अधिक शीघ्रतापूर्वक अग्रसर हो सकता है। उदाहरणार्थ मनुष्य भोग की कामना त्यागकर ईश्वर दर्शन की कामना अपने हृदय में रखेगा; अन्य लोगों पर क्रोध

न करके ईश्वर दर्शन के मार्ग में आड़ आने वाले विघ्नों पर ही क्रोध करेगा; क्षणिक सुख-लोभ की परवाह न कर ईश्वर दर्शन का ही लोभी बनेगा, इत्यादि इत्यादि।

इस प्रकार मनुष्य को ईश्वर पर भाव पञ्चक के आरोप करने की शिक्षा एक ही व्यक्ति से एकदम प्राप्त नहीं हुई है। कई महापुरुषों ने इन पंचभावों में से एक या दो भावों का ही आश्रय लेकर ईश्वर प्राप्ति के लिये साधनाएँ की हैं। उन्होंने उन्हीं भावों में तन्मय होकर अपने २ ध्येय को प्राप्त किया और अन्य साधारण लोगों को भी वैसा ही करने के लिये उपदेश किया है। उन महापुरुषों की अलौकिक जीवनचर्या का परिशीलन करने से यह दिखाई देता है, कि प्रत्येक भाव के साधन की जड़ (या नींव) प्रेम है और ईश्वर का प्रत्येक साकार रूप उस प्रेम का विषय होता है। अब यह प्रतीत होता है कि मनुष्य को अद्वैत का अनुभव होते तक ईश्वर के किसी न किसी साकार रूप की ही कल्पना करना सम्भव होता है।

प्रेम के गुणधर्म की आलोचना करने से यही दिखता है कि प्रेम, प्रेम करने-वाले और जिस पर वह प्रेम करता है उस व्यक्ति (अर्थात् प्रेमी और प्रेमपात्र दोनों) के ऐश्वर्यज्ञानमूलक भेदभाव को धीरे २ नष्ट कर डालता है। भावसाधन में मग्न रहनेवाले साधक के मन से भी प्रेम ईश्वरीय अपार ऐश्वर्य और शक्ति के ज्ञान को क्रमशः नष्ट कर डालता है और (वही) प्रेम साधक के भावानुरूप ईश्वर-स्वरूप की कल्पना उसके मन में उत्पन्न करता है, और उसे दृढ़ करता है। इसीलिये ईश्वर सर्वथा अपना ही है, ऐसी दृढ़ भावना से साधक उस (ईश्वर) के पास हठ करता है, उस पर क्रोध करता है तथा उससे रूठता है। ऐसा करते हुए उसे ऐसा बिल्कुल प्रतीत नहीं होता कि मैं कोई विलक्षण या असाधारण काम कर रहा हूं। इन पञ्चभावों में से किसी एक भाव का आश्रय करने से साधक को ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है। शान्त आदि पञ्च भावों में से जिस भाव के अवलम्बन से साधक को ईश्वर के ऐश्वर्य-ज्ञान का सब से अधिक विस्मरण होता

है, तथा उसे ईश्वर-प्रेम और माधुर्य का ही अनुभव प्राप्त होता है, वही भाव सब में श्रेष्ठ कहा जा सकता है। भक्ति के आचार्यों ने शान्त आदि पांचों भावों की इस दृष्टि से परीक्षा करने पर मधुरभाव को ही सब से श्रेष्ठ माना है।

पञ्च भावों में से हर एक भाव की अत्युच्च अवस्था में साधक पहुँचकर अपने आपको पूर्ण रीति से भूल जाता है। प्रेमी अपने प्रेमपात्र के ही सुख में अपने को भी सुखी मानकर उसके साथ एकजीव हो जाता है। उसके विरह में, उसके चिन्तन में वह इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे अपने अस्तित्व की भी सुधि नहीं रह जाती। श्रीमद्भागवत आदि भक्ति-ग्रन्थों से यह प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण के विरह में व्रज की गोपियों की अवस्था ऐसी ही हो गई थी। इतना ही नहीं, वे तो श्रीकृष्ण की एकरूपता को प्राप्त करके कभी २ अपने को ही श्रीकृष्ण समझती थीं। ईसामसीह ने जीवों के कल्याणार्थ क्रॉस पर जो यातनाएँ भोगी थीं, उनका स्मरण करते २ कुछ ईसाई सन्तों के शरीर से प्रत्यक्ष रक्त बाहर निकलने की बात ईसाई धर्मग्रंथों में प्रसिद्ध है।* इससे यह बात स्पष्ट है कि शान्त आदि पञ्चभावों में से प्रत्येक भाव की अत्यन्त उच्च अवस्था में साधक अपने प्रेमपात्र के चिन्तन में तल्लीन हो जाता है, और प्रेम की अधिकता के कारण वह उसी के साथ पूर्ण रीति से एक हो जाता है। इस तरह उसे अद्वैतभाव का अनुभव प्राप्त होता है। भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के अलौकिक साधक-जीवन ने इस विषय पर पूर्ण प्रकाश डाल दिया है। वे भावसाधनों में आरूढ़ होकर प्रत्येक भाव की अत्यन्त उच्च अवस्था में अपने प्रेमास्पद के साथ बिल्कुल तन्मय हो जाते थे और अपने अस्तित्व को पूर्णतः भूलकर अद्वैतभाव का अनुभव करते थे।

शायद यहां पर कोई यह शंका करे कि शान्त, दास्य, आदि भावों के अवलम्बन करने से मनुष्य को सर्वभावातीत अद्वय वस्तु का अनुभव कैसे होगा।

---

* सेन्ट फ्रैंसिस ऑफ अॅसीसी और सेन्ट कॅथेराइन ऑफ सिएना का चरित्र।

इसका उत्तर यही है कि कोई एक भाव जब साधक के मन में परिपुष्ट होकर विस्तृत हो जाता है तब वह उसमें के अपने सभी विरोधी भावों को क्रमशः नष्ट कर देता है। इस तरह उस भाव की पूर्णतः परिपुष्टि हो जाने पर साधक का तन्मयी अन्तःकरण ध्यान कालीन 'तू' (सेव्य), 'मैं' (सेवक) और इन दोनों के बीच का दास्य-सम्बन्ध इन सब को भूल जाता है, और प्रेम से (या प्रेम के कारण) केवल 'तू' शब्द से निर्दिष्ट (सेव्य) वस्तु में ही [१]एकजीव (या एकरूप) होकर अचल भाव से रहने लगता है।

'तूँ' 'तूँ' करता तूँ भया, रही न मुझ में 'हूँ'।
वारी तेरे नाम पर, जित देखूँ तित तूँ॥ —कबीर।

शास्त्रों का कहना है कि मनुष्य का मन मैं, तू, और इन दोनों के बीच के सम्बन्ध, इन तीनों का एक साथ एक ही समय अनुभव कभी नहीं कर सकता। उसे कभी "तू" निर्दिष्ट वस्तु का, तो कभी "मैं" निर्दिष्ट वस्तु का अनुभव होता है, और इन दोनों वस्तुओं के बीच में जल्दी २ परिभ्रमण कर सकने के लिए उसके मन में इन दोनों में किसी विशेष सम्बन्ध का उदय हुआ करता है। उस समय ऐसा भास होता है कि मानो वह मन 'मैं', 'तू' और उन दोनों के सम्बन्ध का अनुभव एक ही समय में कर रहा है। परिपुष्ट भाव के प्रभाव द्वारा मन की चंचलता नष्ट हो जाती है और क्रमशः पूर्वोक्त बात समझ में आने लगती है। ज्यों २ ध्यान के अभ्यास से मन वृत्तिहीन होता जाता है, त्यों २ उसे विदित होने लगता है कि एक अद्वय पदार्थ को दो भिन्न पहलुओं से या उसे दो भिन्न दृष्टियों से देखने के कारण ही 'मैं' और 'तू' ऐसे दो पदार्थों की कल्पना उत्पन्न हुई है।

विचार करने पर आश्चर्य होता है कि शान्त, दास्य आदि भावों में से एक २ भाव को पूर्ण रूपेण विकसित करके कई साधकों को ऊपर लिखे अनुसार अद्वय

पदार्थ का अनुभव प्राप्त करने के लिये कितने ही काल तक परिश्रम करना पड़ा है। शास्त्र रूप आध्यात्मिक इतिहास से पता चलता है कि प्रत्येक युग में उपासना के लिये मनुष्य को किसी एक भाव का आश्रय लेना ही पड़ा है; उस भाव का आश्रय लेकर ही तत्कालीन साधकों ने ईश्वर का—किसी २ ने अद्वय वस्तु का साक्षात्कार कर लिया है। ऐसा पता लगता है कि वैदिक और बौद्ध काल में मुख्यतः शान्तभाव, औपनिषदिक युग में पूर्ण विकसित शान्त भाव द्वारा प्राप्त अद्वैतभाव तथा दास्य और पितृभाव, रामायण और महाभारत युग में शान्त और निष्काम कर्मसंयुक्त दास्यभाव, तांत्रिक युग में ईश्वर का मातृभाव और मधुरभाव का कुछ अंश मात्र, और वैष्णव युग में सख्य, वात्सल्य और मधुरभाव का पूर्ण विकास—इसी रीति से (स्थूल मान से) पञ्च भावों का समय २ पर विकास हुआ है।

भारतवर्ष के आध्यात्मिक इतिहास में अद्वैतभाव के साथ शान्त आदि पञ्च-भावों का पूर्ण विकसित होना दिखता है; परन्तु भारतवर्ष को छोड़कर अन्य देशों के धर्म सम्प्रदायों में केवल शान्त, दास्य, और ईश्वर का पितृभाव–इतने ही भावों का प्रकाश दिखाई देता है। यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म सम्प्रदायों में राजर्षि सॉलोमन के कुछ सख्य और मधुरभाव सूचक गानों का प्रचार था। लेकिन उन धर्मों में इन भावों का भी सम्पूर्ण अर्थ ग्रहण होता नहीं दिखाई देता। इस्लाम के सूफी सम्प्रदाय में सख्य और मधुरभाव का विकास हुआ तो है, परन्तु मुसलमान लोग ऐसे भावयुक्त ईश्वरोपासना को कुरान के मत के विरुद्ध समझते हैं। कैथॉलिक सम्प्रदाय में भी ईसामसीह की माता 'मेरी' की पूजा द्वारा जगन्माता की पूजा की कल्पना तो प्रचलित अवश्य है, पर उनकी उस पूजा का सम्बन्ध प्रत्यक्ष ईश्वरीय मातृभाव से न होने के कारण साधक को वह भारत में प्रचलित जगन्माता की पूजा के समान "अखण्ड सच्चिदानंद" का साक्षात्कार कराने और स्त्री मात्र में ईश्वरीय विकास को प्रत्यक्ष रूप से दिखाने का फल नहीं दे सकती।

ऊपर कह चुके हैं कि किसी भी भावसम्बन्ध के अवलम्बन से साधक का मन ईश्वर की ओर आकृष्ट हो जाने पर वह धीरे २ उसी भाव में तल्लीन हो जाता है, और अन्त में वाह्य जगत से विमुख होकर निज-स्वरूप (या स्व-स्वरूप) में निमग्न हो जाता है। ऐसे मग्न होने के समय, साधक के पूर्व संस्कार उसके मार्ग में विघ्न उपस्थित करके उसको स्व-स्वरूप में मग्न नहीं होने देते, और बहिर्मुख करने का प्रयत्न करते हैं इसी कारण एक २ भाव में तन्मय होने के लिये पूर्व संस्कार विशिष्ट साधारण साधक के मन को बहुधा एक जन्म पर्याप्त नहीं होता। ऐसी अवस्था में साधक पहले निरुत्साह हो जाता है, और साध्य वस्तु की प्राप्ति के बारे में हताश हो जाता है: अन्त में साध्य वस्तु की ओर से उसका विश्वास भी हट जाता है, तब वह वाह्य जगत के रूपरसादिक विषयों को ही यथार्थ मानकर उन्हीं के पीछे पुनः दौड़ पड़ता है। इसीलिये वाह्य विषयों से विमुखता, प्रेमास्पद के ध्यान में तल्लीनता, और भावजन्य उल्लास ये ही साधक की तीव्रता और अधिकार को जांचने की कसौटी हैं।

किसी भाव विशेष में तन्मय होने का प्रयत्न करते समय पूर्व संस्कार समूह के साथ होने वाले संघर्ष का जिन्हें अनुभव नहीं है ऐसे लोगों को, साधक को अपने अन्तःसंस्कारों के साथ कितना घोर युद्ध करना पड़ता है उसकी कल्पना ही नहीं हो सकती। जिसने इस प्रकार का प्रयत्न किया है उसी की समझ में यह बात आ सकती है कि किसी भाव में लीन होने के लिये कितना प्रयास करना पड़ता है। श्रीरामकृष्ण ने एक के बाद दूसरे ऐसे सभी भावों में अल्प समय में ही तन्मय होने में जो सफलता प्राप्त की उसे देखकर वह तो चकित हो जायगा और उसे निःसन्देह निश्चय हो जायगा कि यह कार्य मानवी शक्ति की सीमा के बाहर है।

भाव राज्य के सूक्ष्म तत्वों को समझना मनुष्यबुद्धि के लिये बड़ा कठिन है, इसी कारण अवतारी महापुरुषों के साधनों का इतिहास शायद नहीं लिखा

गया है। श्रीकृष्ण, ईसामसीह, मुहम्मद, श्रीशंकराचार्य आदि के साधनकाल का जीवन-इतिहास कहीं लिखा नहीं है। भगवान् बुद्धदेव का थोड़ा सा ही पाया जाता है। केवल श्री चैतन्य देव के साधन कालीन जीवन का बहुत सा इतिहास लिखा हुआ मिलता है। श्री चैतन्य देव और उनके मुख्य २ सांगोपांग सख्य, वात्सल्य और मधुरभावों की साधनाओं का अथ से इति पर्यन्त बहुत सा इतिहास तो मिलता है। परन्तु ऐसा होते हुए भी " इस भावत्रयी में से प्रत्येक की अत्यन्त विकसितावस्था में पहुँचकर साधक का मन इतना तन्मय हो जाता है कि वह अपने प्रेमास्पद के साथ सर्वतोपारि एक होकर अद्वय वस्तु में विलीन हो जाता है—" यह चरम तत्व कहीं भी लिखा हुआ नहीं मिलता। भगवान् श्रीरामकृष्ण देव के अलौकिक चरित्र से तथा अदृष्टपूर्व, और अश्रुतपूर्व साधन-तिहास पढ़ने से वर्तमान युग में यह बात सारे संसार को स्पष्ट रूप से विदित हो गई कि जगत के सर्व धर्म और सम्प्रदाय यथार्थ साधक को उसी एक स्थान में ले जाकर छोड़ते हैं या पहुँचाते हैं।

ऊपर कह आये हैं कि श्री चैतन्य आदि वैष्णवाचार्यों का और उनके मधुरभाव के साधनों का साद्यंत इतिहास हमें देखने को मिलता है। यदि मधुरभाव के साधन का मार्ग उनसे विदित नहीं हुआ होता, तो लोगों को ईश्वर प्राप्ति के एक प्रधान मार्ग का यथार्थ ज्ञान न होता। भगवान् श्रीकृष्ण की लीला कोई निरर्थक वस्तु नहीं है, संसार को प्रथम यह बात उन्होंने ही दिखाई।

पाश्चात्यों का अनुकरण करके केवल बाह्य घटनाओं को लिपिबद्ध करने वाले आधुनिक इतिहासकार कहेंगे—" पर आप के कथनानुसार वृन्दावन लीला सचमुच हुई, इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतः यह सब तुम्हारा रोना, गाना, हँसना और भाव और महाभाव-ये सब बालू की नींव पर खड़ी की गई इमारत के समान है।" इस पर वैष्णव आचार्य कहते हैं कि " पौराणिक दृष्टि से, हम जैसा कहते हैं उस प्रकार की वृन्दावन लीला हुई ही नहीं,

इसके सम्बन्ध में आप लोग क्या कोई निश्चयात्मक प्रमाण सामने ला सकते हैं? आपका इतिहास जब तक कोई इस प्रकार का निश्चित प्रमाण सामने नहीं रख सकता, तब तक हम भी यही कहेंगे कि आपके संशय की इमारत भी बालू की नींव पर खड़ी की गई है। दूसरी बात यह है—मान लीजिये कि आप किसी समय इस प्रकार का निश्चयात्मक प्रमाण उपस्थित कर सकें, तो भी उससे हमारे विश्वास की ऐसी कौन सी क्षति हो सकती है? नित्य वृन्दावन की नित्य लीला को उसका यत्किञ्चित भी स्पर्श नहीं हो सकता! भावराज्य में यह नित्य वृन्दावन लीला सदैव समान रूप से सत्य रहेगी। यदि चिन्मय धाम में चिन्मय राधेश्याम की ऐसी अपूर्व प्रेमलीला देखने की तुम्हारी इच्छा है, तो प्रथम काया-वचन-मन से कामगन्धहीन बनो, फिर श्री राधा जी की सखियों में से किसी एक के समान निःस्वार्थ सेवा करना सीखो। ऐसा करने पर तुम्हें दिखेगा कि तुम्हारे हृदय में ही श्री हरि की लीलाभूमि-वृन्दावन नित्य प्रतिष्ठित है, और वहां तुम्हारे ही साथ उस वृन्दावन लीला का नित्य अभिनय हो रहा है।"

जिसने भावराज्य की सत्यता का अनुभव नहीं किया है, जो बाह्य घटना रूप आधार को भूलकर शुद्ध भावेतिहास की कल्पना नहीं कर सकता वह श्री वृन्दावन लीला की सत्यता का और उसके माधुर्य का उपभोग कभी नहीं कर सकता। श्रीरामकृष्ण देव तन्मय होकर इस लीला का वर्णन करते समय जब देखते कि, इस लीला की बात अपने पास आये हुए अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त तरुण श्रोतृ मण्डली को बहुत रुचिकर नहीं मालूम पड़ती, और यह बात उन्हें जँचती भी नहीं है तब वे कहते थे—"यदि तुम लोग इस लीला में से केवल श्रीकृष्ण के प्रति राधा के अलौकिक प्रेम को ही ध्यान में रखो, तो बस है। ईश्वर में वैसा ही प्रेम उत्पन्न होने से ईश्वर की प्राप्ति होती है। देखो भला! वृन्दावन की गोपियाँ पतिपुत्र, कुलशील, मान-अपमान, लज्जा-संकोच, लोकभय-समाजभय इन सब को त्याग कर श्रीकृष्ण के लिये किस तरह पागल बन गई थीं? तुम भी यदि ईश्वर के लिये उसी तरह पागल बन सको तो तुम्हें भी उसकी

प्राप्ति होगी।" वे यह भी कहते थे—"कामगन्धशून्य हुए बिना महाभावमयी श्रीमती राधा के भाव को समझना सम्भव नहीं है। सच्चिदानन्द-घन श्रीकृष्ण के केवल दर्शन से गोपियों के मन में कोटि रमण सुख से भी अधिक आनन्द होता था। उनकी देहबुद्धि विल्कुल नष्ट हो जाती थी। क्या ऐसी स्थिति में उनके मन में तुच्छ कामभाव का उदय कभी हुआ होगा? श्रीकृष्ण के शरीर से बाहर निकलने वाली दिव्यज्योति का स्पर्श होते ही उन्हें अपने प्रत्येक रोमकूप में रमण सुख से कोटि-गुना अधिक आनन्द का अनुभव होता था?"

एक बार स्वामी विवेकानन्द जी श्रीरामकृष्ण के पास श्रीराधाकृष्ण की वृन्दावन लीला की ऐतिहासिक सत्यता का प्रश्न उपस्थित करके उसका मिथ्या होना सिद्ध करने का प्रयत्न करने लगे। श्रीरामकृष्ण उनका सब कथन शान्ति से सुनकर बोले—"ठीक है, मान लिया कि 'श्रीमती राधिका' नाम की गोपी कभी भी नहीं थी, और राधा का चरित्र किसी प्रेमी साधक की कल्पना का खेल है; परन्तु मुझे यह तो बताओ कि इस चरित्र की कल्पना करते समय श्री राधा के भाव में उस साधक का अत्यन्त तन्मय हो जाना तो तुझे स्वीकार है या नहीं? बस हो गया! यह तेरा साधक ही इस चरित्र को लिखते समय अपने आप को भूलकर राधा बन गया था और इस प्रकार स्थूल दृष्टि से भी वृन्दावन लीला का अभिनय सचमुच हुआ, यह भी तुझे जँचता है या नहीं?"

वास्तविक रीति से देखने पर श्री भगवान् की वृन्दावन की प्रेमलीला के सम्बन्ध में सैकड़ों आपत्तियां (शंकाएँ) भले ही खड़ी की जाँय, तथापि श्री चैतन्य-प्रमुख महान् वैष्णव भगवद्भक्तों द्वारा जो "मधुरभाव सम्बन्ध" प्रथम आविष्कृत हुआ, और जो उनके शुद्ध सच्चरित्र जीवन में प्रत्यक्ष प्रकाशमान था, वह मधुरभाव सम्बन्ध चिरकाल तक सत्य रहेगा। और इस विषय के अधिकारी साधक चिरकाल तक स्वयं अपने को स्त्री और भगवान् को पतिस्वरूप मानकर (ईश्वर) का

पवित्र दर्शन प्राप्त करके धन्य और कृतार्थ होंगे और वे इस भाव की अत्युच्च अवस्था में पहुँचकर शुद्ध, अद्वय, ब्रह्मवस्तु में प्रतिष्ठित होंगे—इसमें तिलमात्र भी संशय नहीं है।

श्री भगवान् में पतिभावना रखकर साधन मार्ग में अग्रसर होना स्त्री जाति के लिये स्वाभाविक और सहज साध्य है, पर पुरुष-शरीर-धारी साधकों की दृष्टि से यह बात अस्वाभाविक मालूम पड़ने की सम्भावना है। यदि ऐसा है तो श्री चैतन्य देव ने ऐसा असंगत मार्ग लोगों में क्यों प्रचलित किया यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है। उसका उत्तर यह है कि युगावतार के सभी कार्य लोक-कल्याणार्थ ही हुआ करते हैं। श्रीकृष्ण चैतन्य का यह कार्य भी वैसा ही है। साधकों को उस समय आध्यात्मिक राज्य में जिस प्रकार के आदर्श प्राप्त करने की उत्कण्ठा थी, उसकी ओर लक्ष्य रखकर श्री चैतन्य देव ने उन्हें मधुरभाव रूप नया मार्ग दिखा दिया। अन्यथा ईश्वरावतार नित्य मुक्त श्री चैतन्य देव को, स्वयं अपने कल्याण के लिये, इस भावसाधन में मग्न होकर उसका पूर्ण आदर्श लोगों के सामने रखने की कोई आवश्यकता नहीं थी। श्रीरामकृष्ण देव कहते थे—"जिस तरह हाथी के बाहरी दांत शत्रुओं को मारने के लिये और भीतरी दांत अपनी खाद्य वस्तु को अच्छी तरह चबाने के लिये होते हैं, उसी तरह श्री गौरांग * में भी भीतर और बाहर दो प्रकार के भाव रहते थे। बाहर के मधुर-भाव की सहायता से वे लोक कल्याण करते थे, और आन्तरिक अद्वैत भाव के द्वारा वे प्रेम की अत्यन्त उच्च अवस्था में रहकर और ब्रह्म भाव में निमग्न होकर स्वयं भूमानन्द का अनुभव करते थे!"

तत्वेतिहासज्ञ कहते हैं कि बौद्ध काल के अन्त में भारतवर्ष में वज्राचार्य का अभ्युदय हुआ था। उन्होंने इस मत का प्रचार किया कि "निर्वाण पद

---

* श्री चैतन्य देव।

प्राप्त करने का प्रयत्न करते समय मन प्रायः वासना रहित होकर महाशून्य में लीन होना ही चाहता है, कि इतने में ही ' निरात्मा ' नामक देवी उसके सामने खड़ी होकर उसे वैसा (लीन) न होने देकर अपने शरीर में फँसा रखती है, और वह साधक के स्थूल शरीर को न सही तथापि सूक्ष्म शरीर को यथयावत् सभी इन्द्रियजन्य भोग सुखों का अनुभव करा देती है "—" स्थूल विषय भोगों का त्याग करने पर, (भाव जगत या) भाव राज्य में सूक्ष्म निरवच्छिन्न भोग सुख की प्राप्ति होती है । " उनका यह प्रचलित किया हुआ मत कुछ काल के बाद विकृत हो गया और " भोग सुख की प्राप्ति ही धर्मानुष्ठान का मूल उद्देश है, "—ऐसे घातक विचार का प्रचार होने लगा, और देश में इस कारण व्यभिचार फैल गया । भगवान् श्री चैतन्य देव के प्रकट होने के समय देश के अशिक्षित लोगों में यही विकृत बौद्ध मत फैला हुआ था, परन्तु फिर भी अनेक सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये थे । उच्चवर्णों में बहुत से लोग तन्त्रोक्त वाममार्ग के अनुयायी बनकर जगन्माता की सकाम पूजा और उपासना के द्वारा सिद्धियाँ और भोग सुख प्राप्त करने की धुन में लगे थे । उस समय जो यथार्थ साधक थे उन्हें भी इस ' मत की धूम ' में दिग्भ्रम हो गया, और उन्हें मार्ग दिखाने वाला कोई न रहा । ऐसी धर्मग्लानि के समय श्री चैतन्य देव का अवतार हुआ । उन्होंने प्रथम स्वयं अद्भुत त्याग वैराग्य का अनुष्ठान किया और वह आदर्श सभी साधकों के सामने रखा । पश्चात् उन्होंने लोगों को दिखा दिया कि " स्वयं शुद्ध और पवित्र होकर, और अपने को स्त्री मान ईश्वर की पति भाव से उपासना करने से मनुष्य को सूक्ष्म भावराज्य में निरवच्छिन्न दिव्य आनन्द का सचमुच लाभ होता है । " उन्होंने फिर स्थूल दृष्टि सम्पन्न साधारण लोगों के लिये जो इस गूढ़ बात को समझ नहीं सकते, ईश्वर की नाम-महिमा का प्रचार किया । इस तरह उनकी कृपा से अनेक पथभ्रष्ट, विकृत बौद्ध सम्प्रदाय के लोग, पुनः उचित आध्यात्मिक मार्ग में आरूढ़ हो गये । विकृत वामाचार का अनुष्ठान करने वाले लोग पहले पहल तो उनके कथन का खुले तौर से विरोध करते थे, पर बाद में

उनके अदृष्टपूर्व, अद्भुत जीवन से आकर्षित हो, त्यागशील बनकर, निष्काम भाव से पूजा करते हुए, श्री जगन्माता के दर्शन के लिये प्रयत्न करने लगे। इसीलिये भगवान् श्री चैतन्य देव के अलौकिक चरित्र लिखते समय किसी २ ग्रन्थकार ने यह भी लिखा है कि श्री चैतन्य देव के अवतार होने के समय शून्य-वादी बौद्ध सम्प्रदाय वालों ने भी आनन्द प्रकट किया था।

सच्चिदानन्दघन परमात्मा श्रीकृष्ण ही एकमात्र पुरुष, और संसार के सभी स्थूल सूक्ष्म पदार्थ और जीव ये सब उसकी महाभावमयी प्रकृति के अंश से उत्पन्न होने के कारण उसकी स्त्रियां हैं—इसलिये शुद्ध और पवित्र मन से उसको पति जानकर उसकी उपासना करने से जीव को मुक्ति और निरवच्छिन्न आनन्द की प्राप्ति होती है—यही चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रचारित मधुरभाव का सार तत्त्व है। महाभाव में सभी भावों का समावेश है। सर्व श्रेष्ठ गोपी श्री राधा ही महाभावस्वरूपिणी और अन्य गोपियों में से कोई एक भावरूपिणी और कोई दो या अधिक भावरूपिणी हैं। अतः व्रजगोपिकों का अनुकरण करते हुए साधन में प्रवृत्त होने से साधक इन सभी अन्तर्भावों को प्राप्त कर लेता है, और अन्त में वह महाभावजन्य महदानन्द में लीन होकर धन्य हो जाता है। इस प्रकार "महाभावस्वरूपिणी श्री राधा के भाव के ध्यान में तन्मय होकर, अपने सुख की इच्छा का पूर्ण परित्याग करके काया-वचन-मन से सब प्रकार श्रीकृष्ण के सुख में ही सुखी होना" इस मार्ग के साधकों का अन्तिम ध्येय है।

समाज में विवाहित स्त्री पुरुषों का परस्पर प्रेम जाति, कुल, शील, लोक-भय आदि बाह्य उपधियों से मर्यादित हो जाता है। विवाहित स्त्री पुरुष इन सभी नियमों की सीमा के भीतर ही रहकर अपने कर्तव्य-अकर्तव्य की ओर ध्यान रखकर परस्पर एक दूसरे के सुख के लिये यथासाध्य परिश्रम करते रहते हैं। विवाहित स्त्री समाज के कठोर नियम-बन्धनों का यथायोग्य पालन करती हुई अनेक प्रसंगों में अपने पतिप्रेम को कम कर देती है, और विशेष प्रसंगों में

पूरा भूल भी जाती है। स्वाधीना स्त्री के प्रेम का आचरण इससे कुछ भिन्न ही हुआ करता है। प्रेम की तीव्रता के कारण वह कई बार ऐसे सामाजिक बन्धनों को पैरों तले रौंद डालती है। इतना ही नहीं, वरन् वह अपने प्रेमास्पद के लिये अपने सामाजिक अधिकार और अपने सर्वस्व को भी छोड़ने में आगा पीछा नहीं देखती! इसी प्रकार का सर्वग्रासी प्रेमसम्बन्ध ईश्वर के साथ रखने का उपदेश वैष्णव आचार्यों ने दिया है। इसी कारण, उन्होंने वृन्दावनाधीश्वरी श्री राधा को, आयान घोप की विवाहित पत्नी होने पर भी, श्री कृष्ण के लिये अपना सर्वस्व त्यागने के कारण अत्यन्त श्रेष्ठ माना है।

वैष्णव आचार्यों ने मधुरभाव का वर्णन करते समय उस भाव को शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य इन चारों भावों की सार-समष्टि कहा है और उसे उन चारों भावों से अधिक श्रेष्ठ बताया है। प्रेमिका स्त्री अपने प्रेमास्पद की मोल ली हुई दासी के समान सेवा करती है; सखी के समान सभी अवस्थाओं में उसकी रक्षा करती है; वह उसके सुख में सुखी और दुःख में दुःखी हुआ करती है; माता के समान सदा उसके हित चिन्तन में मग्न रहती है, इस प्रकार अपने आपको बिल्कुल भूलकर अपने प्रेमास्पद के चिन्तन में ही सदैव तन्मय होकर उसके मन को अत्यन्त आनन्द और शान्ति देने के लिये सर्वदा प्रयत्न करती रहती है। इस प्रकार की स्त्री का ऐसा प्रेम सब से श्रेष्ठ होता है। ऐसी स्त्री को भक्तिशास्त्र में ‘ समर्था प्रेमिका ’ कहा है। स्वार्थ के विचारों से अन्य जो दूषित प्रेम होते है उन सब के ‘ समंजस ’ और ‘ साधारण ’ दो विभाग किये गये हैं। जो स्त्री अपने प्रेमास्पद के सुख के साथ २ अपने सुख की ओर भी दृष्टि रखती हैं, उसे ‘ समंजसा प्रेमिका ’ और जो केवल अपने को ही सुखी बनाने के उद्देश से अपने प्रेमास्पद को प्रिय समझती है, उसे ‘ साधारणी प्रेमिका ’ कहते हैं। अस्तु—

महाप्रभु ने सच्चे साधकों को शुद्ध, पवित्र और निःशेष वैराग्य सम्पन्न होकर श्री कृष्ण की पति भाव से उपासना करना सिखाया। उन्होंने साधारण लोगों के लिये नाम महात्म्य का प्रचार करके उस समय देश में धर्म के नाम पर होने वाले व्यभिचार को बन्द करने का और लोक कल्याण करने का प्रयत्न किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अनेक पथभ्रष्ट साधक उनके उपदेश से सत्यमार्ग में आ गये। समाज का बन्धन शिथिल हो गया था, वह दृढ़ हुआ; जाति से बहिष्कृत हुए लोग "भगवद्भक्त" रूप एक नई जाति में समाविष्ट किये गये। सभी सम्प्रदायों के सामने वैराग्य का भगवान् चैतन्य ने पवित्र और उच्च आदर्श रखकर उनको नवजीवन प्रदान किया। इतना ही नहीं, वरन् उन्होंने स्वयं अपने आचरण द्वारा सिद्ध करके बताया कि अन्य साधारण प्रेमी स्त्री पुरुषों में उनके उत्कृष्ट प्रेम से जनित सभी मानसिक और शारीरिक विकार भी मधुरभाव के साधन करने वाले शुद्ध और पवित्र साधकों में ईश्वर ध्यान की तीव्रता से उत्पन्न होते हैं। चैतन्य महाप्रभु ने अपने उदाहरण द्वारा तत्कालीन अलंकार शास्त्र पर भी आध्यात्मिकता की छाप डाली; श्रृंगारपूर्ण काव्यों को साधकों के गाने योग्य व्यवहार्य बनाया और कामक्रोधादिकों की प्रवृत्ति को ईश्वर प्राप्ति की ओर झुकाने की शिक्षा देकर साधकों का मार्ग अत्यन्त सुगम कर दिया।

पाश्चात्य शिक्षा-प्रधान आधुनिक नवीन सम्प्रदायों की दृष्टि में मधुरभाव पुरुषों के लिये भले ही अस्वाभाविक दिखता हो, पर उसकी यथार्थ उपयोगिता वेदान्त तत्वज्ञानी के ध्यान में तत्क्षण आ जायगी। उन्हें विदित है कि मन की भावनाएँ ही बहुत दिनों के अभ्यास से दृढ़ संस्कार के रूप में परिणत होती हैं और मनुष्य को उसके जन्म जन्मान्तर के संस्कारों के कारण ही एक अद्वय ब्रह्म वस्तु के स्थान में यह विविध और विचित्र संसार दिखने लगता है। यदि ईश्वर कृपा से अब इस समय "यह जगत नहीं है" ऐसी निःसंशय भावना उसे हो जाय, तो उसकी दृष्टि के सामने से यह संसार तुरन्त ही विनष्ट हो जायगा।

" संसार है " ऐसी भावना करने के कारण ही यह संसार उत्पन्न हुआ है " मैं पुरुष हूं " इस भावना से पुरुषत्व प्राप्त हुआ है । दूसरे ने " मैं स्त्री हूं " यह भावना की अतः उसे स्त्रीत्व प्राप्त हुआ । इसके सिवाय मनुष्य के हृदय में एक विशिष्ट भाव के प्रबल हो जाने से उसके अन्य सभी भाव विलीन हो जाते हैं, ये बातें तो नित्य परिचय की हैं । इसलिये जैसे कांटे को कांटे से निकालते हैं, उसी तरह " ईश्वर पर मधुरभाव सम्बन्ध का आरोपण करके साधक उसकी सहायता से अन्य सभी भावों को दूर करने का प्रयत्न करता रहता है " ऐसा वेदान्त शास्त्रज्ञ समझते हैं । मनुष्य के मन के अनेक संस्कारों में से " मैं देही " और उसके साथ " मैं पुरुष " या " मैं स्त्री " यही संस्कार अत्यन्त प्रबल हुआ करते हैं । स्पष्ट है कि साधक पुरुष जब श्री भगवान् को पति मानकर " मैं स्त्री " ऐसी भावना करता हुआ अपने पुरुषत्व को चूक जाय तब वह उसके बाद " मैं स्त्री " इस भावना को भी दूर करने में समर्थ होकर भावातीत अवस्था का अनुभव सहज ही प्राप्त कर लेगा । इसीलिये वेदान्त तत्वज्ञानी लोग समझते हैं कि यदि साधक मधुरभाव में सिद्ध हो जावें, तो भावातीत भूमिका के बिल्कुल समीप पहुँच जाता है ।

यहां पर कोई यह प्रश्न करेगा कि " क्या केवल राधा भाव प्राप्त करना ही मधुरभावानुयायी साधक का अन्तिम ध्येय है ? " इसका उत्तर यह है कि आजकल के साधकों के लिये महाभावमयी श्री राधा का भाव प्राप्त करना असम्भव होने के कारण उन्हें केवल सखी भाव ही प्राप्त करने का ध्येय रखना चाहिये । यद्यपि वैष्णव आचार्यों का मत इसी प्रकार दिखाई देता है, तथापि साधक को श्री राधा का भाव प्राप्त करने का ध्येय अपने सामने रखना उचित है । इसका कारण यह दिखता है कि सखियों के भाव में और राधा के भाव में यथार्थतः कोई भेद नहीं है । भेद है केवल प्रेम की तीव्रता का । ऐसा दिखता है कि सखियाँ भी राधा के समान ही श्री कृष्ण की पति भाव से उपासना करती थीं; पर श्री राधा के सहवास से श्री कृष्ण को सब से अधिक आनन्द होता है

यह जानकर वे सखियाँ श्री कृष्ण के सन्तोष के लिये राधा–कृष्ण का ही सम्मिलन कराने का सदा प्रयत्न करती थीं। वैसे ही श्रीरूप, श्रीसनातन, श्रीजीव आदि प्राचीन महाभगवद्भक्त वैष्णव आचार्यों ने मधुरभाव की परिपुष्टि के लिये श्री वृन्दावन में जाकर रहने के बाद, श्री कृष्ण की प्रतिमा के साथ श्री राधिका की प्रतिमा की भी सेवा नहीं की। इसका कारण यही है कि वे स्वयं अपने को राधा समझकर मधुरभाव का साधन करते थे। अस्तु—

स्थूल मान से मधुरभाव का इतना ही दिग्दर्शन करा देना पर्याप्त है। मधुरभाव का साधन आरम्भ करके श्रीरामकृष्ण ने कितनी उच्च अवस्था प्राप्त कर ली थी, इसी बात को ठीक २ समझने के लिये मधुरभाव की केवल आवश्यक बातों का संक्षिप्त विवेचन यहां किया गया है।

२६—श्रीरामकृष्ण का मधुरभाव साधन।

(१८६४—६५)

"मैंने राधा भाव में बहुत से दिन बिताये। उस समय मैं स्त्रियों के समान वेष किया करता था। स्त्री वेष के लिये आवश्यक सभी चीज़ें-(गहने तक)—मथुरबाबू ने ला दीं!"

"उन्नीस प्रकार के भाव एक ही जगह प्रकाशित होने से वह महाभाव कहाता है। जन्मभर साधन करके, साधक अधिक से अधिक एक या दो भाव में सिद्धि प्राप्त कर सकता है। (अपनी ओर उंगली दिखाकर) यहां केवल एक ही आधार से एक ही जगह, सभी उन्नीसों भाव पूर्ण रूप से प्रकाशित हैं!!"

"मैं उस (महाभाव की) अवस्था में तीन दिनों तक संज्ञाशून्य होकर एक ही स्थान में पड़ा था! सचेत होने पर ब्राह्मणी मुझे पकड़कर स्नान करने के लिये ले गई। परन्तु शरीर हाथ लगाने लायक़ न था! शरीर पर एक चादर

भर पड़ी थी। उसी को पकड़कर वह मुझे ले गई! शरीर में लगी हुई मिट्टी भी जल गई थी!"

—श्रीरामकृष्ण।

श्रीरामकृष्ण के शुद्ध और एकाग्रचित्त में जिस समय जो भाव उदय होता था उसी भाव में वे कुछ समय तक बिल्कुल तन्मय होकर रहते थे। ऐसा होने पर उनके मन से अन्य सब भाव बिल्कुल लुप्त हो जाते थे। इतना ही नहीं, उनके शरीर में भी उस भाव के पूर्ण प्रकाश के उपयुक्त परिवर्तन हो जाता था! बचपन से ही उनके मन का भाव इस प्रकार का था। दक्षिणेश्वर में उनके चरणों का आश्रय प्राप्त होने पर हमें उनके इस प्रकार के मानसिक स्वभाव के उदाहरण सदा देखने को मिलते थे। ऐसा जान पड़ता था कि जब उनका मन कोई गीत सुनकर या और किसी सबब से किसी विशिष्ट भाव में मग्न रहता था तो उस समय किसी दूसरे भाव का गायन या भाषण सुनने पर उनके मन में अत्यन्त वेदना होती थी। यह स्पष्ट है कि किसी विशिष्ट लक्ष्य की ओर जाती हुई चित्तवृत्ति की गति को इस प्रकार अचानक रोकने से उन्हें वेदना होती थी। महामुनि पातञ्जलि ने एक ही भाव से भावित चित्तवृत्ति युक्त मन को ही 'सविकल्प समाधिस्थ मन' कहा है। इसी स्थिति को ही भक्ति शास्त्र में भावसमाधि, भावावस्था और भावावेश नाम दिये गये हैं।

साधनकाल में उनका यह मानसिक स्वभाव अत्यन्त विकास को प्राप्त हो गया था। उनका मन उस समय पहिले के समान किसी एक विशिष्ट भाव में

थोड़े समय रहने से ही शान्त नहीं होता था। वरन् जब तक वे उस भाव में तन्मय रहकर उसकी अत्यन्त उच्च अवस्था में अद्वैत भाव का आभास नहीं पा लेते थे, तब तक वे उसी भाव में ही सभी समय रहते थे। उदाहरणार्थ—दास्यभाव की चरम सीमा तक पहुँचे बिना उन्होंने मातृभाव का साधन नहीं किया। तन्त्र शास्त्रोक्त मातृभाव के साधन की अन्तिम मर्यादा तक पहुँचे बिना उन्होंने वात्सल्यादि भावों का साधन नहीं किया। उनकी साधक अवस्था में सर्वत्र यही बात दिखाई देती है।

जब भैरवी ब्राह्मणी का आगमन दक्षिणेश्वर में हुआ उस समय श्रीरामकृष्ण का मन ईश्वर के मातृभाव में तन्मय हो चुका था। संसार के सभी प्राणियों और पदार्थों में-विशेषतः सभी स्त्रियों में-उन्होंने साक्षात् श्री जगदम्बा का निवास प्रत्यक्ष देख लिया था! इसीलिये उन्होंने ब्राह्मणी के वहां आते ही उसे "माता" कहकर सम्बोधन किया; और स्वयं अपने को उसका बालक जानकर कभी २ उसकी गोदी में बैठकर उसके हाथ से भोजन किया! इन बातों से उनके हृदय के भाव का स्पष्ट पता लग जाता है। हृदयनाथ कहते थे कि "ब्राह्मणी उन दिनों एकाध बार व्रज गोपिका के भाव में तन्मय होकर मधुर-भावात्मक गीत गाने लगती थी। वे गाने मामा को नहीं रुचते थे। तब वे उससे उन गानों को बन्द करके मातृभावात्मक पद गाने के लिये कहते थे।" यह बात श्रीरामकृष्ण के मधुरभाव-साधन के बहुत पहिले की है; परन्तु इससे उनकी भाव तन्मयता का परिचय पूर्ण हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें एक भाव की चरम सीमा तक पहुँचे बिना दूसरा भाव प्रिय नहीं लगता था।

श्रीरामकृष्ण के चरित्र पर विचार करने से यह मालूम होता है कि वे स्वयं बिल्कुल निरक्षर और शास्त्रज्ञान से अनभिज्ञ थे, पर उन्होंने शास्त्र मर्यादा का कभी भी उल्लंघन नहीं किया। उन्होंने गुरु बनाने के पूर्व भी जिन २ साधनों का

अनुष्ठान केवल अपने हृदय की व्याकुलता की प्रेरणा से किया वे भी कभी शास्त्र विरोधी न होकर शास्त्रानुकूल ही रहे। शुद्ध, पवित्र और ईश्वर प्राप्ति के लिये व्याकुल हृदय में उठने वाली भाव-तरङ्गें सदा वैसी होंगी ही। थोड़ा विचार करने से भी दिखेगा कि इसमें कोई विचित्रता नहीं है। क्योंकि श्रीरामकृष्ण के समान शुद्ध और पवित्र अन्तःकरण की तरङ्गों के दृश्य फल ही तो शास्त्र हैं। जब श्रीरामकृष्ण सरीखे शुद्ध, पवित्र और ईश्वर दर्शन के लिये व्याकुल निरक्षर पुरुष का कोई भी कार्य शास्त्र विरुद्ध नहीं हुआ और प्रत्येक कार्य के अनुष्ठान से शास्त्रोक्त सभी फल मिलते गये तब तो इससे शास्त्रों की प्रमाणिकता ही निश्चित रूप से सिद्ध होती है। स्वामी विवेकानन्द ने इस सम्बन्ध में कहा है कि "शास्त्रों में वर्णित सभी अवस्थाओं और अनुभवों की सत्यता प्रमाणित करने के लिये ही ईश्वर ने इस समय निरक्षर बनकर अवतार लिया था!"

श्रीरामकृष्ण के द्वारा स्वभावतः शास्त्र मर्यादा की रक्षा किस प्रकार होती गई उसके दृष्टान्त स्वरूप, उन्हें भिन्न २ साधनों के समय भिन्न २ वेष धारण करने की इच्छा कैसे होती गई, यही एक बात यहां बता देना पर्याप्त होगा। वे जिस समय जिस भाव के साधन में निमग्न होते थे उस समय उसी भाव के अनुकूल वेष धारण करने की इच्छा उन्हें स्वभावतः हुआ करती थी और उसीके अनुसार वे वैसा वेष धारण करते थे। तन्त्रोक्त मातृभाव साधन करते समय वे रक्त वस्त्र, विभूति, सिन्दूर, रुद्राक्ष आदि धारण करते थे। वैष्णव तन्त्रोक्त भावों के सम्बन्ध में तिलक, श्वेतवस्त्र, श्वेतचन्दन, तुलसीमाला आदि धारण करते थे। वेदोक्त अद्वैत भावसाधन के समय उन्होंने शिखासूत्र का त्याग करके गेरुआ वस्त्र परिधान किया था। जिस तरह पुरुष भाव से साधन करते समय वे पुरुष वेष धारण करते थे, उसी तरह स्त्री जन्मोचित भाव साधन करते समय उन्होंने स्त्री वेष धारण करने में बिलकुल आगा पीछा नहीं किया! वे बारम्बार यही शिक्षा देते थे कि "लज्जा, घृणा, भय और जन्म जन्मागत जाति, कुल, शील आदि अष्टपाशों का समूल

त्याग किये बिना ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में कभी किसी की उन्नति नहीं हो सकती।" अस्तु—

जब मधुरभाव साधन के समय उन्हें स्त्रियोचित वेष धारण करने की इच्छा हुई तब परम भक्त मथुरबाबू ने उनकी इच्छा जानकर उनके लिये बहुमूल्य स्त्रियोपयोगी वस्त्र मंगवा दिया तथा अनेक प्रकार के आभूषण तैयार करवा दिये। उनके लिये केशों का टोप भी मंगवा दिया। हमें विश्वसनीय व्यक्तियों से पता लगा है कि कुछ हरि के लालों ने मथुरबाबू की इस भक्तिपूर्ण उदारता को और श्रीरामकृष्ण के त्याग को बदनाम करके उन्हें कलंक लगाने में उस समय कोई कसर नहीं रखी थी। परन्तु मथुरबाबू और श्रीरामकृष्ण दोनों ने ही लोगों के कहने की परवाह न कर अपने ध्येय की ओर ही दृष्टि रखी। इधर 'बाबा' के सन्तोष से और "वे कोई भी कार्य व्यर्थ नहीं करेंगे" इस विश्वास से मथुरनाथ को उनकी सेवा में परमानन्द होता था, तो उधर सुन्दर वस्त्रालंकारों से विभूषित होकर श्रीरामकृष्ण व्रज गोपियों के भाव में क्रमशः इतने तन्मय हो गये थे कि अपने पुरुषपन का ज्ञान उनके मन से समूल नष्ट हो गया था; उनकी बोलचाल, उनका कार्यकलाप, —इतना ही नहीं—उनके विचार भी स्त्रियों के समान बन गये थे। स्वयं श्रीरामकृष्ण के मुँह से हमने ऐसा सुना है कि उन्होंने मधुरभाव साधन के समय छः महीने तक स्त्री वेष धारण किया था।

पहिले लिख चुके हैं कि श्रीरामकृष्ण में स्त्री और पुरुष दोनों के भावों का अपूर्व सम्मिलन हुआ था। जब वे स्त्री वेष में रहने लगे तब उनका स्त्री भाव तो पूर्ण जागृत हुआ ही, पर उस समय उनमें स्त्री भाव की इतनी पराकाष्ठा हो गई कि बोलना, चलना, हँसना, देखना, हावभाव और शारीरिक और मानसिक सभी व्यवहार बिल्कुल हूबहू स्त्रियों के समान हो गये थे। यह बात हमने स्वयं श्रीरामकृष्ण और हृदय दोनों के ही मुँह से सुनी है। दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के चरणों का आश्रय ग्रहण करने पर हमने उन्हें विनोद से स्त्रियों का अभिनय

करते अनेक बार देखा है। वह अभिनय इतना सांगोपांग और सर्वांग पूर्ण रहता था कि उसे देखकर स्त्रियाँ भी आश्चर्य चकित हो जाती थीं। लगभग इसी समय मथुरबाबू कभी २ श्रीरामकृष्ण को अपने जानबाजार के वाड़े में रहने के लिये ले जाते थे। वहाँ रहते समय श्रीरामकृष्ण घर के स्त्री समाज में ही उठते बैठते थे। वहाँ बहुत दिनों से उनके कामगन्ध हीन पवित्र चरित्र की जानकारी सभी को हो चुकी थी और वे सब उनको देवता के समान मानते थे। और अब तो उनका वेष और व्यवहार स्त्रियों के समान देखकर वे स्त्रियाँ उनके अद्भुत कामगन्ध हीन प्रेम से इतनी मुग्ध हो गई थीं की वे उनको अपने में से ही एक समझने लगी थीं। उनसे व्यवहार करते समय उनको लज्जा या संकोच बिल्कुल नहीं मालूम होता था। स्वयं श्रीरामकृष्ण के मुँह से हमने सुना है कि मथुरबाबू की लड़कियों में से किसी लड़की का पति जब चार दिन अपनी ससुराल में रहने के लिये आता था उस समय वे स्वयं उस लड़की के बालों में कंघी आदि करते थे; उसके सब आभूषण अपने हाथों से उसके शरीर में पहिनाते थे और उसे अपने पति से बोलने तथा उसे सन्तुष्ट रखने की कला समझाते थे; वे उस लड़की का हाथ पकड़कर एक सखी के समान उसे उसके पति के समीप ले जाकर बैठा देते थे और तब वापस लौटते थे! श्रीरामकृष्ण कहते थे, "वे लड़कियां भी मुझे अपनी सखी समझकर मुझसे बिल्कुल निःसंकोच भाव से व्यवहार करती थीं।"

हृदय कहता था कि "जब मामा स्त्रियों के बीच इस प्रकार से रहते थे, तब उन्हें उनके नित्य के परिचित मनुष्यों के लिये भी पहिचानना कठिन होता था। एक दिन मथुरबाबू मुझे अपने अन्तःपुर में ले गये और बोले 'इन स्त्रियों में तुम्हारा मामा कौन है उसे पहचानो।' मैं इतने दिनों तक उनके साथ रहा, उनकी नित्य सेवा शुश्रुषा करता रहा, किन्तु उस समय मैं उन्हें नहीं पहचान सका। उन दिनों दक्षिणेश्वर में मामा नित्य प्रातःकाल उठकर टोकनी लेकर फूल तोड़ने जाते थे। उस समय मैंने प्रत्येक बार देखा है कि स्त्रियों के समान चलते समय उनका बाया पैर ही प्रथम आगे पड़ता था! भैरवी ब्राह्मणी

कहती थी कि 'फूल तोड़ते समय उन्हें देखकर मुझे कई बार यही भास होता कि यह साक्षात् श्रीमती राधारानी ही है।' वे फूल तोड़कर उनसे चित्रविचित्र मालाएँ गूँथते थे और श्री राधागोविंद जी को पहनाते थे; वे कभी २ तो उन मालाओं को श्री जगदम्बा को पहना देते थे और जैसे व्रजगोपिकाएँ कात्यायनी की प्रार्थना करती थीं, उसी प्रकार वे भी " श्री कृष्ण मुझे पति मिलें ऐसी प्रार्थना गद्गद हृदय से करते थे!!"

इस तरह श्री कृष्ण का दर्शन प्राप्त करने और उन्हें पतिरूप से पाने के लिये श्रीरामकृष्ण उस समय श्री जगदम्बा की और श्री राधाकृष्ण की अत्यन्त व्याकुल अन्तःकरण से अनन्य भाव युक्त प्रार्थना करते हुए दिन बिताने लगे। रात दिन श्री कृष्ण दर्शन की एक समान धुन लगी रहती थी और श्री कृष्ण ही को पति प्राप्त करने के लिये अत्यन्त व्याकुल होकर प्रार्थना करते रहते थे। इसी प्रकार उनके दिन पर दिन, सप्ताह पर सप्ताह और महीने पर महीने व्यतीत होते जाते थे, पर न तो उनके मन में एक क्षण के लिये भी निराशा या अविश्वास का चिन्ह मात्र दिख पड़ता, और न उनकी व्याकुलतापूर्ण प्रार्थना में ही कभी कोई अन्तर हुआ। उनके हृदय की व्याकुलता क्रमशः इतनी बढ़ गई कि उन्हें आहार निद्रा आदि तक की सुधि नहीं रहती थी; केवल लगातार श्री कृष्ण दर्शन का ध्यास लगा रहता था। वे यह सोचकर कि इतने व्याकुल हृदय से भी प्रार्थना करने पर श्री कृष्ण दर्शन नहीं हो रहा है, रो २ कर व्यथित हो जाते थे, अपना मुँह पृथ्वी पर रगड़ डालते थे और श्री कृष्ण विरह के दुःख से बेहोश होकर भूमि पर अचेत पड़ जाते थे। जैसी अवस्था प्रियतम के विरह में मनुष्य के शरीर और मन की हो जाती है, ठीक वही अवस्था उस समय श्रीरामकृष्ण की हो गई थी। श्री कृष्ण विरह से उनके शरीर में पहले के समान अब पुनः दाह होने लगा। उनके शरीर में आग की सी जलन लगातार होने लगी; आखिर वह वेदना उन्हें असह्य हो गई। श्रीरामकृष्ण स्वयं कहते थे कि "उस समय श्री कृष्ण के अत्यन्त दुःसह विरह के कारण मेरे प्रत्येक रोम कूप में से बूंद २ रक्त बाहर

निकलने लगा! मैं जिस जगह बैठता था वहां की ज़मीन मेरे शरीर के दाह से जल जाती थी। मेरे शरीर की सभी सन्धियां शिथिल हो जाने से सभी इन्द्रियों के कार्य बन्द होने पर मेरा शरीर कभी २ शव के समान निश्चेष्ट और संज्ञा शून्य हो जाता था।"

शरीर के साथ नित्य जकड़े हुए और देह बुद्धि के सिवाय अन्य कुछ नहीं समझने वाले हम जैसे मनुष्यों की प्रेम कल्पना यही हुआ करती है, कि "प्रेम एक देह का दूसरे देह के प्रति आकर्षण है!" हमारी कल्पना इसके आगे दौड़ती ही नहीं। यदि इस कल्पना ने अधिक भी दौड़ लगाई तो प्रेम को किसी व्यक्ति में प्रकाशित होने वाले गुणों की ओर आकर्षण समझकर हम उसे "अतीन्द्रिय प्रेम" के भड़कीले नाम से पुकारते हैं, और उसकी भूरि २ प्रशंसा करने लगते हैं! परन्तु बड़ों द्वारा प्रशंसित यह "अतीन्द्रिय प्रेम" स्थूल देहबुद्धि और सूक्ष्म भोग लालसा से कभी अलग नहीं रह सकता। श्रीराम-कृष्ण के जीवन में प्रकट होने वाले यथार्थ अतीन्द्रिय प्रेम की तुलना में हमारा यह "अतीन्द्रिय प्रेम" कितना तुच्छ और अन्तःसार शून्य (खोखला) है यह तत्क्षण दिख जाता है।

भक्तिशास्त्र का कहना है कि यथार्थ अतीन्द्रिय प्रेम की पराकाष्ठा एक व्रजेश्वरी श्रीमती राधा को छोड़कर, अन्य किसी के भी जीवन में आज तक देखने में नहीं आई। लज्जा, घृणा, भय को छोड़कर, लोकभय और समाजभय की परवाह न करके, जाति, कुल, शील आदि सभी बाह्य संसार बन्धनों को पूर्णतः भूलकर इतना ही नहीं, वरन् स्वयं अपनी देह के और सुख के विषय में पूर्ण उदासीन होकर भगवान् श्री कृष्ण के ही सुख में अपना सुख अनुभव करने वाले किसी दूसरे व्यक्ति का उदाहरण भक्ति शास्त्र में नहीं मिलता। भक्ति शास्त्र में कहा गया है कि श्रीमती राधा की कृपा हुए बिना इस प्रेम का लाभ अंशतः अपि किसी को नहीं हो सकता और उसे श्री कृष्ण का दर्शन भी प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि श्रीमती राधा के कामगन्ध हीन दिव्य प्रेम से भगवान् श्री कृष्ण स्थायी

रूप से बंध गये हैं, और उसी की इच्छा के अनुसार वे भक्तजनों के मनोरथ पूर्ण करते हैं! निष्काम प्रेम की सजीव मूर्ति श्रीराधा के समान प्रेम मन में उत्पन्न हुए बिना ईश्वर पति भाव से किसी को नहीं मिल सकता है और न इस दिव्य प्रेम की माधुरी का अनुभव भी हो सकता है।

यद्यपि श्री कृष्ण के प्रति व्रजेश्वरी श्री राधा का दिव्य और अदृष्टपूर्व प्रेम का वर्णन श्री शुकदेव जैसे आत्मानन्द में मग्न रहने वाले परमहंस श्रेष्ठ मुनि-वरों ने कई बार किया है, तथापि भारतवर्ष में साधारण लोग उस प्रेम का अपने जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव करने का ढंग बहुत दिनों तक नहीं समझे थे। गौड़ देशीय गोस्वामी लोगों का मत है कि लोगों को यह बात सिखाने के लिये ही श्री भगवान् को श्रीमती राधा के साथ एक ही शरीर में अवतार लेना पड़ा। वही यह अन्तःकृष्ण बहिर्गौर अथवा राधारूप से प्रकट होने वाला और लोगों के सामने मधुरभाव का पूर्ण आदर्श रखने वाला श्री गौरांग या श्री कृष्ण चैतन्य देव का अवतार है। उन्होंने यह भी लिखा है कि श्री कृष्ण प्रेम की तीव्रता से श्री राधारानी के शरीर और मन में जो लक्षण और विकार उत्पन्न होते थे, वे सब पुरुष शरीरधारी श्री गौरांग में भी उनकी अपार ईश्वर-भक्ति के कारण दीख पड़ते थे! इसी कारण श्री गौरांग को 'श्रीमती' भी कहा जाता है। इस प्रकार अतीन्द्रिय, दिव्य, तथा निष्काम प्रेम की अत्युच्च अवस्था को प्राप्त दूसरे उदाहरण श्री गौरांग देव हैं। अस्तु—

श्रीरामकृष्ण श्रीमती राधा की कृपा के बिना श्री कृष्ण दर्शन असम्भव जान-कर उन्हीं की उपासना में मग्न हो गये और अपने हृदय की व्याकुलता उनके चरणों में निवेदन करने लगे। ऐसी तन्मयता में कुछ दिन बीतने पर उन्हें श्री राधा का दर्शन हुआ और उन्होंने पहिले के अन्य देव देवियों के समान श्री राधा को भी अपने शरीर में प्रविष्ट होते देखा! वे कहते थे—"श्री कृष्ण प्रेम में अपना सर्वस्व होम करने वाली, अनुपम, पवित्रोज्ज्वल मूर्ति की महिमा और उसके माधुर्य का वर्णन करना असम्भव है। श्रीमती की कांति नागकेशर पुष्प के पराग के समान गौर वर्ण थी।"

इस समय से उनके मन में दृढ भावना हो गई कि "मैं स्वयं राधा हूँ।" श्रीमती के ध्यान और सतत चिन्तन के प्रभाव से श्रीरामकृष्ण देव को अब उसी के भाव में बिल्कुल लीन हो जाने के कारण उन्हें अपने पृथक् अस्तित्व का भी समूल विस्मरण हो गया; उनका मधुरभाव जन्य ईश्वर प्रेम इतना अधिक बढ गया कि श्री राधा और उनकी अवस्था एक हो गई। उनमें उपरोक्त दर्शन से श्रीमती राधा और श्री गौरांग के मधुरभाव की पराकाष्ठा से उत्पन्न होने वाले महाभाव के सभी लक्षण दिखाई देने लगे। वैष्णव आचार्यों के ग्रंथों में महाभाव के लक्षणों का सविस्तर वर्णन है। वैष्णव तन्त्र में प्रवीण भैरवी ब्राह्मणी तथा वैष्णव चरण आदि शास्त्रज्ञ साधकों ने, श्रीरामकृष्ण में सभी महाभाव के लक्षणों को देख आश्चर्य चकित होकर और उन्हें अवतार जानकर उनकी स्तुति की इस बात की चर्चा करते हुए श्रीरामकृष्ण हमें कई बार बोले कि "उन्नीस प्रकार के भाव, एक ही जगह, प्रकाशित होने से उसे महाभाव कहते हैं ऐसा भक्ति शास्त्र में कहा है। जन्म भर साधन करके साधक लोग अधिक से अधिक एक दो भावों में सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। (अपनी ओर उंगली दिखाकर) यहां तो एक ही आधार से उन्नीसों * भाव एक जगह पूर्ण रूप से प्रकाशित हैं।"
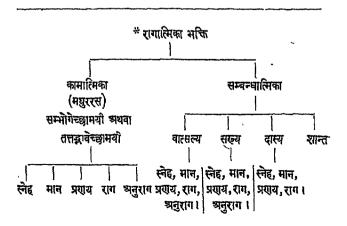
ऊपर बता ही चुके हैं कि श्रीरामकृष्ण के शरीर में प्रत्येक रोम कूप से उस समय श्री कृष्ण विरह की दारूण यातनाओं के कारण बूंद २ रक्त बाहर निकलता था। स्त्रीत्व की भावना उनके रोम २ में इस प्रकार भिद गई थी कि 'मैं पुरुष हूं' यह विचार उनके मन में स्वप्न में भी नहीं आता था, और उनके शरीर और इन्द्रियों के सभी कार्य स्त्री शरीर के समान ही होने लगे।

महाभाव में ऊपर बताये अनुसार कामात्मिका और सम्बन्धात्मिका दोनों प्रकार की भक्ति के उन्नीसों अन्तर्विभागों का एकत्र समावेश होता है। श्रीरामकृष्ण ने यहां पर इसी का निर्देश किया है। उनके ही मुँह से हमने यह सुना है कि स्वाधिष्ठान चक्र वाले भाग के सभी रोमकूपों से उन दिनों प्रति मास नियत समय पर शोणितस्राव होता था, और वह स्त्रियों के समान तीन दिनों तक जारी रहता था! उनके भाजे हृदयनाथ ने हमें बताया है कि "ये सब बातें मेरी आँखों से देखी हुई हैं। उन दिनों वे पहने हुए वस्त्र को दूषित होने से बचाने के उद्देश से कौपीन धारण करते थे यह भी मैंने देखा है।"

वेदान्तशास्त्र का सिद्धान्त है कि मनुष्य का मन ही उसके शरीर को तैयार करता है, वह (शरीर) तीव्र वासना और इच्छा की प्रबलता से जीवन के प्रतिक्षण में बदलता रहता है। श्रीरामकृष्ण के साधनकाल में उनकी भावनाओं की उत्कटता के कारण उनकी देह में उत्पन्न होने वाले ये परिवर्तन इस वेदान्तिक सिद्धान्त के उत्तम उदाहरण हैं। श्रीरामकृष्ण और पूर्व कालीन ऋषियों के आध्यात्मिक अनुभवों तथा उपलब्धियों की तुलना करके ही पद्मलोचन आदि प्रसिद्ध पण्डित कहते थे "आपके अनुभव और आपकी उपलब्धियाँ वेद पुराणों को पीछे छोड़कर और भी आगे बढ़ गई हैं!" अस्तु—

उन्हें श्रीमती राधा का दर्शन और उसकी कृपा होने के बाद ही सच्चिदानन्दघन भगवान् श्री कृष्ण के शीघ्र दर्शन का लाभ हुआ। वह श्री कृष्ण

मूर्ति निल के समान उनके शरीर में प्रविष्ट हो गई। इस दर्शन के पश्चात् दो तीन महीनों में दक्षिणेश्वर में परमहंस श्रीमान् तोतापुरी का आगमन हुआ। उनकी देखरेख में श्रीरामकृष्ण वेदान्तोक्त अद्वैतभाव के साधन में निमग्न हुए। उन्होंने इसके बीच के समय को मधुरभाव में तन्मय होकर ईश्वर प्रेम के माधुर्य का आस्वादन करने में बिताया। हमने उनके मुँह से सुना है कि वे इस समय श्री कृष्ण चिन्तन में इतने मग्न और तन्मय रहते थे कि उन्हें अपने पृथक् अस्तित्व की पूरी विस्मृति होकर "मैं ही स्वयं श्री कृष्ण हूं" ऐसा बोध हुआ करता था; और बीच २ में, उन्हें इस संसार की सभी चराचर वस्तु श्री कृष्ण स्वरूप से प्रत्यक्ष दिखाई देती थी! आगे चलकर एक दिन उन्हें दक्षिणेश्वर के बगीचे में टहलते समय एक घास का फूल मिला। उसे वे अत्यन्त उत्कण्ठा से हमें दिखाकर बड़े हर्षपूर्वक बोले, "मधुरभाव साधन के समय मुझे जो श्री कृष्ण मूर्ति दिखाई देती थी उसके शरीर का रंग इसी फूल के रंग के समान था!"

यौवन के आरम्भ में वे कमारपुकूर में थे। उसी समय से उनके अन्तः-करण में प्रकृतिभाव की प्रबलता के कारण, उन्हें कभी २ यही इच्छा हुआ करती थी कि व्रजगोपियों ने स्त्री शरीर पाकर अपने उत्कट प्रेम से सच्चिदानन्द श्री कृष्ण को पतिरूप से पाया था। इससे उन्हें ऐसा लगता था कि "यदि मैं स्त्री होता तो उन गोपियों के समान श्री कृष्ण की पतिभाव से भक्ति करके मैं भी श्री कृष्ण को प्राप्त कर लेता। मेरा यह पुरुष शरीर श्री कृष्ण प्राप्ति के मार्ग में ज़बरदस्त बाधा है।" उन्हें ऐसा लगता था कि "यदि भविष्य में पुनः जन्म लेने की बारी आ जाय, तो किसी ब्राह्मण के घर में अत्यन्त सुस्वरूप दीर्घकेशी बाल विधवा का जन्म लूंगा, और श्री कृष्ण के सिवाय अन्य किसी को भी पति नहीं समझूंगा! निर्वाह योग्य अन्न और वस्त्र हो, एक छोटा सा घर हो, जिसकी चारों ओर थोड़ी सी ज़मीन रहे। मैं उस ज़मीन में चार पांच तरह की तरकारी-भाजियाँ उत्पन्न कर सकूं, घर में एक दूध देने वाली गाय हो, जिसकी सभी सेवा शुश्रुषा मैं स्वयं

करूं और उसे दुह भी सकूं; उस घर में एक सूत कातने का चरखा रहे जिससे दिन के प्रकाश में घर का सब काम निपटाकर सूत कातते २ श्री कृष्ण के भजन गाऊंगा, और सांझ होने पर उस गाय के दूध से तैयार की हुई खीर आदि को अपने हाथ में लेकर श्री कृष्ण को खिलाने के लिये एकान्त में बैठकर अत्यन्त व्याकुलतापूर्वक रोते २ उसकी पुकार करूं। श्री कृष्ण को भी मुझ पर दया आयगी, और वह बालक वेष में आकर मेरे हाथ के उन पदार्थों को ग्रहण करेगा; इस तरह वह नित्य-प्रति, किसी दूसरे को अवगत हुए बिना ही आकर मेरे हाथ से खाने के पदार्थ चुपके से ले लिया करेगा!" यद्यपि श्रीरामकृष्ण के मन की यह अभिलाषा इस रूप में पूर्ण नहीं हुई, तथापि वह मधुरभाव के साधनकाल में पूर्वोक्त रीति से पूर्ण हो ही गई।

मधुरभाव साधनकाल में श्रीरामकृष्ण को प्राप्त होने वाली दर्शन की बात बताकर विषय का उपसंहार करेंगे। उस समय एक दिन वे विष्णु मन्दिर में श्रीमद्भागवत सुन रहे थे। सुनते २ उन्हें भावावेश में श्री कृष्ण की ज्योतिर्मयी मूर्ति का दर्शन हुआ। उस मूर्ति के चरणकमलों से किसी धागे के समान दो ज्योतियाँ बाहर निकलीं। उनमें से एक तो उस भागवत की पोथी को स्पर्श करके रह गई, और दूसरी उनके वक्षःस्थल में चिपककर रह गई! वे दोनों ज्योतियाँ कुछ समय तक वैसी ही स्थिति में रहीं!

वे कहते थे—" इस दर्शन से मेरे मन में ऐसी दृढ़ धारणा हो गई कि यद्यपि भागवत, भक्त, और भगवान् ये भिन्न २ पदार्थ दिखाई देते हैं तथापि वे यथार्थ में एक ही हैं। भागवत (शास्त्र), भक्त और भगवान् ये तीनों एक ही हैं। एक ही के तीन रूप हैं!!"

प्रथम भाग समाप्त

नामानुक्रमणिका

ब

भ

म

य

र

द्वितीय भाग की रूपरेखा।

द्वितीय भाग लगभग इतना ही बड़ा होगा। उसमें अनेक रोचक प्रसंगों तथा श्रीरामकृष्ण की अलौकिक लीलाओं का वर्णन होगा। पुस्तक के कुछ प्रकरण यह होंगे।

१. श्रीरामकृष्ण का वेदान्तसाधन।
२. इस्लामधर्म साधन।
३. खिस्तीधर्म साधन।
४. तीर्थयात्रा।
५. हृदयराम का कुछ शेष वृत्तान्त।
६. स्वजनवियोग।
७. केशवचन्द्र सेन से प्रथम भेट।

गुरुभाव

१. श्रीरामकृष्ण का अवतारकृत्य।
२. उनकी शिष्यपरीक्षा।
३. उनकी शिक्षण पद्धति।
४. उनकी बालवृत्ति।
५. उनका वैराग्य।
६. उनका कामकंचनत्याग।
७. उनके अद्वैत ज्ञान का गाम्भीर्य।

८. ब्राह्मसमाज और श्रीरामकृष्ण ।

९. उनके पास भक्त मण्डली का आगमन ।

१०. नरेन्द्रनाथ का अल्प परिचय ।

११. श्रीरामकृष्ण और नरेन्द्रनाथ ।

१२. पानिहाटी का महोत्सव ।

१३. अस्वास्थ्य का प्रारम्भ ।

१४. श्रीरामकृष्ण का औषधोपचारार्थ कलकत्ते में आगमन ।

१५. श्यामपुकूर में वास्तव्य ।

१५. काशीपूर में वास्तव्य ।

१६. महासमाधि ।

इसके अतिरिक्त इस भाग में ३।४ सुन्दर फोटो भी रहेंगे ।